भारतकी अध्यात्ममूलक संस्कृति

अर्थात्

जाग्रत जीवन

श्री रामावतार विद्याभास्कर

ब्रह्मविद्याग्रन्थमालाका चतुर्थ ग्रन्थ

भारतकी अध्यात्ममूलक संस्कृति

अर्थात्

जाग्रत जीवन

(प्रथम भाग)

लेखक

विद्याभास्कर श्रीरामावतारशास्त्री, वेदान्ततीर्थ मीमांसारत्न

मनुष्यजीवनका लक्ष्य, सत्य, अहिंसा, आदर्शपरिवार, ईश्वरभक्ति, शिक्षकोंका मार्गदर्शक, ग्रामसुधार, बाल-जागरण, बाल-प्रश्नोत्तरी, जीवनसूत्र, भावसागर, भक्ति, स्वतन्त्रताके सिद्धान्त, समाजवाद आदि स्वतन्त्र ग्रन्थोंके लेखक तथा गीतापरिशीलन, नारदभक्तिसूत्र, पंचदशी, बोधसार, गौडपादकारिका, उपदेशसाहस्री, सनत्सुजातसंवाद, वाक्यसुधा योगदर्शन उपनिषद् आदि अनेक ग्रन्थोंके भाषान्तर तथा व्याख्याकार ।

मिलने का पता :-
विद्या भवन
पुस्तक विक्रेता
हजरतगंज, लखनऊ

प्रथम बार २०००] २००७ वि० [मूल्य ३)

प्रकाशक

बुद्धि सेवाश्रम
पो० रतनगढ़, जि० बिजनौर
(उत्तर प्रदेश)

मुद्रक

ओम्प्रकाश कपूर
ज्ञानमण्डल यन्त्रालय
काशी, ३७४१-०७

पृष्ठभूमि

आजका मानव प्रकृतिका विजेता बननेकी धुनमें मस्त है। वह प्राकृतिक रहस्योंका पण्डित बन जानेमें तो गौरव अनुभव कर रहा है, परन्तु वह प्रकृति विजयी बननेकी धुनमें प्रकृतिका दास बन रहा है और अपनी कर्त्तव्यशक्तिको व्यर्थ खो रहा है। दुर्भाग्यसे उसे अपने आत्मगौरवके विषयमें कुछ भी परिज्ञान नहीं कि वह स्वयं कौन है, कैसा है और कितना है? नहीं तो वह ऐसा न करता। आजका मानव उद्देश्यहीन लक्ष्यभ्रष्ट ऐसा यात्री है जो अपनी यात्राका लक्ष्य ज्ञात न होनेपर भी यात्रा करता चला जा रहा है और मद्यपोंके समान अविद्यामदिरापानसे मत्त होकर व्यवहारभूमिमें लड़खड़ाते लक्ष्यघाती असंगत अशान्तिजनक पैर डाल रहा है। वह जो कुछ कर रहा है सब गतानुगतिक परम्पराका अनुकरणी होकर कर रहा है। क्योंकि संसारका बहुमत ऐसा कर रहा है इसलिए वह भी बहुमतावलम्बित कार्योंमें झूझ रहा है। संसारका बहुमत सदा ही अज्ञानी, अनुकरणमार्गी, वास्तविकताका विचार न करनेवाला, अपने स्वरूप, लक्ष्य तथा जीवननीतिका कोई ध्यान न रखनेवाला मेषमनोवृत्ति-से जीवनके दिन काटनेवाला बनकर रह रहा है। अज्ञानी मनुष्यके मनकी यह बड़ी दयनीय दशा है जिसकी ओर उसका ध्यान जाना और जाननेवालोंको दिलाना चाहिये। मनुष्यके उपर्युक्त बातोंकी ओर ध्यान न देनेसे बात सर्वथा विपरीत हो गई है। जिसे स्वामी बनकर रहना चाहिये था वह तो दास बन गया है और जो दास था वह स्वामी बन बैठा है। संसार मनुष्यके लिये था, वह मनुष्यका अंग था परन्तु मनुष्यके अज्ञानसे मनुष्य तो संसारका अंग बन गया है और संसार उसका अंगी बन गया है। दूसरे शब्दोंमें वह संसारका सम्राट् बननेके स्थानपर उसका भिखारी बन गया है। इस विपरीत स्थितिसे उसका उद्धार होना आवश्यक है। इस कामके लिए उसे सच्ची शिक्षाकी आवश्यकता है।

अपने हृदयमें पूर्णताको प्रतिष्ठित करके सारे दृश्यमान संसारसे अपनी

पूर्णताकी नीराजना करके पूर्ण मनुष्य बनकर पूर्णतारूपी अमृतका स्वाद लेना भारतकी शिक्षा प्रणालीका आदर्श रहा है। परन्तु आर्य संस्कृतिहीन मनुष्य अपने मनमें भोगोंकी प्यास नामवाले भेड़ियेकी भूक लगाकर निर्बलका भेड़िया सबलका आखेट तथा भोगोंका कीडा बन बैठा है और अपने हाथों अपनी मनुष्यताका संहार करनेमें अपना समस्त बुद्धिवैभव व्यय कर रहा है। अपने जीवनमें मन वाणी कर्म तीनोंमें सत्यको प्रकट करके रखना भारत का आदर्श रहा है। आकर्षण विकर्षण अवसाद उत्तेजना हर्ष विषाद उत्साह अनुत्साह आलस्य आदि मनुष्यता विनाशक प्रतिकूल परिस्थितियोंसे दिनरात घिरे रहनेवाले मानव जीवनको सुमार्गपर रखना भारतका आदर्श रहा है। भारतमें पापीसे पापी मनुष्योंके पैदा होते रहनेपर भी मनुष्यको अपने आराध्य सत्यमें विलीन कर देना ही भारतका लक्ष्य या आदर्श रहा है। उसके शरीर मन वाणी तीनोंका समविकास करना भारतीय सभ्यताका ध्येय रहा है। प्रत्येक मनुष्य शरीर मन और बुद्धि लेकर उत्पन्न होता है। संसारके सब मनुष्य सुख चाहते हैं। सुख भौतिक आध्यात्मिक भेदसे दो प्रकारका होता है। जिसके मनमें जैसे सुखकी चाह होती है वह अपने शरीरको अपनी बुद्धिके अनुसार वैसा सुखोपार्जन करनेवाले कामोंमें लगाता है। यों मानव-जीवनका मुख्य नेतृत्व उसकी बुद्धि, उसकी धारणा, उसकी विचार परम्परा और उसकी संस्कृतिके ऊपर निर्भर कर जाता है। शरीरसे मनुष्य और पशु-की पहचान नहीं होती। मनुष्य शरीरमें भी बहुतसे पशु होते हैं। जैसे पशुके मनमें केवल भौतिक सुख भोगनेकी इच्छा होती है वैसे बहुतसे मनुष्योंमें भी यही एकमात्र इच्छा रहती है। मनुष्यमें भौतिक सुखेच्छायें होनेपर भी उनका मनुष्यतामें सदुपयोग हो सकता है यही आर्य संस्कृतिसे सीखनेकी कला है। जो जिसकी विशेषता है वही उसका लक्ष्य है। भौतिक सुखेच्छा क्योंकि मानव जीवनकी विशेषता नहीं है इसलिये वह मानव जीवन-का लक्ष्य भी नहीं है। इसलिये भी नहीं है कि भौतिक सुखोंसे उसके मनकी मनुष्यताकी प्यास नहीं बुझ पाती। प्रत्युत भौतिक सुख भोगोंसे भोगका ऐसा दावानल भड़क उठता है कि वह इस सारे संसारको पाकर भी बुझना नहीं चाहता!

यदि मनुष्य भौतिक सुखोंको ही जीवनमें प्राधान्य मान ले और अपनी बुद्धि इसी काममें लगा डाले तो वह अपने आपको बुद्धिमान् पशु बना सकता है। यदि वह ऐसा करे तो वह मनुष्य नहीं रहेगा। इसलिए नहीं रहेगा कि पशुतासे बचकर रहना ही तो मनुष्यता है। पशुताका विकास मनुष्यके अज्ञानमेंसे है। अज्ञान पशुकी विशेषता है। अज्ञानको हटा देना ही ज्ञान है। ज्ञान अज्ञान दोनों एक साथ नहीं रह सकते। जिसने अज्ञानको हटानेवाला ज्ञान पा लिया उसका जीवन धन्य हो गया। ज्ञान ही मनुष्यकी विशेषता है।

ज्ञान मनुष्यकी कोरी कल्पना ही कल्पना नहीं है। ज्ञानके साथ मनुष्यके व्यावहारिक जीवनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि ज्ञानके साथ मनुष्यके व्यावहारिक जीवनका सम्बन्ध न होता तो मनुष्यका व्यावहारिक जीवन अज्ञानपूर्ण हो जाता तथा ज्ञान उसके व्यावहारिक जीवनसे बहिष्कृत हो जाता जो सर्वथा असगत होता। ज्ञान मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें काम आनेवाली वस्तु है। स्वरूप ज्ञान ही ज्ञानका यथार्थ स्वरूप है। स्वरूप ज्ञान ऐसा ज्ञान है कि इसको स्वीकार कर लेनेपर मनुष्यसमाजमें साम्प्रदायिक मतोंका अवसर नहीं रहता। स्वरूप ज्ञानके भीतर संसारभरके ज्ञान विलीन हो जाते हैं।

ज्ञान अज्ञानका वास्तविक स्वरूप यही है कि ज्ञान शान्तिका रक्षक है और अज्ञान शान्तिका भक्षक है। ज्ञानका श्रवण तथा कीर्तन मनुष्यसमाजका इसीलिए प्यारा है कि वह (ज्ञान) मनुष्यसमाजकी शान्तिको सुरक्षित रखनेवाला परमहितकारी भाव है। इसके विपरीत अज्ञान मनुष्यका इसलिए अप्रिय बना है कि वह मनुष्यसमाजकी शान्ति हरनेवाला परम अकल्याणकारी शत्रु है। यदि ज्ञान अज्ञानका यह वास्तविक स्वरूप न होता तो मनुष्यसमाज ज्ञान अज्ञानके विषयमें निश्चित रूपसे उदासीन रहता। मनुष्य ज्ञानाज्ञानोंके सम्बन्धमें इसीलिए उदासीन नहीं है कि ज्ञान अज्ञानोंके साथ उसकी शान्ति अशान्ति सम्बद्ध हैं। यदि ज्ञान अज्ञान शान्ति अशान्तिके उत्पादक न होते तो ज्ञानको प्रिय तथा अज्ञानको अप्रिय माननेका कोई कारण न रहता। यदि ज्ञान मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें अनुपयोगी निष्क्रिय स्थितिमात्र होता तो ज्ञान मनुष्यमात्रके किसी भी कामकी वस्तु न रहता। इसीलिए गीतामें ज्ञानको कर्म करनेकी कुशलता बताया है। अर्थात् कर्मकी दिशा ठीक रखना

ज्ञानका काम है। ज्ञान कल्याणकारी मनोदशा है। जो कल्याणकारी मनोदशा मनुष्य समाजको अपने भौतिक देहकी जीवितावस्थासे भी अधिक प्यारी है वही सत्यज्ञान है। जो ज्ञान समाजमें शान्ति सुरक्षित रखनेवाला होता है वही समाजके पृथक् पृथक् प्रत्येक अंगको बलवान बनाकर सारे समाजको शान्ति दे सकता है। समाजका प्रत्येक मनुष्य समाजपरिवारका अंग है। प्रत्येक परिवार एक-एक समाज है। यदि परिवारोंका प्रत्येक मनुष्य अपने अपने परिवारमें शान्ति बनाये रखनेकी कलाको जीवनमें प्रतिफलित करना सीख ले तो सारा समाज स्वयंमेव अनायास ज्ञानी बन जाय। जो परिवारमें शान्ति रख सकता है वही समाजमें शान्ति रख सकता है। जो अज्ञानी मनुष्य अपने समाजकी शान्ति हरता है वह अपने परिवारमें भी सच्ची शान्ति सुरक्षित नहीं रख सकता। उदाहरणके रूपमें प्रह्लाद, विभीषण तथा वसुदेवको दुःख देनेवाले हिरण्यकशिपु, रावण तथा कंस लिये जा सकते हैं। अपने परिवारमें शान्ति न रखनेवाले ये लोग समाजकी शान्तिके भी परम शत्रु थे। ज्ञानसे मनुष्य संसार भरका परमहितकारी मित्र बन जाता है।

ज्ञानसे मनुष्य संसार भरका परमहितकारी मित्र बन जाता है। जिस दिन मनुष्यके चिरमुद्रित ज्ञानचक्षुका उन्मीलन होता है उस दिन उसे जन्मान्धको हुए अकस्मात् सूर्यदर्शनके समान साश्चर्य यह दीखता है कि वह स्वयं ही इस संसारकी सबसे महत्त्वपूर्ण सत्ता और समस्या है। उसका अपने आपको विश्वव्यापी, विश्वात्मा विश्वबुद्धिगुहाशय विश्वातीत, विश्ववेत्तारूपमें पहचान जाना संसारकी असाधारण घटना है और यही उसका संसारभरको समझ जाना भी है। उसका अपने इस वास्तविक रूपको न समझना किसीको भी न समझ पाना है। मनुष्य दूसरोंको न समझकर ही उनसे अनुचित वर्ताव करता है। स्वरूपज्ञानी मनुष्य पाठ्य महाग्रन्थके रूपमें अपने सामने खुले पड़े हुए इस समग्र संसारग्रन्थको पढ़ चुका होता है। उसका संसार भरमें कुछ भी अनधीत नहीं रहता। संसारकी कोई वस्तु उसे अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती। स्वरूपको समझे बिना संसारका तिनका भी मनुष्यकी समझमें नहीं आता और वह आँखोंके सामने आनेवाली संसारकी प्रत्येक वस्तुके साथ भोगके सम्बन्धमें बँधता और उलझता

चला जाता है। मनुष्यके समस्त सुख दुःख इस समस्याके सुलझाने न सुलझानेके ही ऊपर निर्भर करते हैं। मनुष्य प्रमादसे इस समस्याको जिसे सुलझाये बिना मनुष्यके जीवनपथने कभी प्रशस्त होना ही नहीं है, अनिर्णीत तथा उपेक्षित कोटिमें डालकर अपने सिर दूसरी-दूसरी उधारी अनावश्यक महत्वहीन समस्यायें सुलझानेका भारी बोझ उठा लेता और उनसे क्लेश पाता रहता है। वे सब ऐसी हैं कि उन्हें उपेक्षापक्षमें डाल देनेमें ही मनुष्यके जीवनमें तेज आता है। ये सब समस्यायें उधारी हैं। सत्यसुखार्थी मनुष्यको इन पराये उधारे बोझोंके नीचेसे निकलना ही होगा और कभी-न कभी स्वरूपकी छत्रछायामें आना ही होगा। मनुष्यका उद्धार स्वरूपपरिचयसे ही होना है।

स्वरूपज्ञान ऐसी अज्ञात आग है जो मनुष्यको बाँध रखनेवाले संसारी बन्धनोंको जला डालती और उसे मुक्त मानव बना देती है। स्वरूपज्ञान मनुष्यके सामने अबन्धक निर्विष संसार लाकर खड़ा कर देता है। वह प्रत्येक समय मनुष्यके कामदग्ध हृदयपर शान्तिवारि छिड़क-छिड़ककर उसे ठण्डाता रहता है। मनुष्यके सामनेसे उसे बाँधने या मोहित करनेवाले सविष संसारको हटाकर उसके सामने अबन्धक निर्विष अनाकर्षक अप्रमाथी अपापोत्तेजक सुनिवृत्ति अहिंसक संसार लाकर खड़ा कर देना स्वरूपज्ञानका मानवजीवनको धन्य करदेनेवाला काम है।

मनुष्यको इस संसारयात्रामें उतरनेसे पहले अपनी यात्रा तथा उसके लक्ष्यके विषयमें पूर्ण परिचय प्राप्त कर लेना अत्यावश्यक है। नहीं तो उसकी स्थिति मेलेकी भीड़में भरमाकर जिसे देखा उसीके पीछे चल पड़नेवाले कुक्कुरकी सी अनिश्चयात्मक होकर दुःखदायी हो जाती है। जैसे किसी योद्धाको किसी युद्धस्थलीमें उतरनेसे पहले अपनी शक्तिका पूर्ण परिज्ञान होना और शत्रुशक्तिसे अपनी शक्तिका संतुलन करना आवश्यक है। क्योंकि कोई भी योद्धा पहले स्वशक्तिका पूर्ण परिचय और फिर उसपर पूर्णाधिकार पाये बिना अनुचित ढंगसे कहीं भी लड़कर विनष्ट हो सकता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य संसारयात्रा प्रारंभ करनेसे पहले अपने, अपनी यात्राके तथा उसके लक्ष्यके विषयमें पूर्ण परिचय प्राप्त किये हुए नहीं होगा, कि मैं कौन हूँ ?

मेरा इस दीखनेवाले संसारके साथ क्या सम्बन्ध है ? मैं इस संसार यात्राको क्यों प्रारम्भ कर रहा हूँ ? इस यात्राका स्वरूप क्या है ? मेरी यह यात्रा कहाँ जाकर समाप्त होनी है ? तो वह कार्याकार्यविवेक करानेवाली स्वरूप-परिचयरूपी कसौटीके पास न रहनेपर जीवन भर पदपदमें भूलपर भूल करता या न करने योग्य कामोंमें हाथ डालता रहेगा और अपने आपको कामभोगोंके ऐसे भँवरमें फाँस देगा जहाँसे उसका अनन्त कालतक भी निस्तारा होनेकी आशा नहीं है । इसलिए संसारमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्यका सबसे पहला काम अपने आपको पहचानना है । अपने आपको पहचानते ही उसे संसारका स्वरूप, यात्राका स्वरूप और उसका लक्ष्य आदि समस्त प्रश्न अपने आप समझमें आ जायेंगे । इसलिए यहाँ मनुष्यके स्वरूपके विषयमें आंशिक विचार करना प्रसंगोचित है ।

संसारका मनुष्यसमाज सदासे विचारशील तथा अविचारशील दो समूहोंमें विभक्त होता चला आरहा है । इसलिए होता चला आरहा है कि मनुष्यमें इन्द्रिय तथा मन दो तत्त्व हैं । इन्द्रियोंके आकर्षण उन विषयोंकी ओर हैं जिनके समान उपादानसे इन्द्रियाँ बनी हैं । मनका झुकाव आत्मा या अमरसुखकी ओर है । क्योंकि आत्मा ही मन बना है । इसलिए वह भी अपने उपादानकी ओर आकृष्ट रहता है । इन्द्रियोंका मुख बाहरकी ओर है । वे विषयोपादानोंसे बननेके कारण विषयोंकी ओर झुकती हैं । वे मनुष्यके ज्ञानको दिनरात विषयभूमियोंमें बखेरती रहती हैं । वे उसका ज्ञानद्रव्य चुरा चुराकर बाहर फेंकती रहती हैं । अविचारी मानव इन्द्रियोंकी बहिर्मुखताके साथ वह निकलता है । उनके साथ इस प्रकार बह निकलनेवाले लोग अविचारशीलताके कारण भोगासक्त बन जाते हैं । मनुष्यको अपनी इन्द्रियोंके इस प्रवाहको रोक-कर स्वरूपसंपन्न होकर आत्माके अमरसुखकी ओर झुकना है । आत्माके अमर-सुखकी ओर झुकनेवाले लोग ही विचारशील होते हैं । वे संसारकी महत्त्वपूर्ण सत्ताको अपने अनुभवकी पकड़से सुदृढ़ पकड़ लेते हैं कि फिर कभी नहीं छोड़ते ।

मनुष्य जड चेतन दो पदार्थोंके मिश्रणसे बना है । वह चिज्जडग्रन्थि है । चैतन्यता तथा जडमें जो गाँठ लग गई है वही मनुष्य बन गई है ।

इस ग्रन्थिके कारण चैतन्यके धर्म जड में और जडके धर्म चैतन्य में प्रतीत होने लगे हैं। मनुष्यको नीरक्षीरविवेकी हंसके समान अपने हृदयमें लगी हुई यही गाँठ खोलनी है और चैतन्य तथा जड दोनोंको अलग अलग करके बैठा देना है। मनुष्यमें इस ग्रन्थिके कारण जडात्मक तथा ज्ञानात्मक दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियाँ आगई हैं। उसका देह जडात्मक है। शरीरसे वह पशु है और मनसे वह मनुष्य है। इसीसे उसमें पाशविक तथा आध्यात्मिक दोनों प्रकारकी परस्परविरुद्ध शक्तियाँ काम कर रही हैं। उसकी इन्द्रियाँ भोग चाहती हैं और उसका मन शान्ति चाहता है। मनुष्य इन दो इच्छारूपी अनवरत सुलगती हुई आगोंवाली प्रदीप्त भट्टीके मध्यमें बैठा है। आगोंके मध्यमें बैठना और उनमें भस्म न होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखना यह एक गंभीर उत्तरदायित्व मनुष्यपर आ गया है। मनुष्यके आत्माके भोग-मन्दिर शरीरके भीतर बैठकर भोगातीतताका दिव्यआनन्द भोगनेकी स्वाभाविक आन्तरिक गुप्ततम अभिलाषाने मनुष्यके सामने आठ पहर संयमको समस्या उत्पन्न कर डाली है और इसी समस्यामेंसे स्वरूपान्वेषणका मार्ग ढूँढ़ निकाला है। मनुष्यकी पशुसुलभ शारीरिक शक्तियें या उसकी दैहिक उत्सुकतायें उसकी अभोगात्मक या त्यागात्मक आध्यात्मिक प्रवृत्तियोंको कुचलकर उसे भोगके कीचड़में सान देना चाहती हैं। दूसरी ओर उसमें आध्यात्मिक प्रवृत्तियें भी चुप नहीं बैठी हैं। वे भी उसकी दैहिक पाशविक प्रवृ-त्तियोंको उपेक्षापक्षमें डाल देना चाहती हैं और उसे आत्मामृत पिलाकर तृप्त कर देना चाहती हैं। मनुष्यकी पाशविक प्रवृत्तियें उसे इन्द्रियोदरपरायण बना देना चाहती हैं। वे उससे भोजन भोगादिकी सुविधाके लिये चेष्टा उद्यम कलह और कोलाहल करवा करवा कर उसकी जीवनलीलाको व्यर्थतामें समाप्त कर देना चाहती हैं। पाशविक प्रवृत्तियोंसे प्रतारित मनुष्य नहीं सोच पाता कि देहेन्द्रियाधीनता रूपी भोगानुगमन भोगान्वेषण तथा भोगप्रतिद्वन्द्विता में कौनसा महत्त्व है और इससे उसे क्या मिलना है? उसे जानना चाहिये कि भोगानु-सरण भोगान्वेषण तथा भोगचूषणके काम तो पशु भी कर लेता है। यह मनुष्य-की पशु समान प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्तिमें मानवीय योग्यताका तिलमात्र भी उपयोग नहीं है। पशु भी तो आठों पहर इसी जीवनव्यापी भोजन भोगात्मक

पशुधर्ममें लगा रहता है। भोगमें मनुष्यकी मनुष्यताका कोई उपयोग नहीं होता। भोग पशु-धर्म है। त्याग मनुष्य-धर्म है। मनुष्यकी मनुष्यताका उपयोग त्यागमें ही होता है। जब वह सर्वभूतात्मदर्शनके नामपर समाजके लिये अपना स्वार्थ छोड़कर समाजसेवा अर्थात् समाजके मानसिक उत्थानकी सेवाके नामपर अपनी व्यक्तिगत अभिलाषाओं या भोगेच्छाओंको त्यागता है तब ही उसमें मनुष्यताका विकास होता है। मानव हृदयमें इन दोनों धर्मों-का अनादिकालीन झगड़ा चला आ रहा है। मानवका हृदय अनादिकालसे इन दोनों झगड़ोंकी संग्राम भूमि बना हुआ है। भोग और त्यागका झगड़ा ही देवासुरसंग्राम है। इस संग्राममें अन्तिम विजय देवोंको ही मिलनी है। मनुष्यको कभी न कभी वास्तविकता समझनी ही पड़ेगी। जो बात अन्तमें कभी न कभी करनी ही पड़ेगी उसे आज सहर्ष करनेमें ही मनुष्यका कल्याण है। पशु धर्म तथा मनुष्य धर्मके संग्राममें मनुष्यताको पराजित न होने देना प्रत्युत उसे विजयी बनाकर रखना शिक्षाका उद्देश्य है। शिक्षाको मनुष्यको वह स्थिति देनी है जिसमें उसकी मनुष्यता या उसकी अपशुसुलभ मानवीय योग्यताका पूरा-पूरा विकास और उपयोग हो। मानवधर्म भोगसे बहुत ऊँचा है। मानवधर्मकी यह ऊँचाई अनुभवैकवेद्य है। इसे कोरी बातोंसे समझाना असम्भव है। वह केवल करके देखनेकी विद्या है। त्याग ही मानव धर्म है। त्याग ही मानवताको अपराजित रख सकता है। इस पुस्तकके प्रत्येक पाठमें शिक्षाके उद्देश्य मनुष्यताको जाग्रत अपराजित तथा विजयशील रखने-वाले त्यागमय उपायोंपर प्रकाश डाला गया है।

मनुष्यको ज्ञान बाहरसे नहीं लाना है। वह स्वयं ही ज्ञानका महाभण्डार है। परन्तु यह भण्डार देहभाव उत्पन्न करनेवाली अज्ञानरूपी राखसे ढँका पड़ा है। शिक्षकका काम मनुष्यके अज्ञानाच्छादित ज्ञानभण्डारको भीतरसे बाहर लाकर उसे प्रकट रूप देना है। मनुष्यका ज्ञान मनुष्यके ही अज्ञानसे ढका हुआ है। दहकते कोयलेसे निकलकर उसे ही ढक लेनेवाली राखके समान या पर्वतोत्पादित होकर भी पर्वताच्छादक घासके समान उसीके अज्ञानने उसीको ढक लिया है। मनुष्यका अज्ञान उसीको ढकनेवाली उसीकी माया है। माया मनुष्यकी शक्ति है। माया आँखमिचौनीके खेलकी भाँति अपने नाथको धोखा

देकर उसकी आँख बन्द करके खड़ी होकर अपने निराले ढंगसे उससे पूछती है कि बता मैं कौन हूँ ? शक्ति सदा ही अन्धी और प्रमाथी होती है। वह चंचलतम अश्वके समान शक्तिमान्‌को प्रमादी या असावधान पाते ही उसके ऊपर चढ़ बैठती है। शक्तिमान्‌को अपनी शक्तिपर वश प्राप्त करके शक्तिमान् बने रहनेके लिए बड़ा सावधान रहना पड़ता है। इसलिए रहना पड़ता है कि शक्ति शक्तिमान्‌के वशके बाहर होते ही स्वामीकी हत्या कर डालती और अशक्ति बन जाती है। शक्तिका लाड या उपेक्षा साँपोंसे खेलनेके समान भयंकर अनिष्ट किये बिना नहीं मानता। शक्तिसे काम लेना सावधानोंका ही काम है। वह असावधानोंका सर्वनाश करके छोड़ती है। इसलिए मनुष्य-को अपनी तथा अपनी शक्तिकी स्थितिको तथा उसकी अपनी दोनोंकी कर्म-भूमियों या अधिकार क्षेत्रोंको ठीक ठीक समझकर रहना चाहिये। उसे शक्तिमान् बने रहनेके लिए अपनी शक्तिपर वशीकार रखना चाहिये। परन्तु अनभिज्ञ मनुष्य असावधानीके कारण अपनी मायाको अपने सिरपर चढ़ा लेता है।

काल्पनिक द्वन्द्व ही मायाका स्वरूप है। जो नहीं है जो नहीं रहना है वही बनकर बनानेवाले महाशयको काल्पनिक द्वन्द्वोंकी ओटमें छिपाकर अपने मनुष्य नाथके सामने खड़ी हो जाती है और उसके विवेकको ललकारा करती है। ये सब द्वन्द्व द्वन्द्वातीत अखण्ड सच्चिदनन्द गुप्त आत्माको बाहर लाकर उसका स्वागत करनेके लिए हो रहे हैं। मनुष्यकी माया ही ये सब द्वन्द्व कर रही है। अज्ञानी मनुष्य इस दृश्यमान लीलाको किसी दूसरेकी लीला समझकर धोखेमें फँस जाता है। उसे जानना चाहिये कि यह समस्त दृश्यमान संसार मेरी ही माया, मेरी ही लीला, या मेरी ही मायाकी लीला है। यदि मनुष्य यह समझ जाता तो उसका भ्रमका भूत कभीका भाग जाता। माया तो अपने नाथको लीलातीत होनेका अवसर देनेके लिए लीला दिखा रही है, परन्तु अज्ञानी उसके इस ध्यानैकगम्य पवित्र अभिप्रायको नहीं समझ पाता। जैसे अग्नि और उसकी दाहिकाशक्ति अभिन्न हैं उसी प्रकार आत्मा और उसकी मायाशक्ति अभिन्न हैं। इस अभेदात्मक स्थितिके होते हुए भी इसके मध्यमें उसीकी मायाने अज्ञानरूपी पट टाँगकर भेद पैदा कर लिया है।

उसने उस भेड़का वध करनेके लिए हाथमें ज्ञानरूपी शस्त्र पकड़ लिया है। वह अनादिकालसे ज्ञानरूपी शस्त्रसे अज्ञानरूपी काल्पनिक पटको फाड़नेमें लगी हुई है। वह पहले तो अज्ञानरूपी पट बुनकर प्रस्तुत करती है और फिर उसे फाड़कर अपने नाथको आत्मदर्शनका अवसर देती है। वह पहले आत्म-दर्शनके विघ्न बनाती है और फिर उन्हें हटाकर विघ्नविजयका हर्ष अनुभव कराती है। वह अज्ञानपटको फाड़कर अपने नाथके अज्ञानाच्छादित अखण्ड सच्चिदानन्द रूपका दर्शनस्पर्श संभोग तथा अन्तमें उसीमें तल्लीन हो जानेकी विचित्र लीला अनन्त देशमें अनन्त देहोंमें अनन्त रीतियोंसे अनन्त कालसे करती चली आ रही है। इस लीलाके साथ मनुष्यके आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह स्वयं हिमाचलकी महाशिला-सा स्थायी है। वह स्वयं कुछ भी नहीं कर रहा है। उसका स्वयं कुछ करनेका भ्रम ही भ्रम है। उसका किया समझे जानेवाला सब कुछ उसकी माया कर रही है। जैसे अपने शरीर यन्त्रका संचालन मनुष्य नहीं करता किन्तु उसकी शक्ति उससे बिना पूछे उसके अस्तित्व-मात्रसे अनुप्राणित होती रहकर उसे चलाती या उसके जीवनव्यापार करती रहती है; इसी प्रकार आत्मा इस जगल्लीलाका कर्ता नहीं है किन्तु आत्माकी अघटघटनापटीयसी मायाशक्ति ही उसके अस्तित्वमात्रसे अनुप्राणित होती रहकर सब कुछ करती रहती है। आत्माका अस्तित्व ही कर्तृत्व होता है। आत्माकी विद्यमानतामात्र समस्त लीलाओंका कारण बनता रहता है। स्वयं आत्माका इस लीलाके साथ प्रत्यक्ष कोई सम्बन्ध नहीं है। इस लीलामें आत्मा निर्लेप तथा साक्षीमात्र रहता है। अपने स्वभावकी विवशता ही इस लीलाका एकमात्र कारण है। यह स्वभावकी अनुल्लंघनीय आज्ञासे होती रहती है। यह कबसे हो रही है के प्रश्नका कोई उत्तर नहीं है। मनुष्यको इस लीलाका ओरछोर हाथ आना ही असम्भव है। इस लीलाका सबसे उत्तम नाम आत्माकी माया, ईश्वरकी इच्छा या रामकी मरजी है। क्योंकि संसारकी प्रत्येक घटना इसी लीलाका अंग है इसलिए संसारकी अनुकूल प्रतिकूल प्रत्येक घटनाको रामकी इच्छा मान लेने तथा उस रामकी इच्छाके सामने आनेपर अपनेमें किसी प्रकारका विचलन पैदा न होने देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है। यह लीला शरीरके रहनेतक विषयवासनाका रूप ले लेकर मनुष्यके मनपर प्रत्येक समय

आक्रमण करती रहती है। इस आक्रमणमें भी एक पवित्र भावना काम करती रहती है। वह मनुष्यके ही भीतर विजेता बननेकी सामग्री प्रस्तुत करती रहती है। वह उसे विजेता बननेका अवसर देनेके लिए ऐसा करती है। इस विषय-वासनारूपी काल्पनिक मायाको काल्पनिक ज्ञानखड्गसे बधते रहना ही जीवन है।

मनुष्य अपने ही अज्ञानसे मोहमें पड़ गया है। ज्ञान सभीके पास है। ज्ञान सभीके भीतर है। ज्ञान सभीका अन्तरात्मा है। ज्ञान सभीका सार और स्वरूप है। परन्तु सबका ज्ञान सबके अज्ञानोंकी चादरोंसे ढका जाकर अनुपयुक्त अवस्थामें जा पड़ा है। यह कैसी विचित्र हास्यास्पद लीला हो रही है कि सब अपनेसे ओझल हो गये हैं। सब संसारको जाननेका तो अभिमान करते हैं परन्तु संसार भरके महादर्पण अर्थात् संसारदर्शनके मूल कारण अपने विषयमें निपट अन्धे हैं। सब विषमूर्छित सर्पिणीके समान अपने अज्ञानमें छिपे पड़े हैं। सब संसारवेत्ता बननेका घमण्ड करते हुए भी अपनेसे अपरिचित हैं। सब गलेमें पड़े होनेपर भी विस्मृत कण्ठाभूषणके समान अपने ही सुख रूपको दूसरे दूसरे नाम दे देकर संसारभरमें ढूँढ़ते फिर रहे हैं और उसे वहाँ न पाकर दीनताका क्रन्दन मचा रहे हैं। अज्ञानावरणके कारण इन्हें किसीको भी वास्तविकता नहीं दीख रही है। शिक्षाको प्रत्येक मनुष्यके इस ज्ञानाच्छादक अज्ञानको हटाना है। शिक्षासे नया ज्ञान उत्पन्न नहीं करना, उसे मनुष्यके भीतर सुषुप्त अवस्थामें पड़े हुए सहजज्ञानको जगाकर, प्रस्फुटित करके, देखने, अनुभव करने, प्रयोगमें लाने, उसका आनन्द भोगने तथा अन्तमें अपार उल्लासके साथ उसीमें समा जानेमें मनुष्यकी सहायता करनी है। इस प्रकारके उदार जीवनकी विधि अपने पाठकोंके समक्ष उपस्थित करना ही इस जाग्रत जीवनका उद्देश्य है।

साधारण मनुष्यको संसारके विषयमें बड़ा भ्रम है। वह संसारके पदार्थोंके अलग अलग होनेके भ्रममें उलझकर पदार्थोंके अलगावके आधारसे अपने कर्तव्यकी दिशा बिगाड़ बैठा है। यह दृश्यमान सारा संसार जिसे विचारका अनभ्यासी मनुष्य आपात दृष्टिसे अलग अलग पदार्थात्मक समझता है, अलग अलग पदार्थात्मक नहीं है। यह सबका सब मिलकर

एक व्यक्ति, एक पिण्ड, एक अस्तित्व या एक ही महा इकाई है। इस सारे संसारका सर्वाहम्मानधारी एक ही आत्मा है। जैसे व्यक्ति देहमात्रके लिये सोचता है इसी प्रकार इस सारे विश्वको अहंभावसे देखनेवाला आत्मा विश्वभरके लिये सोचता है। इस विश्वमें एक ही चिन्ता काम कर रही है। संसार भरकी चिन्तायें इसी महा चिन्ताके भाग हैं। प्रश्न होता है जैसे कोई व्यक्ति देहके सुख दुःखकी चिन्ता रखता है, वैसे इस सर्वाहम्मानधारी विश्वात्माको कौन सी समष्टि बातकी चिन्ता है? दूसरे शब्दोंमें ऐसी कौनसी समष्टि चिन्ता है जो संसार भरपर एक समान छाई हुई है? अथवा ऐसी कौनसी वस्तु है जिसे ढूँढनेमें सारा संसार एकसा लगा हुआ है? अर्थात् इस संसारकी समष्टि चिन्ता या मांग क्या है? उत्तर यह है कि मनुष्यका हृदय सारे विश्वका प्रतीक है। मानव हृदयमें जो कुछ हो रहा है वही सारे संसारमें हो रहा है! एक मनुष्य जो कुछ सोच रहा है जो कुछ ढूँढ़ रहा है वही सारा संसार सोच रहा है और उसे ही सारा संसार ढूँढ़ रहा है। संसार अपनी अव्यक्त भाषामें प्रत्येकसे जो कह रहा है वही मनुष्य सोच रहा है। जो एक मनुष्य सोच रहा है वही सारा संसार कह रहा है। संसार विचारोत्पादक है और मनुष्य विचारोंका संग्राहक है। मनुष्य संसारसे अलग नहीं है तथा संसार मनुष्यसे अलग नहीं है। मनुष्य और संसार दोनों मिलकर एक तत्त्व बनता है। दोनोंकी एकही चिन्ता और एकही मांग है। भेद केवल व्यष्टि समष्टिका है। व्यष्टिसे समष्टि चिपटा ही रहती है। व्यष्टि समष्टिसे अलग नहीं होती। व्यष्टि समष्टिका भेद अपरमार्थिक है। मानव व्यष्टिकी पूँछमें विश्वका विराट समष्टि अस्तित्व छिपा और चिपका हुआ रहता है। जैसे गंगाकी लहरके छोटेसे दीखनेवाले अस्तित्वकी पूँछमें जलोंका गंगोतरीसे गंगासागर तथा समस्त समुद्रोंतकका वह महाभंडार प्रत्यक्ष न दीखनेपर भी ज्ञानगम्य अविभाज्य रूपसे चिपका रहता है जो उसे निरन्तर गंगाकी लहर बनाये रखता है। जैसे गंगाकी तुच्छ समझी हुई लहरको यह समझना है कि संसार भरकी जलराशिका अस्तित्व मेराही अस्तित्व है इसलिये मैं छोटी-सी नहीं हूँ किन्तु समस्त जलराशि मेरा ही अस्तित्व है। इसी प्रकार मनुष्यको एक तो यह समझना है कि मानवके छोटेसे दीख पड़नेवाले अस्तित्व

की पूँछमें विश्वव्यापी चेतनाका महाभंडार अविभाज्य रूपसे चिपटा हुआ है जो उसे निरन्तर मानव बनाये रख रहा है। दूसरे उसे यह समझना है कि विश्वव्यापी चैतन्यका विराट् अस्तित्व ही मेरा अस्तित्व है। मैं और वह दो नहीं हैं। इसलिये मैं कोई क्षुद्र अस्तित्व नहीं हूँ। मनुष्यके अस्तित्वके साथ एक वह विराट् अस्तित्व मछलीसे दसों ओर चिपटे हुए जलकी भाँति चहुँदिशि चिपटा हुआ है जो झाँकी लेनेवाले ज्ञानी मनुष्योंको अपनी झाँकी दे रहा है। वही स्वयं संसार और वही स्वयं उसका द्रष्टा दोनों बन गया है। वह संसार बनकर दीखता है और द्रष्टा बनकर उसे देखता है। मनुष्यको यही समझना है कि वह इस संसारसे पृथक् वस्तु नहीं है। साथ ही उसे यह भी समझना है कि यह संसार भी उससे अलग कोई वस्तु नहीं है। मनुष्यको यह भी जान लेना है कि इस विश्वका स्रष्टा या विधाता ही स्वयं विश्व बना है। विश्वरूपमें आये हुए विश्वात्माने विश्वात्मभावका आनन्द लेनेके लिये जो कोटि कोटि दिव्ययन्त्र बनाये हैं वेही मनुष्य नाम पा गये हैं। यहाँ हमने मानवकी महती महत्ता और उसके कारण उसके गंभीर कर्तव्योंके दर्शन किये। यहाँ हमने देखा कि मानव ही संसारकी सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है और आत्मान्वेषण ही संसारका सबसे बड़ा काम है। मानव ही इस संसारकी सबसे महत्वपूर्ण समस्या है। जिसने मानवको पहचाना जिसने मानवके रूपमें संसारके विधाताको लीला करते देख पाया, वह इस संसाररूपी पाठशालाका उत्तीर्ण विद्यार्थी है। ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ते विदुः परमेष्ठिनम्। जिन्होंने मनुष्यमें ईश्वरको पहचाना उन्हींने परमेष्ठीको समझा। जो मानवमें ईश्वरदर्शनकी कला नहीं जान पाया उसे ईश्वरदर्शन नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि मानवहृदय ईश्वरदर्शनका मुख्य केन्द्र है और वह इसी कामके लिए बना है। जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र सर्वलोकाधिपति होते हुए भी अयोध्यामें दर्शन देते थे, इसी प्रकार ईश्वर या सत्यनारायण विश्वव्यापी होनेपर भी मानवमें ही दर्शन देता है। मानवका शरीर, ब्रह्म-नगरी है। इसमें ब्रह्मकोष गुप्त है। मानवका जीवन शतवर्षी महायज्ञ है। आत्मदर्शन ही इस यज्ञकी पूर्णाहुति है। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

व्यक्तिगत चिन्ताओंको तो पशु हृदय भी पकड़ लेता है परन्तु सृष्टिमात्रसे

संबद्ध समष्टि चिन्तायें केवल मानवहृदयमें पकड़ी जाती हैं। जो बात एक मानव हृदयमें प्रतिध्वनित होती है, वही समस्त मानवहृदयोंमें तथा वही समस्त विश्वमें गूँजती होती है। सब मानवोंकी सम्मिलित भावना ही ईश्वरकी वाणी या ईश्वरकी इच्छा होती है। जो विश्वका हृदय समझना चाहे वह इस कामके लिये विश्व भरमें भटकता न फिरे, किन्तु वह मनुष्य के या अपने ही हृदयको पूरा पूरा समझ लें। इसका अर्थ यह हुआ कि मानव हृदयको समझनेसे ही विश्वका रहस्य समझा हुआ हो जाता है। मनुष्य यदि अहंकारका अंधोटा हटाकर देखे तो वह अपने साढ़े तीन हाथके देहके भीतर विश्वभरके रहस्योंको जान सकता तथा विश्वभरके काम करने-वाली समस्त शक्तियोंसे परिचित होने मात्रसे उनपर प्रभुत्व पा सकता है। मानवहृदय संसार भरके तत्वज्ञानपर अधिकार पानेकी ताली है। इसपर अधिकार पानेसे सारा संसार या संसार भरका तत्वज्ञान मनुष्यके अधिकार में आ जाता है। जो इसपर अधिकार प्राप्त करता है उसे यह शान्ति देता है तथा जो इसपर अधिकार प्राप्त नहीं करता किन्तु उसे उच्छृंखल छोड़ देता है उसे यह अशान्त बनाता रहता है। अपने स्वरूपको न समझना ही मनुष्यकी अशान्तिका स्वरूप है। मानवहृदय एक महती शक्ति है जो करने न करने या विपरीत करनेको सब समय उद्यत रहती है। इस शक्तिका सदुपयोग करनेके लिये इसपर वश प्राप्त किये रहनेकी आवश्यकता है। इसके लिये मनुष्यको इस आत्मशक्तिसे पूर्ण परिचित रहनेकी आवश्यकता है। इसलिये है कि शक्ति उचित प्रयोग करने तक ही शक्ति रहती है। उचित प्रयोग न होते ही वह अशक्ति या मारक विष बन जाती है। अपनी हृदय-स्थशक्तिपर इस प्रकारका अधिकार पानेके लिये मनुष्यको मैं और मेरा ये दो बुद्धिदोष हटाने ही पड़ेंगे। जैसे कपासके ढेरको देखकर उसे ओटनेकी चिन्तासे ज्वर चढ़ आनेवाली किसी पागल बुढ़ियाका ज्वर कपासके ढेरको आग लग जानेके समाचारमात्रसे छुट गया था, इसी प्रकार जबतक ज्ञानकी आग मनुष्यके मैं मेरेके ढेरको नहीं फूँक डालेगी और जबतक उसके कानोंमें मैं मेरा फुँकनेका समाचार नहीं पड़ेगा तबतक मनुष्यका मोहज्वर नहीं उतरेगा। अपना मोहज्वर उतारनेके लिये उसे मैं मेरा भुलाना ही होगा।

मैं मेरा हटते ही मनुष्यको विश्वव्यापी आत्मसूर्य दर्शन देगा। इन दोनों बुद्धि दोषोंको हटाये बिना मनुष्यको शान्ति मिलनेका कोई मार्ग नहीं है। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। जिस दिन मनुष्य मैं मेरा मिटाकर चिन्ताके वातावरणको दूर हट कहकर अपने हृदयधाममें घुसेगा उस दिन उसे सारा संसार अपने ही स्वरूपमें दौड़कर आ घुसता दीखेगा। उस दिन उससे अलग कुछ नहीं रहेगा। उस दिन सारा ब्रह्माण्ड अपना ही व्यक्तरूप दीखेगा और सारे ब्रह्माण्डका अनुभव अपना ही अनुभव प्रतीत होने लगेगा। यह दिन मनुष्यके सौभाग्यका सबसे ऊँचा दिन और ज्ञानकी अन्तिम सीमा होगी। उस दिन मनुष्यको दीखेगा कि मैं दूसरोंके साथ जो बर्ताव कर रहा हूँ वह अपनेही साथ कर रहा हूँ। उस दिन उसे अपना व्यवहार सुधारनेके लिये विवश हो जाना पड़ेगा। मनुष्यकी इस विवशता या गतिहीनताको उसकी अभ्रान्ति कहना होगा। क्योंकि मनुष्यका स्वरूप ही संसार बना है इसलिये अपने स्वरूपके विषयमें भ्रम न रहना ही विश्वको जान जाना, सत्यको पहचान जाना, आत्माको पा जाना या ब्रह्मको समझ जाना है। कहाँतक कहा जाय अपना स्वरूप, विश्वव्यापी ज्ञान, विश्वव्यापी सत्य, विश्वव्यापी आनन्द, ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सबके सब मानवात्माके ही भिन्न भिन्न नाम हैं। विश्वको समझ लेने या विश्वको समझाकर विश्वरूप बनकर रहने में ही मनुष्यको शान्ति मिलती है। विश्वके रहस्यमय रूपको समझे बिना और उसमें अपने आपको रिलाये बिना उसे कदापि कथमपि शान्ति नहीं मिलती। विश्वके रहस्यमय रूपको न समझने तक यह विश्व मनुष्यके लिये अज्ञात जलाशय जैसा संकटयुक्त बना रहता है। विश्वात्मा संकट या अशान्तिमें रहना नहीं चाहता। वह शान्तिका अनवरत पिपासु है।

यह विश्व अपने अनन्त हृदयोंसे अपने प्यारे आत्माको ढूँढ रहा है। विश्वभरका समस्त ध्यान विश्वात्माको अपनानेमें अर्थात् अपने आपको भी उसी अन्वेष्टव्य तत्वके भीतर पाकर उसीके साथ अभिन्न बन जानेमें लगा हुआ है। यह अभिन्नत्वकामना ही आत्मपिपासा, जिज्ञासा या ज्ञानशक्ति बनी है। विश्वमें जहाँ देखो वहाँ आत्मपिपासारूपी ज्ञानशक्ति काम कर रही है। वही सर्वत्र कोटि कोटि मार्गोंसे अपने आपको ढूँढ रही है। मनुष्यके मनमें जो

ज्ञानकी प्यास लगी हुई है वह प्यास मनुष्यकी प्यास नहीं है। वह तो विश्वका आत्मान्वेषण है। यह विश्व मनुष्यके मिषसे आत्मान्वेषण कर रहा है। यह संसार अपने कण कणसे अपनी अव्यक्त भाषामें प्रत्येक मनुष्यसे बोल रहा है। यह प्रत्येकको सांकेतिक भाषामें उपदेश दे रहा है। यह प्रत्येक मानवके सामने अपनी अद्भुत शैलीसे शान्तिको पानेकी समस्या उपस्थित कर रहा है। विश्व मनुष्यसे अपनी गूँगी भाषामें जो कुछ कहना चाह रहा है वही अनादि कालसे मानवहृदयमें भाषा बन बनकर प्रतिध्वनित हो रहा है। उधर तो विश्व अपनी समस्त शक्ति लगा लगाकर मानवहृदयमें शान्तिकी कामना पैदा कर रहा है और उधर मनुष्यका हृदय विश्वकी इस शान्तिकामनाको समझ रहा है, पकड़ रहा है और अपना रहा है। मनुष्यको यही समझना है कि मेरी शान्तिकामना भी मेरी नहीं है, किन्तु यह विश्वभरकी समष्टि समस्या है। यह समस्त विश्व-शान्तिकामी है। शान्तिकी विश्वव्यापी कामना ही विश्वमें गूँजनेवाली विश्व-की वाणी है। शान्ति ही ज्ञान है। शान्तिपिपासा ही ज्ञानपिपासा है। मनुष्यकी ज्ञानपिपासा मनुष्यकी व्यक्तिगत वस्तु नहीं है। मनुष्यकी ज्ञान-पिपासाका अर्थ ही विश्वका आत्मान्वेषण है। विश्वकी आत्मपिपासाने ही मनुष्यको आत्मान्वेषणका सुनिपुण यन्त्र बनाया है। यह विश्व हम मनुष्योंकी ज्ञानपिपासाके रूपमें अनादिकालसे अनन्यकर्मा होकर अपने आपको ढूँढनेमें लगा हुआ है। उसके पास इससे दूसरा कोई काम नहीं है। विश्वका आत्मा आत्मदर्शनार्थी है। विश्वका यह आत्मान्वेषण ही हम मनुष्योंकी ज्ञानपिपासाके रूपमें व्यक्त हुआ है या हम मनुष्योंमें आकर हमारी ज्ञानपिपासा बन गया है। हमने भूलसे समझा कि यह ज्ञानपिपासा हमारी है। हमें जानना चाहिये कि यह हमारी नहीं है। यह हमपर विश्वात्माकी धरोहर या उधार है। विश्व हम तुमको मिष बनाकर आत्मान्वेषणमें मग्न है। विश्व आत्मबोधका प्यासा है। विश्व हम तुमको मिष बना बनाकर अपने आपको समझना चाहता है कि मैं कौन हूँ और कैसा हूँ? विश्वात्माका यह स्वरूपान्वेषणी स्वभाव उसके मनुष्य बालकमें भी संक्रान्त हुआ है। मनुष्य भी अपने पिताकी भाँति आत्मज्ञानकी प्याससे तड़प रहा है। परन्तु आज आत्मज्ञानकी प्याससे तड़पता मानवहृदय अविद्याके प्रभावमें आकर अज्ञानसे अभिभूत हो गया है। आज

वह देहाध्यासी होकर देहरूप बनकर देहका दास हो गया है। आज मानव-हृदयको अज्ञानप्रभावसे बचाकर उसे सच्चे ज्ञानके स्वतन्त्र वायुमण्डलमें पहुँचाकर ठण्डा साँस लेने देनेके लिए शान्तिमयी आत्मविद्याकी सबसे अधिक आवश्यकता है। यह विद्या मनुष्यको बतायेगी कि तेरी ज्ञानपिपासा तेरी मात्र नहीं है। तू इसे अपने हृदयमें ध्वनित होने मात्रसे अपनी समझनेकी भूल कर रहा है। तुझे प्रतीत होनेवाली ज्ञानपिपासा विश्वकी वाणी या विश्वकी इच्छा है। जो विश्व चाह रहा है वही तुझे चाहना पड़ रहा है। विश्वेच्छा ही तुझमें अभिव्यक्त हुई है। अपनी ज्ञानपिपासाको विश्वकी वाणीके या विश्वकी आवश्यकताके रूपमें पहिचान जाना ही ज्ञानपिपासाका सच्चा स्वरूप है। जो अपनी ज्ञानपिपासाको विश्वभरकी इच्छा या माँगके रूपमें पहिचान गया उसीने अपनी ज्ञानपिपासाका सच्चा रूप पहिचाना। यदि मनुष्य अपने हृदयमें उद्‌भूत ज्ञानपिपासाको विश्ववाणी या विश्वकी आवश्यकताके रूपमें पहचान जाय और उसे विषयस्पृहा न बनने देकर सच्ची ज्ञानपिपासाका दिव्य रूप देकर उसकी नीराजना कर सके, तो निश्चय ही उसका अज्ञानकालीन क्षुद्र अस्तित्व उसके लिए आकर्षक और अकर्तव्यप्रेरक न रहे, किन्तु वह उसे विश्वव्यापी अस्तित्वका प्रतीकमात्र दीखने लगे। तब दैहिक अस्तित्वसे मनुष्यका मम भाव हट कर विश्वव्यापी अस्तित्वसे जा जुड़े। तब मनुष्यको दीखे कि विश्वव्यापी अस्तित्व ही मेरा रूप लेकर आ गया है। यदि मनुष्य अपने दैहिक अस्तित्वको विश्वात्मान्वेषणका साधनमात्र समझ जाय तो वह कभी कोई क्षुद्र काम न किया करे। यदि मनुष्य अपने विश्वव्यापी अस्तित्वको पहचान जाय तो जीवनभर उदार विचारोंमें रहकर अपना जीवन सार्थक कर ले।

मनुष्यका हृदय अनादिकालसे स्वरूपपिपासाके मारे तड़प रहा है। उसे भोगोंकी प्यास नहीं है। भोग आत्माका धर्म नहीं है। वह शरीरका धर्म है। भोगके शरीरधर्म होनेसे ही मानव हृदयको भोगसे व्याकुलता होती है। मानव भोगी प्राणी नहीं है। यदि वह भोगी प्राणी होता तो उसे भोगसे व्याकुलता न होती। वह अपने देहके कारण अज्ञानाभिभूत हो गया है। उसे ज्ञानस्वरूप शान्तिवारि पिलानेकी तुरन्त आवश्यकता है। परन्तु दुर्भाग्यसे उसने शान्तिको अपनेसे बाहर समझा है जो वहाँ नहीं है।

शान्ति भीतर है और स्वरूपको पहचान जानेमें है। स्वरूपको भूलकर देह रूप बन जानेसे ही मनुष्यमें अशान्ति आई है। विश्वके विधाताने अपने विश्वको दो विरोधी सामर्थ्य दिये हैं। उसने विश्वको स्वरूपविस्मृति तथा स्वरूपलाभ दोनों ही का साधन बनाया है। उसने विघ्न हटाने तथा विघ्नविजेता बननेका गौरव भोगनेके लिये जान बूझकर अशान्तिके उत्पादक विघ्न बनाये हैं। वह स्वरूपको भूलनेके कारणों या स्वरूपबोधके विघ्नोंको हटा हटाकर अनन्त मार्गोंसे स्वरूपकी ढूँढ़ मचा रहा है। उसके इसी प्रयत्नके परिणाम स्वरूप कोटिकोटि मानवदेह उत्पन्न हो गये हैं। संसारभरके मानवदेह आत्माके स्वरूपदर्शनके यन्त्रमात्र हैं। मनुष्यका इनमेंसे किसी एक देहको अपना मानकर विषयभोगातुर जीवन बिताने लगना, उसका भ्रम, उसका अज्ञान, उसकी वास्तविकताका अपरिचय या उसका जीवभाव है। जिसकी सत्यदर्शी आँख खुल जाती है वह देहको अपना आपा मानना त्याग देता है और पात्रस्थ समस्त जलपर फैल जानेवाली तेलकी बूँदकी भाँति उसी क्षण विश्वव्यापी हो जाता है। वह अपने समझे हुए देहको विश्वात्माका अपने विश्वव्यापी रूपपर अपनी उदार दृष्टि फैलाकर स्वरूपानन्द लेनेका साधनमात्र मानता है। वह इससे भोगका काम न लेकर स्वरूपानन्द सम्भोग मात्रका काम लेता रहता है। ऐसे मनुष्यको स्वरूप भी मिलता है, शान्ति भी मिलती है और उसके हृदयकी व्याकुलता भी जाती रहती है। स्वरूप सम्भोगकी प्यास ज्ञानी अज्ञानी दोनोंको लगी रहती है। परन्तु अज्ञानी मानवहृदय अपनी स्वरूपज्ञानकी पिपासाको न पहचानकर आत्मविस्मृतिकी मारसे व्याकुल तथा विषयविषसे मूर्छित बना रहता है। वह अविद्याके प्रभावमें आकर अज्ञानसे दबकर स्वरूप ज्ञानकी उपेक्षा करके आत्मविस्मृतिमें डूबकर उलटे उपायोंसे अपने हाथोंसे अपना सन्ताप बढ़ाता रहता है। संसारका बहुमत इसी प्रकारका है। उसके इस प्रकार स्वशत्रु बन जानेका कारण केवल यह है कि उसने अपने बालकोंको सच्चा ज्ञानज्ञान करनेवाला स्वतंत्र वायुमण्डल मिलनेका कोई प्रबन्ध नहीं किया। प्रत्युत उसे संसारी पदार्थोंकी दासता करनी सिखाकर उसके सर्वनाशका प्रबन्ध कर रक्खा है। आजका मनुष्य बालक जिस भोजनभोगपरायण दूषित

वायुमण्डलमें जन्मता और पलता है, वह जहाँसे अपने जीवनके लिये अनुकरणीय चित्रोंका संग्रह करता है, उसमें उसे जन्मान्ध रखनेका ही पूरा प्रबन्ध किया हुआ है। संसारके वर्तमान मनुष्यसमाजने अपने बालककी ज्ञानचक्षु खोलनेका कोई प्रबन्ध नहीं कर रक्खा। इसके परिणामस्वरूप संसारसे ज्ञानकी स्वाभाविक स्थिति तो लुप्त होती जा रही है और उसके स्थानपर अज्ञानकी अस्वाभाविक परिस्थिति आती जा रही है, जो अपने को ही ज्ञान कहनेका दुःसाहस कर रही है और मनुष्यका दुःख बढ़ा रही है। यदि मनुष्यके बालकको स्वतंत्रताका दिव्य आनन्द चखाना अभीष्ट हो तो उसे अज्ञानके फन्देमें फँसनेसे पहले ही पहले उसकी कोमल बाल्यावस्थामें उसे भोजनभोगपरायण कुदृष्टान्तोंसे अलग हटाकर सच्चे ज्ञानके स्वतन्त्र वायुमण्डलमें रखकर पालना होगा। उसे वहाँ रखकर स्वतंत्रता इसका स्वभाव बनना होगा। वहाँ उसे स्वतंत्रताका श्वास लेना सिखलाना होगा। ज्ञानके स्वतंत्र वायुमण्डलमें मुक्त जीवनवाला शीतल श्वास लेनेके लिये मनुष्यको जिस कौशलकी आवश्यकता है वह आत्मविद्या कहाता है।

स्वरूपसे परिचित करके आत्मविस्मृति करानेवाले कारणोंको हटाकर आत्मानन्दमें मग्न रहनेकी विद्या आत्मविद्या है। सुखी शान्तजीवन पानेके इच्छुक मनुष्यके लिए आत्मविद्याके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। प्राचीन भारतमें बालकको आठवें ही वर्षमें आत्मविद्याका मूल पुरुषसूक्त पढ़ाया और कण्ठस्थ कराया जाता था। वह उसके जीवनका ध्रुवदीप बनकर उसे कर्त्तव्यकी दीक्षा देता रहता था। बालकको पाठशालामें प्रविष्ट होनेके सबसे पहले दिन सबसे पहले पाठके रूपमें संसारका रहस्य पुरुषसूक्तके भाषान्तरित निम्न शब्दोंको कण्ठस्थ कराया जाता था—"ओ बालक! विश्वपुरुष या ईश्वर ही कोटि कोटि मानवोंके रूपमें अनन्त सिरों, अनन्त आँखों तथा अनन्त पगोंवाला बना है। इस रूपमें यह सारा विश्व तेरा परिवार है। संसारभरके मनुष्य तेरे विश्वपरिवारके पारिवारिक हैं। तुझे मानवमात्रको अपने विधाता विश्वपुरुषका रूप मानकर जीवनभर उनसे उचित बर्ताव करना है और उस बर्तावको स्वरूपमिलन आत्मदर्शन या ईश्वरलाभका साधन बनाना है। वही

परमात्मा इस भूमिको आवृत किये बैठा है तथा वहाँ भी है जहाँ भूलोक नहीं है। वह अलोक संसारमें भी है। आज जो हो रहा है भूतमें जो हो चुका है भावीमें जो होनेवाला है, सब कुछ वही है। वही भूत, वर्तमान तथा भावी बन बनकर संसारनटना कर रहा है। तुम उसे संसारनटनाके रूपमें देखो। तुम यह जानो कि तुम स्वयं भी उसी विश्वपुरुषकी नटना हो। वह अनर-भावका स्वामी है। वही हमारे तुम्हारे समझे हुए शरीरमें आ आकर प्रकट हो रहा है। यह समस्त जगत् उसके एक चतुर्थांशमें है। उसका तीन चतुर्थांश सबभनिःसंसार निर्लोक अमृतावस्थामें विराज रहा है। संसारभरके ज्ञानी लोग उसी विराट् पुरुषमें रमे रहते हैं। संसारभरके ज्ञानी ब्राह्मण उसके मुख हैं। संसारभरके समाजरक्षक क्षत्रिय लोग उस विश्वपुरुषका भुजबल हैं। संसार भरके उपार्जनी लोग उस विश्वपुरुषकी जंघा अर्थात् भोगसंग्राहक शक्तियाँ हैं तथा शिल्पी या श्रमजीवी लोग उसी विश्वपुरुषके पग हैं। संसारभरके मानवोंका मिलकर एक ही संपिण्डित विश्वपुरुष बना है। यों भी कह सकते हैं कि एक ही विराट् पुरुष संसारभरके मानव बन बैठा है। प्रत्येक मानवको अपना यही विराट् रूप पहचानना है और स्वस्वकर्मसे इसी महामानवका सन्तर्पण करना है। प्रत्येक मानवको विश्वमानव विराट् पुरुष नारायण या पुरुषोत्तमका पद पाना है और इसीके लिए कर्म करना है।

प्राचीन भारतमें इस प्रकारके तत्वज्ञानको बालजीवनमें व्यावहारिक स्थान दिलानेवाला वातावरण बनानेके लिए समाजके प्रत्येक शिक्षायोग्य बालकको पाँचसे आठ वर्षके भीतरही भीतर परिवारोंके मोहक वातावरणसे हटाकर पालनपोषण तथा शिक्षाके लिए गुरुगृहोंमें रक्खा ही नहीं जाता था प्रत्युत उन्हें गुरुओंको समर्पित किया जाता था। वे गुरुकुलोंके साथ आत्मसमर्पणका सम्बन्ध जोड़कर वहीं के परिवारिक बनकर रहते थे। वहाँ प्रत्येक बालकको सर्वकल्याणकामी सर्वभूतात्मदर्शी बनानेका सतत जागरूक प्रबन्ध रहता था। इस प्रकारका प्रबन्ध ही भारतकी शिक्षा-पद्धतिका एकमात्र लक्ष्य रहता था। वहाँ बालकको उसकी योग्यतानुसार विद्या-व्रतस्नातक व्रतस्नातक या विद्यास्नातक बनाया जाता था। इन तीनों प्रकारके स्नातकोंमें निरे विद्यास्नातकका पद सबसे नीचा होता था। अपनी किसी

असमर्थताके कारण अक्षरविद्याका उपार्जन न कर सकनेपर भी सत्यनिष्ठ जीवन बना लेनेवालेका पद निरे शुकविद्याप्रवीणसे ऊँचा माना जाता था। प्रत्येक बालकमें वृथा अहंकार न बढ़ने देकर उसे सर्वभूतात्मदर्शी सर्वकल्याणकामी बनानेके लिये उसके भोजन वस्त्रादि भी जान बूझकर धनकुबेर माता पितातकसे न लेकर गुरुगृहोंसे दिये जाते थे। गुरु लोग इन भोजन वस्त्रादिको समाजकी कर्तव्यबुद्धिसे भिक्षा या दानके रूपमें इसी कामके लिये अयाचितरूपमें पाते थे। गुरु लोग सबके सब अवैतनिक होते थे। वे भोगार्थी न होकर जीवनयात्रामात्रार्थी होते थे। वेतनभोगी अध्यापकोंके पढ़ाये छात्रोंको दास मनोवृत्तिवाले बननेसे साक्षात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी नहीं रोक सकते। यदि समाजको उदारचेता समाजसेवी मनुष्योंकी आवश्यकता हो तो उसका एकमात्र उपाय बालकोंको धर्मकामी निःस्वार्थ विद्वान शिक्षकोंसे शिक्षा दिलाना है। बालकोंके सामने तपस्वी विद्वानोंके सुदृष्टान्त रक्खे बिना उनसे कभी कोई अच्छी आशा नहीं की जा सकती। इन सब दृष्टियोंको लेकर प्राचीन भारतके गुरुलोग समाजकी सदिच्छासे समर्पित दानोंसे गुरुकुलोंका संचालन करते थे। दान भारतीय संस्कृतिमें मनुष्यका दैनिक कर्तव्य माना जाता था। भोजन वस्त्र तथा शिक्षाकी इस समाजनिर्भर व्यवस्थामें पले और शिक्षा पाये बालकोंका समाजहितकामी समाजके प्रति निष्ठावान समाजसेवी बन जाना अनिवार्य होता था। इस व्यवस्थासे समाजको कर्तव्यनिष्ठ अवैतनिक-सेवक मिल जाते थे। प्रत्येक बालकके जीवनका जीवन विधि तथा जीवनोद्देश्य सीखनेका सोलह वर्ष लम्बा महत्वपूर्ण चौथाई काल समाजके योग्यतम त्यागी सेवापरायण ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणोंकी देखरेखमें समाजदत्त साधनोंसे बीता करता था। समाजपालित होनेके कारण उस समयके लोगोंको स्वभावसे समाजहितकारी कार्योंमें संलग्न रहना पड़ता था और उसीमें सबको रस भी आता था। सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् की भावना उसी सूझ-बूझमयी शिक्षा-पद्धति तथा वातावरणकी उपज थी। तब समाजमें व्यक्तिगत चिन्ताओंको प्रधानता नहीं मिल पाती थी। तब सबके सब समाज कल्याणमें ही

अपना कल्याण देखते थे और अपने प्रत्येक व्यवहारको मनुष्यतादर्शन या मनुष्यतालाभका साधन बनाकर रखते थे।

इस सर्वभूतात्मदर्शी वातावरणमें शिक्षा पाये सब एक दूसरेको अपना हितैषी पाते थे। प्रत्येक एक दूसरेको पुण्य मार्गपर रखने तथा पापसे बचानेकी शक्ति रखता था। सब पड़ौसीके सुखदुख हानिलाभमें सम्मिलित होकर संसार के क्षुद्र कोनेमें पड़े रहनेपर भी विश्वपरिवारकी पारिवारिकताका सुख भोगते थे। वे दूसरेके साथ अच्छेद्य भ्रातृभावमें रहनेको ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ अवस्था समझकर अपनाते थे। तब समाजके लोग समाजके सुख दुखोंको अपना माननेमें ही परमार्थका पता पाते थे। तब सामाजिक जीवनको ही मानव जीवनके श्रेष्ठसार तथा सत्संग प्राप्त करनेके द्वारके रूपमें देखा जाता था। तब सब समाज साधु समाज था। तब समाजका प्रत्येक मनुष्य सन्त था। समाजका वातावरण आत्मबोधप्रधान होनेसे किसीके ऊपर स्वार्थव्याधि आक्रमण करनेका साहस नहीं कर पाती थी। कल्पना कीजिये कि जिस समाजके प्रत्येक मनुष्यके प्रारंभिक सोलह वर्ष ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणोंकी देखरेखमें निःस्वार्थता त्याग तपस्या और ज्ञानोपार्जनमें मुनि जीवनके रूपमें बीते हों उसका कोई भी मनुष्य लाख चाहने पर भी बुरा कैसे बन सकता था? धन्य है उन महामना ऋषियोंकी बुद्धिको जिन्होंने मनुष्य-सुधारक अव्यर्थ शिक्षाप्रणालीका आविष्कार किया था। उस प्रणालीमें पलेपोसे बालक को स्वभावसे भलाईका पक्षपाती बनना पड़ता था। सोचिये तो सही कि वह समाजका कैसा सौभाग्य था कि समाजका प्रत्येक व्यक्ति परमार्थ साधनमें तल्लीन रहता था और प्रत्येक अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंको बलि देनेमें अपना सौभाग्य मानता था। स्वार्थ मानव समाजका उसकी रचना तथा उसकी शान्ति का नित्य वैरी है। वह एक दूसरेको एक दूसरेसे पृथक करता है। वह उन्हें एकत्रित नहीं होने देता। स्वार्थी एक दूसरेका शत्रु होता है। वह दूसरेको अपने स्वार्थ के कांटेके रूपमें देखता है। स्वार्थ एकको दूसरेका शत्रु बनाता है। स्वार्थरूपी रुकावट कल्याणरूपी परमार्थकी साधना नहीं करने देती और मनुष्यको आनन्दी नहीं होने देती। परमार्थसे मनुष्य मनुष्यका स्वजन बन जाता है। परमार्थ मनुष्योंको एकत्रित करता है। परमार्थ एक दूसरेमें स्वजनोंके भी स्वजन

परमात्माकी झाँकी कराता है। परमार्थ मनुष्योंकी शारीरिक भेद सीमायें तोड़कर फेंक देता है और सबको एकताके सूत्रमें बाँध देता है। परमार्थ ही समाजोंकी रचना करता है। परमार्थ ही समाज सेवाके बड़े बड़े काम कराता है। प्रेमका विशुद्धरूप परमार्थमें ही देखनेको मिलता है। सुधरा हुआ व्यवहार ही परमार्थ बन जाता है। परमार्थ ही मनुष्यकी मनुष्यता है। परमार्थ ही मनुष्यका जीवन है। परमार्थके मधुर बन्धनमें संगठित समाज ही जीवित समाज है। परमार्थहीन मनुष्य-समाज निष्प्राण समाज है। वह पशुओंका झुण्ड है। पशुताके उपेक्षक परमार्थपरायण मनुष्यताके उपासक उदार मनुष्य प्रस्तुत करते रहना भारतकी प्राचीन शिक्षा विधिका सुपरिणाम था। आज बालकोंके ग्रामों उपनगरों नगरों तथा महानगरोंके विषैले वैषयिक वातावरणोंमें, अपने माता पिताके धनोंसे पलने तथा उसीमें आदर्शहीन वेतनार्थी अध्यापकोंसे शिक्षा पानेका दुष्परिणाम आजके समाजको भोगना पड़ रहा है। आजका मनुष्य जीवनका कोई अच्छा चित्र न ले सकनेसे भोजन-भोगपरायण हो गया है। दूषित वातावरणमें पला मनुष्य कभी किसीके साथ न्यायोचित बर्ताव नहीं कर सकता। वह सुदृष्टान्तोंके अभावसे उदार विचार सीखनेमें असमर्थ रह गया है। उसकी अपनी ही आवश्यकता सुरसाके पेटकी भाँति इतनी विशाल है कि यह समस्त संसार उस एककी भी भोगाभिलाषाके लिये पर्याप्त नहीं है। ऐसे भूके कंगले मनुष्यने किसी दूसरे के साथ क्या न्याय करना है? वह तो दिनरात समाजमेंसे अपना आखेट ढूँढ़नेकी धुनमें भेड़ियेकी भूक लेकर घूमता है। बालकोंको मानव-मात्रमें नारायणदर्शन करनेकी कला न सिखानेका जो दुष्परिणाम होना था उसे आजका समाज विकलता असंपूर्णता अतृप्ति आतुरता और कलह आदिके रूपमें भोग रहा है। इस दुःखमयी अवस्थासे बचनेके लिये प्रत्येक बच्चेको आत्मविद्या सिखाने और भोगी वातावरणसे अलग तपस्वी संस्कृतिमें रखनेकी अनिवार्य आवश्यकता है। इस विद्याके बिना समाजका संशोधन या पवित्रीकरण सर्वथा असम्भव है। आत्मविद्या ही मनुष्यकी स्वाभाविक विद्या तथा संस्कृति है। इस विद्याके बिना मनुष्य अपना तथा संसारका स्वरूप कर्तव्य तथा अधिकार कभी नहीं पहचान

सकता । आत्मविद्या ही मनुष्यको अपने पराये स्वरूप अधिकार सुख दुःख तथा कर्तव्योंका ज्ञान तथा इन सबका समीकरण या सामंजस्य करानेवाली एकमात्र विद्या है। आत्मविद्या मनुष्यको, उसके दैहिक अस्तित्वकी ओटमें उसके मूल रूपमें छिपे हुए संसारभरके साझेके अविरोधी अस्तित्वका दर्शन कराकर उससे उसकी क्षुद्रता अनुदारता पामरता विषयभोगातुरता स्वार्थतत्परता आदि दुर्गुण छीनकर उसे उज्ज्वल मनुष्य बनाती तथा दूसरोंके साथ उचित बर्ताव करना सिखाकर उसे सद्वर्तावमें ही उसका कल्याण समझाती है। प्रत्येक मनुष्यके अस्तित्वकी पृष्ठभूमिके रूपमें सबका साझेका एक विराट् सच्चिदानन्द महाभण्डार लगा हुआ है जिसे मनुष्यको पहचानना है। मनुष्य जितनी प्रकारकी भूलें करता है सबकी सब इस साझेके महाभण्डारका परिचय न पानेतक करता है। इस साझेके महाभण्डारका पता पाते ही भूलोंके मूलमें आग लग जाती है और मनुष्य पुण्यापुण्यविवर्जित पन्थाका पथिक बन जाता है। मनुष्य अपने पराये सबकी पृष्ठभूमि इस महाभण्डारको न पहिचानकर ही अपनेको औरोंसे अलग विषयभोगातुर क्षुद्रसत्ता मानकर दीन हीन पापी क्षुद्र आततायी आत्मद्वेषी विश्वद्रोही व्यक्तिगत स्वार्थी जीवन बिताता और क्षुद्र काम करनेपर उतर आता है। यदि मनुष्यसे उसकी क्षुद्रता छुड़ानी हो और उसे समाजसेवक उदार विश्वप्रेमी बनाना हो तो उसे उसका विश्वव्यापी विराट् अस्तित्वमय रूप दिखाना ही होगा। जिस दिन मनुष्यको उसका विराट् अस्तित्व दिखा दिया जायगा उस दिन उसकी ईश्वरके संसारसे अलग अपना संसार बनानेकी प्रवृत्ति एकपदे नष्ट हो जायगी और वह अपने मनुष्य भ्राताओंसे उदार व्यवहार करेगा, उसमें रस लेगा और उससे धन्यताका अनुभव करेगा। यदि मनुष्यको उसके बालकपनमें ही सबका साझेका विश्वव्यापी अद्वैतरूप दिखाकर उसे सर्वभूतात्मदर्शी नहीं बनाया जायगा तो वह दूसरे लाखों प्रयत्नोंसे भी भला नहीं बन सकेगा और शिक्षासंस्थाओंके लाख सिर पटकनेपर भी समाजसुधार मूर्खोंका सुपना बना रहेगा।

संसारके भले लोग इसीलिए भले हैं कि वे अपने दैहिक अस्तित्वोंपर वृथा प्रेमरूपी स्वार्थभावना या विश्वद्रोह नहीं करते। भले लोग इसीलिए भले होते हैं कि वे सबके मनोंमें अपनी अनुभूति देखना जान जाते हैं। सबमें

आत्मानुभूति करने लगना ही भलेपनका रहस्य है। विश्वव्यापी अद्वैत अस्तित्वकी अन्तःश्रद्धा ही मनुष्यके उदार गुण या दैवी संपत्ति बन जाती है। विश्वव्यापी एकास्तित्वकी श्रद्धाके बिना मनुष्य उदार बन ही नहीं सकता। संसारभरका समीकरण कर देनेवाली आत्मविद्या ही मनुष्यको भला रहनेकी प्रेरणा देनेवाली एकमात्र कला है। वह संसारभरको एकीभूत करके पापको असम्भव बना देनेवाली प्रणाली है। पाप द्वैत या अनेकत्वकी ही कुसृष्टि है।

आत्मज्ञान सदा मनुष्यके दुःख भूल तथा पतनके समयोंपर उसे उसका निष्पाप रूप दिखाकर मार्ग दिखाता है। मनुष्य जिस क्षण इसका महत्त्व समझकर इसे अपनाता है उसी क्षण उसके लिए संसारके सब प्रकारके सुख शून्य और मूल्यहीन हो जाते हैं। उसके लिए उनमें कोई आकर्षण शेष नहीं रहता। इस उदार क्षणका मनुष्यके पास आना उसका महासौभाग्य है। मनुष्यको इस क्षणके अपने पास आनेकी प्रतीक्षा करनी चाहिये और देखना चाहिये कि संसारके सुख मेरे लिए कब अर्थशून्य बनते हैं? आत्मस्थिति पा जानेवालेका जीवनके प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाता है। उसके ऊपर आत्मस्थितिका राज हो जाता है। तब उसके लिए बाह्यविषयोंमें सुख नहीं रहता। ऐसा सुखनिस्पृह मनुष्य कभी किसीकी शान्तिका विघ्न नहीं बन सकता। संसारको ऐसे अविघ्नधर्मा मनुष्य बनाकर देना आत्मविद्याका ही काम है।

आजकल मोलतोलवाली अस्वाभाविक अर्थकरी विद्या कहानेवाली अविद्याने आत्मविद्या नामकी स्वाभाविक विद्याका स्थान छीन लिया है और उसे समाजसे बहिष्कृत कर डाला है। उसके परिणामस्वरूप आज मनुष्यको आत्मविद्या सिखाकर उसे सच्चा मनुष्य बनानेवाली संस्थाएँ समाजसे लुप्त हो गई हैं। आज अविद्या रानी बन गई है और आत्मविद्या बहिष्कृत दासी बना दी गई है। आज उसने आत्मविद्याको अस्वाभाविक और अनावश्यक घोषित कर डाला है तथा इस पवित्र विद्याकी ओरसे संसारका सामूहिक ध्यान हटा दिया है। आज सर्वत्र अर्थकरी विद्याकी ही तूती बोल रही है और सर्वत्र उसीके डंके बज रहे हैं। आजके समाजमें मनुष्यकी यथार्थ ज्ञानपिपासा बुझानेका कोई प्रबन्ध नहीं रह गया है। नाटक उपन्यास गल्प कहानी समाचारपत्रादि ही आजकी स्वाध्यायसामग्री रह गयी हैं। वर्तमान मनुष्यसमाजका यह महादुर्भाग्य

है कि वह सच्ची विद्यासे वंचित हो गया है तथा उसके स्थानपर कृत्रिम विद्या अपने आपातमाधुर्यसे उसे उन्मार्गगामी बना रही है। आज विद्याके स्थानपर अविद्या बिकनेवाली वस्तुओंके ढेरमें रख दी गई है। जिस दिनसे प्रमाणपत्रके रूपोंमें बिकनेवाली इस बनावटी विद्याका क्रय विक्रय प्रारम्भ हुआ तबसे समाज दिनपर दिन पतितसे पतित हो जा रहा है और सार्वत्रिक भोग कलहके रूपमें उसका दुष्परिणाम भोग रहा है। आज आत्मविद्या नामवाली मानवीयविद्या समाजसे कान पकड़कर निर्वासित कर दी गई है। आज मानवीयविद्या भोजनभोगातुर लोगोंकी कुमार्गी कुविद्याकी मनुष्यतासंहारक दंष्ट्राओंमें पीसी जा रही है। आज धनलोभी धनमत्त लोगोंका चरणचुम्बन करनेवाली अविद्या ही अपनेको विद्या कहकर मनुष्यके अबोध बच्चोंको ललचा ललचाकर विद्याविमुख अनभिज्ञ समाजमें अपनी विजयकी यशोदुन्दुभि बजवा रही है।

मानवीय विद्याको इस समाजघातक अविद्याराक्षसके चर्वणसे बचानेका केवल एक उपाय है कि वह या तो अपने घरोंको विश्वविद्यालय बना डाले या भारतीय ऋषियोंकी गुरुकुल प्रणालीको अपनाये। घरोंको विश्वविद्यालय बना डालनेका अर्थ प्रत्येक परिवारका अपने आपमें अपनी सन्तानको आत्मविद्या सिखानेवाला एक विश्वविद्यालय बन जाना तथा प्रत्येक मातापिताका उस विश्वविद्यालयका सच्चे अर्थोंमें अधिपति बन जाना है। यदि कभी मनुष्यसमाजको शान्ति लेनी होगी तो उसका केवल यह मार्ग होगा कि वह अपने प्रत्येक परिवारको अपने-अपने बालकोंको आत्मविद्या सिखानेवाला पारिवारिक विश्वविद्यालय बना डाले और उसमें अपनी बालसन्तानको शिक्षित मातापिता या स्वाभाविक संरक्षकोंसे शिक्षा दिलावे या प्राचीन भारतकी ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंसे परिचालित गुरुकुल प्रणालीको अपनाये जिसे आजके गुरुकुल भी कभीके छोड़ चुके हैं। जब कभी मनुष्यसमाज सुधरेगा तब या तो आत्मवेत्ता सदाचारसंपन्न शिक्षित परिवारोंसे या ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मणोंके परिचालित गुरुकुलोंसे सुधरेगा। जबतक ज्ञानी मातापिता ज्ञानप्रसारका काम अपने हाथोंमें नहीं सँभालेंगे तबतक संसारसे अँधेरा नहीं मिटेगा और तबतक न तो कोई स्वयं शान्तिसे बैठेगा और न कोई किसी दूसरेको शान्तिसे बैठने देगा।

मनुष्यके बच्चोंको शिक्षित करनेकी योग्यता सब किसीमें नहीं होती। यह पवित्र उत्तरदायित्व केवल उनको न दिया जा सकता है जो ईश्वरीय व्यवस्थासे अपने बालकोंके सामने अपना दूषित उदाहरण नहीं रख सकते। यह योग्यता या तो मातापिता आदि स्वाभाविक संरक्षकोंमें होती है या सर्वभूतात्मदर्शी उन आत्मज्ञानी लोगोंमें होती है जिनके पवित्र जीवन वेदवेदान्तोंकी टीका तथा भाष्यस्वरूप होते हैं जिनके जीवनोंमें वेदोंकी ऋचाएँ मूर्तरूप लेकर प्रकट होती हैं जो विद्यार्थीके सामने अपने सुचरित्रको पाठ्य ग्रंथोंके रूपमें रखनेकी योग्यता रखते हैं। इसलिए यह उत्तरदायित्व केवल इन दो पर डालना चाहिए। कोई भी उत्तरदायित्व स्वाभाविक संरक्षकोंपर या सर्वभूतात्मदर्शियोंपर डालना वृक्षके मूलमें जल सींचना है। जैसे वृक्षमूलमें जल सींचनेसे समस्त वृक्ष हराभरा हो जाता है इसी प्रकार समाजवृक्षको सुसन्तानोत्पादक तथा शान्तिफलदायी बनाना हो तो मनुष्यके बच्चेकी शिक्षाका उत्तरदायित्व केवल स्वाभाविक संरक्षकों और ज्ञानी लोगोंपर डालना होगा और यह बोझ सबसे पहले परिवारोंको ही अपनेआप उठाना होगा।

शिक्षाका उत्तरदायित्व स्वाभाविक संरक्षकों तथा आत्मदर्शी लोगोंको न सौंपकर विद्यार्थी बालकको शिक्षोपार्जनके लिए परिवार बाह्य उत्तरदायित्वहीन संस्थाओंमें भेजना नितान्त अस्वाभाविक सर्वनाशकारी शिक्षापद्धति है। शिक्षा पानेके नामपर बालकोंको परिवारसे निकालते ही परिवारोंमें उत्तर-दायित्वहीनता आ धमकती है जो सारे समाजके लिए घातक बनती है। परिवार बालकोंके हटते ही निर्मर्याद हो जाते हैं। बालक पारिवारिक जीवनको पवित्र रखनेमें महत्वपूर्ण आचार्योंका काम करते हैं। वे प्रत्येक समय पारि-वारिकोंको पवित्र रहनेकी मूक प्रेरणा देते रहते हैं। वे परिवारोंमें सदाचार संरक्षणका काम करते हैं। बालकोंके नैतिक प्रभावसे परिवारोंसे नीतिहीनता तथा असंयम बहिष्कृत रहते हैं। बालक मातापिताके स्वाभाविक आचार्य या आचारशिक्षक बनकर आते हैं। इस दृष्टिसे बालक भी मातापिताके उपास्यदेव होते हैं। बालक मातापिताको सुधारें तथा मातापिता बालकोंको सुधारें तो परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ की कथा परिवारोंमें मूर्तरूप धारण

करके समाजको पवित्र बना डाले। बालकोंके परिवारोंसे हटते ही परिवारोंमें उच्छृंखलताका नंगा नाच होने लगता है और समस्त कुलधर्म जातिधर्म तथा समाजधर्म लुप्त हो जाते हैं। परिवारोंसे बाहर छात्रालयोंवाली शिक्षापद्धति परिवारों तथा छात्रालयों दोनोंको दायित्वहीन सदाचारविमुख बनाकर उत्तर-दायित्वहीन मनुष्य प्रस्तुत करनेवाली बनकर समाजकी अकल्पित हानि करती है। यह शिक्षापद्धति या तो विज्ञापन देकर बुलाये या नौकरीकी भटकमें स्वयं आये मनुष्यतासे अपरिचित बाह्य आमोदप्रमोदपरायण धनलोभी अनधिकारी लोगोंको मनुष्यताकी शिक्षा देनेका भार सौंपती और शतप्रतिशत असफल होती है। यह पद्धति समाजवृक्षके मूलको ज्ञानरूपी जलसे न सींचकर उसे अविद्यारूपी मदिरासे सींचती है। इस अविद्यारूपी मदिराको पीपीकर पला हुआ युवकसमाज अशान्तिकी अज्ञानमूलक रौल मचाना सीख लेता है। यह उत्तरदायित्वहीन विपरीत शिक्षापद्धति ही आज मनुष्य समाजके कल्याणमें बाधा खड़ी करनेका मुख्य कारण बनी हुई है। यह समस्त दोष वर्तमान शिक्षापद्धतिका है।

मनुष्यको आत्मबोध कराकर उसे पूर्ण मनुष्य बनाना ही शिक्षाका उद्देश्य है। शिक्षाके इस सच्चे उद्देश्यको पूरा करनेमें प्रमाद करके आजका मनुष्य-समाज मनुष्यताका घातक हिंस्रपशुसे भी अधिक भयंकर हिंस्ररूप धारण कर चुका है।

आजकी शिक्षापद्धति इतनी अनुभवहीन अलस और नपुंसक हो गई है कि संसारमें अपना दुष्परिणाम आँखोंके सामने देखकर भी अपनी विपथगामिता छोड़नेको उद्यत नहीं है। जैसे कोढ़ीको अपने कोढ़ी जीवनमें ममता होती है और वह मरना नहीं चाहता इसी प्रकार हमारे देशकी शिक्षापद्धति अपनी दूषित सत्ताके मोहमें फँस गई है और हटना नहीं चाहती।

मनुष्यको आवश्यकता बढ़ाना तथा धनलोभ सिखाना वर्तमान शिक्षा-पद्धतिका सबसे बड़ा दूषण है। धनलोभ मानवोचित गुणोंको नष्ट भ्रष्ट कर देता है। वर्तमान शिक्षापद्धति मनुष्यको धनलोभ सिखाकर उसे विपथगामी कलहप्रिय स्वार्थसेवी नरकनिवासी बना रही है। वह मनुष्यके सामने मनु-ष्यताका वह आदर्श नहीं रख रही है जो मनुष्यको मनुष्य बनानेके लिए उसके

सामने आना ही चाहिए था। वह मनुष्यके सामने रोटी कपड़े या भोजन तथा भोगका पातित्यकारी आदर्श रख रही है। वर्तमान शिक्षापद्धतिकी मनुष्यको धनोपार्जनकी शक्ति या योग्यता देने की प्रतिज्ञा भी मिथ्या है। यह सत्यनिष्ठा या मनुष्यताके व्रती मनुष्यको धनोपार्जनकी योग्यता भी नहीं देती। जबतक इस शिक्षाके साथ धनियोंकी चाटुकारिता, दूसरोंकी ईर्ष्या, विश्वासघात, समाजद्रोह आदि मनुष्यताविरोधी दुर्गुण नहीं मिला दिये जायँ तबतक यह शिक्षा धनदानमें भी वन्ध्या रहती है। यह शिक्षा विद्यार्थीके बल बुद्धि आशा उत्साह आदि मानवोचित गुणोंको भक्षण करनेवाली राक्षसी है।

वर्तमान शिक्षा मनुष्यताको तिलांजलि दे चुके हुए, पाप करते हुए भी समाजमें चतुराईसे सम्मानित बने रहना चाहनेवालोंके लिये लाभदायक होती है। वर्तमान संसारकी शिक्षाविधि बिना आवश्यक श्रम किये दूसरोंके उपार्जनमेंसे उपार्जन करना चाहनेवाले निराश दास चोर लुटेरे तथा आततायी मनुष्य उत्पन्न कर रही है। वर्तमान शिक्षा विधिके बिगाड़े हुए लोगोंने अपने जीवनको निराशामें बिताने, बिना आवश्यक श्रम किये उपार्जन करने तथा दूसरोंकी दासता करनेका साधन बना लिया है। परन्तु मनुष्यजीवन इस कामके लिये नहीं था। संसारकी वर्तमान शिक्षासंस्थायें व्यापारी शिक्षा मात्र देनेवाली बनी हुई हैं। महामना मानवार्थी देशको अपनी वर्तमान शिक्षा संस्थाओंमें सावधान होजाना चाहिये और इन्हें शंका भरी दृष्टिसे देखना चाहिये। ये संस्थायें शिक्षाके पवित्र नामपर राष्ट्रको लूट रही हैं और शिक्षित लुटेरे पैदा करके राष्ट्रकी मनुष्यताका ध्वंस करनेमें लगी हुई हैं। मनुष्योचित शिक्षामें अत्यन्त थोड़ा समय लगना चाहिये। वह सरल तथा मनुष्यमें जीवन फूँकनेवाली होनी चाहिये। अमनुष्योचित शिक्षा निरर्थक, लम्बी जटिल बहुव्ययसाध्य तथा जीवनको निस्तेज बनाकर निगल जानेवाली होती है। वह विद्यार्थियोंको पुस्तकावलम्बी बनाती है। आजके शिक्षित युवकोंको अपनी रेलयात्राओंका समय काटनेके लिये प्रेम कहानियाँ मोल लेते देखकर किस विचारशील देशवासीका हृदय न फुंक जाता होगा। आजके शिक्षितको आप पुस्तकके नामपर चाहे जितना विष पिला दीजिये। वह पुस्तक या समाचारपत्र नामक हलाहलको पीनेमें कोई संकोच नहीं करेगा। यह शिक्षा

पद्धतिका ही दुष्परिणाम है। शिक्षापद्धतिको विद्यार्थीको पुस्तकावलम्बी न बनाकर उसे स्वतंत्रविचारक बनाना चाहिये था। पठित मनुष्यके पास पुस्तककी आवश्यकता न रहनेकी अवस्थाको आना ही चाहिये। उसे मार्ग देखकर फैंकी हुई मशालके समान कभी न कभी पुस्तकोंको अनुपयोगी देखनेवाला होना चाहिये। उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत् स्वतंत्रविचारक पुस्तकाधारसे न विचारकर अपनी अनुभूतिसे विचारता है। वह सत्यासत्यकी पहचान करनेवाला होता है। स्वतंत्र विचारकोंमें मतभेद नहीं होता। इसलिये नहीं होता कि स्वतंत्र विचारकोंको दीखनेवाला सत्य एक ही होता है। दूसरोंके विचारोंके पीछे चलनेवाले या भिन्न भिन्न मतोंका प्रचार करनेवाले लोग निश्चित रूपसे अंधे होते हैं। स्वतंत्र विचारके अभावने ही समाजमें दासता तथा दासोचित आत्मकलहको पैदा किया है। आज देशमेंसे विदेशी अत्याचारी शक्तिके हट जानेपर भी दासता नहीं हटी है। दासता देशमें ज्यों की त्यों जड़ जमाये खड़ी है। समाजके मनमें दासताका बने रहना अपनेमेंसे ही अत्याचारी पैदा करनेवाला हो जाता है। इस अवांछित अवस्थाका उत्तरदायित्व देशकी शिक्षा संस्थाओंपर है। आज वे अमनुष्योचित शिक्षा दे रही हैं।

अमनुष्योचित शिक्षाके मोहमें फँसे हुए लोगोंको सोचना है कि यदि वे अपनी सन्तानके जीवनके सबसे उत्तम कालको शिक्षा नामवाला मँहगा निकम्मापन मोल लेनेमें बिता डालेंगे तो वह जीवनको सुखमय बनानेकी कला कब किससे कैसे सीखेगी? इसलिये मातापिता लोग इस विषयपर स्वतंत्र और गंभीर होकर सोचें। वे अपने बालकोंको शिक्षित करनेके नामपर अंधी छलांगे न मारें और शिक्षाके नामपर अशिक्षित न बनायें। सावधान होकर पग बढ़ाये। देखें कि—सामने उलझन उत्पन्न करनेवाला ऐसा धृष्ट अंधेरा खड़ा है जो अपनेको प्रकाश कहकर संसारके अनुभवहीन नवयुवकोंको ठग रहा है। मनुष्यके जीवनका लक्ष्य तो निश्चित सफलता है। मनुष्यको तो निश्चित सफलतावाला मार्ग ढूँढना और अपनाना है। अंधी छलांगें मारना मनुष्यके जीवनका लक्ष्य नहीं है।

अब समाजहितेच्छु विचारशील सदस्योंके मनोंमें दृढ़तासे बैठता जारहा है कि मनुष्यताके महत्वके अधिकारी और अभिलाषी मानवसन्तानके लिये

उपयोगी शिक्षाकी व्यवस्था करना अत्यावश्यक है। वह व्यवस्था राष्ट्रमें स्वतंत्रमन पैदा करनेवाली होनी चाहिये। स्वतंत्रमन ही स्वतंत्र राष्ट्र है। स्वतंत्रमन न होनेपर स्वतंत्र राष्ट्र होना संभव नहीं है। स्वतंत्रमन ही स्ववीर्य गुप्त स्वयंरक्षित राष्ट्र है। स्वतंत्रमन सन्तानशिक्षाकी योग्य विधिके ही ऊपर निर्भर है। सन्तानको सच्ची शिक्षा देना मनुष्य समाजकी सबसे मुख्य समस्या है।

सन्तान शिक्षाकी मुख्य समस्याका समाधान न करनेके कारण आजका भारत आदर्शहीन समाजकी स्थितिमें है आदर्शहीन समाजका नाश अवश्यं भावी है। अपने देशसे आदर्शहीनताको हटाना आजके भारतके शिक्षा-शास्त्रियोंके करनेका काम है। विषयरूपी कुसंगतसे बचे रहना ही मनुष्यके जीवनका आदर्श है। भारतके शिक्षाशास्त्रियोंको आजके भोजनभोग परायण सिनेमाप्रेमी शरीरसौन्दर्योपासक कुक्षिम्भरि पातित्यजीवी स्वार्थ-सर्वस्व लोगोंकी बाढ़ रोकनी है और उसके स्थानपर मनुष्यताके प्रेमी पवित्रताके उपासक समाजके सेवक परमार्थपरायण लोग बनकर अपने देशमें आदर्शसमाज प्रस्तुत करना है। आदर्शसमाज स्वयंशासित समाज होता है। स्वयंशासित समाजके शासनयन्त्रको या तो अव्ययसाध्य या अल्पव्ययसाध्य होना चाहिये। अज्ञानी लोग सदा ही परशासित होते हैं। वे स्वयंशासित न होकर दण्ड-भयसे शासित होनेवाले होते हैं। उनको शासनमें रखनेके लिये बहुत-व्यय करना पड़ता है। उनके शासनके लिये नौकरोंकी लम्बीसे लम्बी सेना भी थोड़ी रहती है। अस्वयंशासितोंके शासनका व्ययसाध्य होना अनिवार्य है। शासनका व्यय जनतापर लगाये करोंसे आता है। शासन तथा करोंका सारा भार जनतापर पड़ता है। इस-लिये शासनका व्यय थोड़ेसे थोड़ा होना चाहिये। शासन-व्ययका थोड़ेसे थोड़ा होना ही सुशासनकी कसौटी है। सुशासनका अर्थ अचोर अस्वैराचारी सर्वभूतात्मदर्शी आत्मज्ञानी अपने पराये अधिकारके ज्ञाता उदार मनुष्योंका समाज प्रस्तुतकरके देशमेंसे दण्डकी आवश्यकताको नष्ट करना है। ऐसे लोगोंकी बाढ़से शासनव्ययका न्यूनतम हो जाना अनिवार्य है। शासनव्ययकी अधिकता दुःशासनकी सूचना है। शासन-व्यय घटानेका

एकमात्र उपाय जनताको स्वयं-शासित बनानेवाले आत्मज्ञानकी शिक्षा देना है। देशकी जनताको स्वयं-शासित बनाना देशके आजके शिक्षाधिकारियोंका उत्तरदायित्व है। वे यदि सूझ-बूझसे काम लें तो देश पन्द्रह वर्षके भीतर भीतर आदर्शसमाजके रूपमें परिवर्तित हो सकता है। देशमें ऐसे शिक्षामर्मज्ञोंका सर्वथा अभाव नहीं है जो देशको पन्द्रह वर्षोंमें आदर्श-समाज बना सकते हैं। यदि देशके शिक्षाधिकारी लोग अहंम्मन्यता छोड़कर ऐसे लोगोंको ढूँढने चलेंगे तो उन्हें निश्चित सफलता मिलेगी। आदर्शसमाज अपने आपको ही अपना राजा या मार्गदर्शक माननेवाला होता है। वह किसी दूसरेको अपना राजा या आज्ञाधिकारी मानना, देखना या बनाना सहन नहीं करता। वह पाप या अकर्तव्यसे किसी बाह्यशक्तिके डरसे न बचकर उलटा सीधा सब कुछ कर सकनेका सामर्थ्य और परिस्थिति होनेपर भी अपने ही मनसे, अपनी ही ओरसे, अपनी ही कर्तव्यबुद्धिसे, अपनी ही अन्तःप्रेरणासे, उससे लाख भौतिक लाभ दीखनेपर भी जान बूझकर विरत रहता है और इस विरतिमें गौरव अनुभव करता तथा रस लेता है। वह अपने दो भाग बनाकर रहता है। वह अपने आधे भागको शासकके पदपर बैठा लेता है और आधेको शासितके कटघरेमें खड़ा कर लेता है। वह अपने आप ही शासक और अपने आप ही शासित बनकर अपने आप ही एक छोटासा स्वयं शासित राष्ट्र बनकर रहता है। वह अपने आपही कर्तव्यशास्त्र बनाता है और अपने आप ही उसे उत्साह और कर्तव्यबुद्धिसे पालता है। वह नियमपालनमें पुत्रोत्सव जैसा प्रसन्न होता है। व नियमानुवर्तितामें गौरव और सौभाग्य भोगता तथा नियमविधानकी नैमित्तिवृत्ति प्रजा बनकर रहनेमें गर्व अनुभव करता है। ऐसे जीवनमें पाप या अकर्तव्य असम्भव घटना होती है। ऐसा व्यक्ति कभी पाप कर ही नहीं सकता। ऐसे व्यक्तियोंके लिये किसी भी राज्यसंस्थाको कभी एक कौड़ी भी व्यय करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। समाजके लिये ऐसे आदर्श व्यक्ति प्रस्तुत करना देशके शिक्षाविभागका उत्तरदायित्व है। देशके शिक्षाधिकारियोंको समाजमें ऐसे ही मनुष्य प्रस्तुत करनेवाला वातारण बनानेका प्रबन्ध करना है। जब तक देशका शिक्षाविभाग करवट नहीं लेगा जब तक वह अंग्रेजोंकी उनका शासनयन्त्र चलानेवाले मुनीम प्रस्तुत करनेवाली

शिक्षापद्धतिका मोह नहीं त्यागेगा और शिक्षा संस्थाओंके वातावरणको आत्मज्ञानी मनुष्य प्रस्तुत करनेवाला नहीं बनायेगा, तबतक देशको प्रतिवर्ष एम० ए० बियोंकी लम्बी चौड़ी सेना ढाल ढालकर देते रहनेपर भी देशसे घूस, पाप, ठगई, लूट, अन्याय, अत्याचार काले बाजार आदि बन्द नहीं होंगे। आज जो हमारे देशमें पापका अखण्ड नृत्य दीख रहा है यह देशके पिछले शिक्षा विभागकी उत्तरदायित्वहीनताका अवश्यंभावी दुष्परिणाम है। बालक पन्द्रह वर्षमें युवा बन जाता है। इसलिये किसी भी देशको सुधारना पन्द्रह वर्षका काम है। देशमेंसे पाप ताण्डवको हटानेके लिये पन्द्रह वर्षका समय पर्याप्त है। परन्तु यह काम क्योंकि देशके शिक्षाविभागकी या इन विभागोंके मुख्याधिकारियोंकी तीव्र लगनके ऊपर निर्भर करता है इसलिये ओ देशके वर्तमान शिक्षा विभाग ! आँख खोलकर पिछले शिक्षाविभागके देश भरमें त्राहि त्राहि मचवा देनेवाले पाप प्रसारक दुष्परिणामको प्रत्यक्ष देख उसकी भूलसे शिक्षा ले, उससे बच, तथा अपना सम्पूर्ण बुद्धि बल व्यय करके देशमें पवित्र वातावरण फैलानेवाली शिक्षाका देशव्यापी प्रबन्ध कर यदि देशका शिक्षाविभाग यह उत्तरदायित्व सँभालनेमें अपनेको असमर्थ पाता हो तो वह अपना स्थान किसी दूसरे शिक्षासेवकोंके लिये रिक्त करे। यह बात शिक्षा विभागसे इसलिये कही जा रही है कि अपने राष्ट्रको निष्कलंक बनानेका सबसे अधिक उत्तरदायित्व शिक्षाविभागका ही है। शिक्षा विभाग देशके चरित्रका पहरेदार होता है। देशका शिक्षाविभाग देशसे इसी बातका वेतन पाता है। देशका समस्त भाग्य और भविष्य इसी विभागकी रीति नीति और सूझ बूझके ऊपर निर्भर है। आज हमारा देश देशव्यापी भ्रष्टता और पापाचारसे ग्रस्त और त्रस्त होकर प्रत्येक सम्मेलनों और जमघटोंमें इसीकी चर्चा और चिन्ताके द्वारा अपने पैंतीस करोड़ मुखोंसे कह रहा है कि ओ देशके शिक्षा-विभाग ! तू अपना उत्तरदायित्व अनुभव कर और उसे पूरा कर। देशके लिये उत्तरदायित्वपूर्ण जनता प्रस्तुत करना तेरा ही मुख्य काम है। इसीमें तेरी सार्थकता है। यदि तू इसे पूरा नहीं करेगा तो तू और हम सब नष्ट हो जायँगे। अपने प्रति उत्तरदायित्वहीन लोग ही पाप किया करते हैं। वे दूसरोंके प्रति उत्तरदायी होते हैं। वे अपने आपसे नहीं लजाते। वे केवल दूसरोंकी

दृष्टि बचाना चाहते हैं । प्रत्येक शान्तिकामी देशके शिक्षाविभागोंको देशके लिये नियमभक्त स्वयंशासित उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजायें प्रस्तुत करनी हैं । पशु तो अपने बच्चोंको पशुत्वकी दीक्षा दे देता है परन्तु मनुष्यके लिये यह बड़े ही दुःखका विषय है कि उसने अपने बालकको मनुष्यत्व सिखाना छोड़ दिया है और उसके स्थानपर पशुत्व सिखाकर उसे भोजनभोगपरायण बिना सींग पूछ तथा दो पैरोंवाला पशु बनाना प्रारम्भ कर दिया है । वह अपने बालकको पशुत्व क्यों सिखाने लगा है तथा उसने उसे मनुष्यत्व सिखाना क्यों छोड़ दिया है ? इसका उत्तर उसका मनुष्यत्वसे या मनुष्यत्वके माहात्म्यसे अपरिचित होना है । मनुष्योंसे मनुष्यताकी आशा करनेवालोंको उन्हें मनुष्यतासे परिचित कराना होगा । आजकी शिक्षापद्धतिके लिये बड़ी लज्जाकी बात है कि वह बालकको संसार भरसे परिचित करानेका ढोंग तो करती है, वह सूरजकी लम्बाई चौड़ाई उसकी पृथिवीसे दूरी, उसके प्रकाशकी गति, उसकी अपने नक्षत्रमण्डलपर प्रभाव डालनेकी पद्धति आदि अमहत्वपूर्ण बातोंका ज्ञान कराना तो चाहती है परन्तु मनुष्यके बालकको उसका महत्वपूर्ण स्वरूप, उसका संसारमें आनेका प्रयोजन बताना अपना कर्तव्य नहीं समझती। । वह इतनी वयोवृद्ध होकर भी अभी तक मनुष्यको आत्मपरिचय करानेका महत्व नहीं समझ पायी कि समाजको स्वयंशासित अपापकर्मा बनानेके लिये उसे आत्मवेत्ता बनाना ही एकमात्र उपाय है । उसे यह जान जाना चाहिये था कि आत्मवेत्ता बननेसे ही मनुष्यका पाप अत्याचार अपहरण परपीडन आदि करना असम्भव बन जाता है । यदि किसी राष्ट्रको अपना आभ्यन्तरिक शासनभार न्यून करना हो तो उसका एक मात्र उपाय अपने विश्वविद्यालयोंके द्वारा देशमें आत्मज्ञानकी प्रसाधक शिक्षा का प्रबन्ध करके देशके लिये आत्मज्ञानी मानव प्रस्तुत करना है ।

मनुष्यका जीवन सच्चिदानन्द स्वरूप है । अर्थात् मानवको अपने जीवनको सत्य, ज्ञान तथा आनन्द तीन रूपोंमें समझना है । मनुष्यका आत्मा सत्य अर्थात् त्रिकाल स्थायी है । इसीसे वह अमरत्व चाहता है और अस्थायित्वसे घबराता है । परन्तु मनुष्यके साथ लगा हुआ देह मरणधर्मा अस्थायी है और मनुष्य इस देहमें मैं बुद्धि कर बैठनेके कारण शरीरके अवश्यम्भावी विनाश या इसकी

अस्थिरतासे घबराता है। यह उसका देहाध्यासमूलक भ्रम है। उसका स्वयं अस्थायित्वसे कोई सम्बन्ध या सम्पर्क नहीं है। फिर भी वह देहाध्यासके कारण भूलसे घबराता है। उसकी घबराहट अज्ञानमूलक है। यदि वह आत्म-स्थितिसे परिचित होता तो घबराहटका कोई अवसर न होता। परन्तु उसका अन्तरात्मा अपने त्रिकालस्थायित्वको भीतर ही भीतर पहचानता है। मैं सदा बना रहा हूँ यही उसकी भावना है। वह सनातनताका उपासक और अन्वेष्टा है। वह सदासे है और सदा रहेगा। कोटिकोटि कल्प बीतते चले जा रहे हैं और बीतते चले जायँगे परन्तु मनुष्यके अन्तरात्माने आजतक बीती समस्त सृष्टियाँ देखी हैं और अगली समस्त सृष्टियें भी उसीके तत्वाधानमें बीतनेवाली हैं। यही हमारे आत्माका त्रिकाल स्थायित्वरूपी सत्यत्व है। वह कभी इस संसारसे नहीं मिटना है। वह सदासे संसार बन रहा है और सदा बनता रहेगा। वह संसार बनकर भी अपना असंसारी रूप भी नहीं छोड़ रहा है। यह सारा संसार उसके एक चतुर्थांशमें रह रहा है। उसका तीनचतुर्थांश अब भी असंसारी अमृत रूपमें अवस्थित है।

मनुष्यका आत्मा विश्वव्यापी ज्ञानस्वरूप है। जैसे विशालकाय हाथी आरसीके दर्पणमें आरसी जितना छोटा दीखा करता है, इसी प्रकार मनुष्यका विश्वव्यापी आत्मा विश्वव्यापी होनेपर भी छोटे देहमें अहंभाव कर बैठनेके कारण छोटेसे देहके अनुसार छोटा सा लगने लगता है, जो अवास्तविक होनेसे अश्रद्धेय और अमान्य है। देहमें अहंभावरूपी भ्रमके कारण मनुष्यको अपने आत्माकी विश्वव्यापिता भूलकर अविश्वास्य बन गई है। देहके छोटे होने तथा देहमें अहंभाव कर लेनेसे आत्माकी विश्वव्यापिताका मनुष्यकी समझमें आना कठिन हो गया है। आत्माकी विश्वव्यापिताको समझनेके लिए उसे उसकी देहा-तीतता दर्शानेवाली सूक्ष्मेक्षिकाकी आवश्यकता है। मनुष्य जब देहके आवरणसे बाहर होकर अनन्त देश तथा अनन्त कालतक अपनी विचारदृष्टि फैलाकर देखता है तब उसे अपना ही आत्मा ज्ञानके रूपमें सर्वत्र विराजता दीखता है। यह विश्वव्यापी ज्ञान ही आत्माका रूप है। आत्मा अपने अशरीरी रूपसे सर्वत्र रह रहा है।

मनुष्यका आत्मा सुखस्वरूप है। उसके सुखस्वरूप होनेपर भी देहके

सम्बन्धके कारण उसे जो कभी कभी दुःख प्रतीत होता है उसका कारण यह है कि देह जन्मने अस्तित्वमें आने परिणाम पाने बढ़ने घटने और नाश पाने नामके छः भावविकारोंकी अधीनतामें रहता है। रोग चोट तथा मृत्यु ही देहके अन्तिम स्वामी हैं। उत्पत्ति स्थिति प्रलय प्रकृतिके अटल नियम हैं। देह भी इन्हीं परिवर्तनशील नियमोंकी अधीनतामें अपना जीवनकाल बिताता और जन्मसे मरणतक यात्रा करता है। प्राकृतिक अनुकूलता प्रतिकूलता देहकी अनिवार्य स्थिति हैं। प्राकृतिक अनुकूलता सुख तथा प्राकृतिक प्रतिकूलता दुःख नाम पाती हैं। ये सुख दुःख केवल भौतिक देहसम्बन्धी स्थिति हैं। मनुष्य दो देहोंवाला प्राणी है। एक इसका चिन्मय देह और दूसरा मृण्मय देह है। चिन्मयदेह अमर सनातन स्वरूपभूत सुख चाहता है और मृण्मयदेह भौतिक सुख चाहता है। मनुष्यका मृण्मयदेह चिन्मय देहको पानेका द्वार मात्र है। मनुष्य अपने मृण्मयदेहको अमर चिन्मय देहको समझने तथा पानेका द्वारमात्र न समझनेपर उस (मृण्मयदेह) के साथ अहंभावसे बँधकर सुखाभिलाषी तथा दुःखद्वेषी बनता है। परन्तु वह अपने चिन्मयदेहको समझ जानेपर सुखदुःख दोनोंसे अतीत अमर सनातन स्वरूपभूत सुखका अन्वेष्टा तथा भोक्ता बनकर अन्तमें अपने आपको ही अपना अन्वेष्टव्य पाकर अन्वेषण समाप्त करके आनन्दविभोर कृतकृत्य हो जाता है। वस्तुतः सुखकी अनावश्यकता ही स्वरूपभूत सुखका लक्षण है। यदि मनुष्य अपने स्वरूपको समझ जाय तो उसे सुखकी अनावश्यकता दीख जाय और सनातन तृप्ति उसकी नित्यसंगिनी बन जाय। परन्तु ध्यान रहे कि यह अवस्था मनुष्यकी प्राप्तप्राप्तव्यकी स्थिति है। इस अवस्थाका पाना ही मनुष्यजीवनका लक्ष्य या उसकी धन्यतामयी स्थिति है।

मनुष्यजीवन शक्तिका एक महापुँज है। शक्ति सदा ही अँधी होती है। वह प्रत्येक समय उलटा सीधा कुछ न कुछ करना चाहती है। वह अपना उपयोग चाहती है। शक्तिसे उपयोगमें आये बिना नहीं रुका जाता। संचालक ही शक्तिकी आँख होता है। शक्ति शक्तिमानके अधिकारमें रहने तक ही शक्ति रहती है। संचालक सद्बुद्धि हो तो शक्तिका सद्व्यय और वह असद्बुद्धि हो तो उसका अपव्यय होना अनिवार्य है। शक्ति सदुपयोग होनेपर

ही शक्ति रहती है। वह शक्तिमानके वशसे बाहर होते ही अशक्ति बन जाती है। वह असदुपयुक्त होते ही मारक और विनाशक बन जाती है। फिर वह उसके विनाश तथा पतनका कारण बन जाती है जो अश्वारोही अश्वसंचालन क्रियामें कुशल होता है अश्व उसीकी यात्रा पूरी करता है। परन्तु जो अश्वारोही अश्वारोहण क्रियामें कुशल नहीं होता अर्थात् अश्वशक्तिका सदुपयोग करनेकी कलासे अनभिज्ञ होता है, अश्व उसे कहीं भी ले जा पटक देता और मार तक डालता है। यही अवस्था इस शक्तिपुँज पाजानेवाले मनुष्यकी भी है। वह उसे प्रत्येक समय किसी न किसी काममें लगाये रखती है शक्ति मनुष्यकी जीवनेच्छाका रूप लेकर प्रकट हुई है। मनुष्यकी जीवनेच्छा इन्द्रियोंका रूप लेकर प्रकट हुई है। मनुष्यकी इन्द्रियाँ शक्तिके उपयोग अनुपयोग या दुरुपयोगके द्वार बनीं है। इन्द्रियोंका मुख्य काम शरीरको जीवित रखना या जीवित रहनेमें शरीरकी सहायता करना है। इन्द्रियोंमें जीवनेच्छाके साथ साथ भोगेच्छा भी रहती है। इन्द्रियोंकी भोगेच्छा एकोहं बहुस्यामकी भावनाका रूपान्तर है। इन्द्रियोंकी भोगेच्छा सृष्टिसंरक्षणका बीज है। यह बीज सृष्टिका बीज भी है और मनुष्यकी परीक्षास्थली भी है। इसके सदुपयोग दुरुपयोग का निर्भर देहको अपना स्वरूप मानने न माननेके ऊपर है। देहको अपना स्वरूप समझ जानेवाले लोग अपना स्वरूप भुलाकर देहेच्छाके साथ बह निकलते हैं और अपने जीवनका संसारकी व्यर्थ घटना बना डालते हैं। असत्यको सत्य अवास्तविकको वास्तविक समझनेके भयसे अपनी रक्षा करनेका पाठ सिखानेके लिये मनुष्यको दो साधन दिये गये हैं। एक तो उसे विचारशक्ति दी गई है, दूसरे उसे प्रतिक्षण विनाशी देह दिया गया है। यह देह वृद्धि पानेके समय भी वास्तवमें घटता ही है। मनुष्यका विधाता मनुष्यको त्यागका पाठ पढ़ाना चाहता है। उसे त्यागका पाठ पढ़ानेके लिये ग्रहणके बहुतसे साधन उसके सामने प्रस्तुत कर दिये गये हैं। ग्रहणके अभावमें त्यागमें महत्व आना असम्भव होता है। मनुष्य ग्रहणके दुःखोंसे ऊबकर और उसे अन्तमें असुखदायक पाकर त्यागकी ओर झुकता और उसका पक्षपाती बनता है। मनुष्यको त्यागका पाठ पढ़ानेके लिये उसके सामने सारी सृष्टि विशाल ज्ञानग्रन्थके रूपमें खोलकर रख दी गई है। मनुष्यका

देह ऐसी बुद्धिमत्तासे बनाया गया है कि संसारका संपूर्ण रहस्य इस लघु देहमें लघुरूपमें आ बसा है। मनुष्यको जो कुछ संसारभरमें सीखना है वह सबका सब इस लघुदेहके भीतर सीखा जा सकता है। मनुष्य अपने देहके विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त कर लेता है उतना ज्ञान समग्र संसारपर लागू हो जाता है। मनुष्य अपने शरीरके रूप स्पर्शादिपर जितना वशीकार निःस्पृहता आदि पा लेता है उसे संसार भरके रूप स्पर्शादिपर भी उतना ही वश अनायास मिल जाता है। देहको अविश्वास्य अश्रद्धेय अनिर्भर्तव्य समझते ही समग्र संसार भरमें बिखरी हुई उसकी श्रद्धा तथा विश्वास संसार भरसे सुकड़ सुकड़कर अपने स्वरूपमें लौट आते हैं। अब मनुष्यको केवल अपना स्वरूप ही विश्वास तथा श्रद्धाका भाजन दीखने लगता है। इस प्रकार श्रद्धा तथा विश्वासका अकेन्द्रसे सुकड़कर केन्द्रमें लौट आना तथा संसारान्वेषणका समाप्त हो जाना मनुष्यजीवनकी सबसे ऊँची अवस्था और सबसे महत्वपूर्ण घटना है। वस्तुतः मनुष्य यहाँ कुछ पाने नहीं आया। किन्तु वह अपनी पूर्णावस्थाका दर्शन करनेके लिये संसारमें आया है। आजके मनुष्यने अपने प्रमादसे अपनी संसारयात्राका यही पावन लक्ष्य भुला डाला है। वह अपने स्वरूपको विस्मृतिपक्षमें डालकर अपनेसे भिन्न पदार्थों तथा व्यक्तियोंका संग करने तथा कुछ पदार्थोंका स्वामी बननेकी भ्रान्त इच्छाकर बैठा है। यही उसकी अशान्ति है। उसकी स्वरूपविस्मृति उसे बाहरकी ओर दौड़ाती और भटकाती है। यह दौड़ और भटक ही उसको अशान्ति बन जाती है। उसकी पदार्थों तथा व्यक्तियोंकी संगेच्छा इसलिये अशान्ति है कि इन सबका वियोग अनिवार्य है। मनुष्यको इसी अशान्तिसे बचना है। इस अशान्तिसे बचनेका एक मात्र उपाय मनुष्यको आत्मज्ञान कराना है।

सत्यनारायण ही मनुष्य बना है। नरनारायणका दिव्य जोड़ा है। कभी नारायण नर बनता है और कभी नरनारायण बन जाता है। क्योंकि सत्यनारायण ही मनुष्य बना है इसलिये मनुष्यको पुनः सत्यनारायण बननेकी कामना पैदा होती है इस कामनाको मूर्त रूप मिल जाना ही उसका स्परूप लाभ है। इसके विना उसे शान्ति नहीं मिलती। सत्य मनुष्यसे अलग नहीं है। मनुष्यका रूप ही सत्य है। मनुष्यका स्वरूप ही इस संसारका एकमात्र सत्य है।

मनुष्य का स्वरूप इतना विशाल, इतना अनन्त और इतना व्यापक है कि कल्पना उसकी कल्पना करती करती थक जाती है तौ भी उसका पार हाथ नहीं आता। वह दूरसे भी दूर तक उपस्थित है। मनुष्य केवल अपने स्वरूपको न समझपानेका पापी और दुःखिया है। मनुष्य अपने स्वरूपकी झाँकी लेते ही उस में डूबकर आनन्दमग्न होजाता है। स्वरूपदर्शन करते ही मनुष्यकी चिन्ता, ढूँढ और भटक समाप्त हो जाती है। मनुष्यका स्वरूप स्वयं ही संसारकी सबसे बड़ी स्वाध्यायसामग्री तथा संसारभरके पुस्तकालयोंसे बड़ा पुस्तकालय है। इसमें संसारभरके धर्मशास्त्र लिखे पड़े हैं। इससे संबन्ध जुडतेही पुस्तकें अनुपयोगी हो जाती हैं। जबसे मनुष्यने अपने मनका अर्थात् अपना स्वाध्याय करना छोड़ा है तबसे ही दुःख पा रहा है। मनुष्यका आन्तर मन पूरा ज्ञानी है। उसकी इच्छामात्रसे उसे सारा संसार हस्तामलककी भाँति दीखने लगता है। वह ज्योतियोंका भी ज्योति है। वह प्राणियोंके भीतर रहनेवाला अन्तरात्मा है। वह ऐसा आन्तरदीप है जो कभी नहीं बुझता, जो अनादिकालसे अनन्तकालतक जलता है, जिसे स्वरूपमहिमामें विराजनेसे दूसरा कोई काम नहीं है। मनुष्यका स्वरूप उसे सदा सुमार्ग दिखानेके लिए मार्गदीप बनकर उसके भीतर बैठा है। वही ज्ञान है, वही धैर्य है, वही मनुष्यके समग्र गुण है, वही मनुष्यकी अमरज्योति है। जिसने इस ज्योतिर्मय स्तम्भसे ज्ञान लेना सीखा उसका जीवन धन्य हो गया। उस अमरज्योतिने भूत वर्तमान तथा भावी सब घेर रक्खे हैं। वही मनुष्यके जीवननामक शतवार्षिक यज्ञका होता है। जीवनके समस्त सत्य-सिद्धान्त तथा सारे वेदशास्त्र उसके भीतर लिखे हुए हैं। यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः। उसीमेंसे वेदोंकी ऋचायें या संसारभरके सद्ग्रंथ निकले हैं। जबसे मनुष्यने उस अपने आन्तरज्ञानी-मनसे बातचीत करना और उससे सन्देश लेना त्यागा है तबसे ही वह अज्ञानी और दुःखी बन गया है। अज्ञानी मनुष्य मनकी माँगको नहीं समझ पाता। यद्यपि मनुष्यका मन बाह्य पदार्थोंका प्रेमी नहीं है परन्तु वह उसे बाह्यका प्रेमी समझ जाता है। वह तो केवल स्वरूपदर्शनका प्यासा है। वह आत्मदर्शनका प्यासा होकर दिशादिशामें भटक रहा है। वह संसारकी प्रत्येक वस्तुमें आत्मदर्शन

करना चाहता है। उसकी सर्वत्र आत्मदर्शनेच्छा ही उसकी चंचलताका स्वरूप है। सर्वत्र समस्त पदार्थोंमें आत्मदर्शन किये बिना इसकी चंचलता नहीं मिटती है। यह चंचलता सर्वत्र आत्मदर्शनकी प्याली है। यह आत्मपान करके ही मिटती है और तब सदाके लिए मिट जाती है। फिर मनुष्यकी विषयाभिलाषा क्षेत्रहीन या लक्ष्यहीन होकर निरिन्धन अग्नि सी बुझ जाती है। तब एकीभाव मनुष्यका निस्तेज शाब्दिक ज्ञान न रहकर उसका अनुभव बन जाता है। ज्ञानका अनुभव बन जाना ही मनुष्यकी ज्ञानमयी स्थिति है। कोरे शाब्दिक ज्ञानसे मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती। मनुष्यका ज्ञानप्रेमी मन अनुभवमें पहुंचकर ही तृप्ति अनुभव करता है। अनुभव होनेपर उसे दीख जाता है कि मैं बाह्य पदार्थोंका प्रेमी नहीं हूँ मैं तो अपनी भावनाका प्रेमी और उपासक हूँ। शिक्षाको मनुष्यसे बाह्यप्रेम छीनकर उसकी प्रवृत्तिको अन्तर्मुखी बनाकर उसे आत्मप्रेमी बनाना है। आत्मप्रेमी बनते ही उसका स्वतन्त्र विचारक बन जाना अनिवार्य हो जाता है। अनात्मज्ञका अस्वतंत्र विचारक या अविचारशील होना अनिवार्य है।

शिक्षासे मनुष्यमें स्वतन्त्र विचारपद्धति आविर्भूत हो जानी चाहिये। शिक्षापाये मनुष्यमें प्रत्येक धर्मसंकट या कर्तव्याकर्तव्यनिर्णयके अवसरपर बाह्यपरिस्थितियोंसे अप्रभावित रहकर विचार करनेकी कला आजानी चाहिये। शिक्षित मनुष्यको कोई भी काम प्रारम्भ करनेसे पहले उसके औचित्य अनौचित्य या अधिकार अनधिकारपर विचार करनेका अभ्यास पड़ जाना चाहिये। संसारकी साधारण बुद्धि कर्तव्यनिर्णयके अवसरपर आर्थिक या भौतिक लाभहानिकी दृष्टिसे उसके करने या न करनेका निर्णय किया करती है। परन्तु कर्तव्यनिर्धारणका यह मानवोचित मार्ग नहीं है। मनुष्यको कर्तव्यनिर्णयके अवसरपर अपने मानसिक उत्थानपतनका विचार करके मानसिक उत्थान करनेवाले कर्तव्य स्वीकार करने हैं और पतनकारी कर्तव्योंको त्याग देना है। कर्तव्यनिर्णयका प्रसंग आखड़ा होनेपर अपने आत्मगौरवकी उपेक्षा करके आर्थिक गणितकी ओर झुकजानेवालेको मनुष्य नहीं कहा जा सकता। वह मनुष्यमातापितासे उत्पन्न होनेपर भी दो पैरका पशु ही है।

मनुष्यसमाजमें कलह द्वेष द्रोहादिमयी प्रवृत्ति बढ़ानेवाली भोगैश्वर्यकी

दासतासे छुटजाना ही शिक्षापानेका अर्थ है। यदि मनुष्य अशिक्षितोंके समान भोगैश्वर्यका दास बनगया तो उसने शिक्षासे कोई लाभ नहीं उठाया, आजकलकी शिक्षापद्धति विद्यार्थीको जहाँतक हो सके आवश्यकता बढ़ाना और उनमेंसे जितनी पूरीकी जासकें उतनी वैध अवैध उपायोंसे पूरी करनेमें अपने महत्वपूर्ण लघुजीवनावसरको मिटा डालना सिखाती है। जो लोग मानवजीवनकी महत्वपूर्णताका कोई विचार न करके लोगोंकी देखादेखी विषयार्जनकी घुड़दौड़में दौड़े चले जारहे हैं जो लोग ऐसे विचारहीनोंको अपना आदर्श बनाकर उनकी देखादेखी अपनी भी कुछ आवश्यकतायें मानकर अपने जीवनरथको उनके मार्गमें दौड़ाने लगते हैं, उन्हें कदापि शान्ति नहीं मिलती। आजका शिक्षित स्पष्ट शब्दोंमें अनुकरणमार्गी तथा आवश्यकताओंका दास बन गया है। आजका शिक्षित इस तथ्यको भुलाता जारहा है कि भोगैश्वर्योंका विपुल संग्रह न होनेपर भी अपनी कर्मशक्तिसे प्राप्त अल्पतम साधनोंसे मनुष्यताका आनन्द लेते हुए आनन्दपूर्वक सुन्दरतम जीवनयात्रा हो सकती है।

इसमें तो कोई संदेह नहीं कि बाहरके रमणीक पदार्थ मनुष्यके मनको अपनी ओर खेंचते रहते हैं, परन्तु मनुष्यमें अपने आपको इस आकर्षणसे बचानेकी भी योग्यता है। उस योग्यताको जगादेना शिक्षाका काम है। शिक्षा पानेवालेको गतानु-गतिक होनेसे बचाये रखना शिक्षाका उत्तरदायित्व और उसके सच्ची शिक्षा होनेकी कसौटी है। यह पुस्तक सच्ची शिक्षापद्धतिमें सहायक बननेकेही लिये लिखी गई है।

इस पुस्तकमें विषयोंका चयन पुस्तकमें समस्त दैवीसंपत्तिको संगृहीत करनेकी भावनासे बड़ी सावधानीसे किया गया है। कोई भी मानवीय समस्या इसमें लानेसे नहीं छोड़ी गई है। इसके अगले भागोंमें सत्य, अहिंसा, मनुष्यजीवनका, लक्ष्य, त्याग, शिष्टाचार, निर्भयता, निकम्मापन, देशप्रेम, समाजधर्म, स्वदेशी, स्वराज्य, सम्प्रदायवाद, बस 'मैं'' मृत्यु आदर्शपरिवार अर्थात् सन्तान पालनकी योग्यविधि तथा ईश्वरभक्ति अर्थात् ईश्वरके साथ मनुष्यके मौलिक संबन्ध मोदि लम्बे लेख आनेवाले है। छोटे लेख सब प्रायः इसी भागमें आगये हैं। इनमेंसे कई लम्बे लेख प्रसंगानुसार स्वतंत्र ग्रन्थोंका रूप भी ले सकते हैं।

साधारणतया इस पुस्तकमें पाठकोंको एक न्यूनता प्रतीत हो सकती है कि इसमें संसारभरकी महत्वपूर्ण समस्या न्यायको कहीं स्वतन्त्र पाठका रूप नहीं दिया गया। इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्याय इस संसारकी सबसे महत्व-पूर्ण समस्या है। यदि संसारमें न्याय न होता तो बड़े बड़े सत्ताधारी लोग छोटोंको कभीका खागये होते। न्यायके अल्पतम अवशेषोंने ही अभी तक इस संसारको नष्ट होनेसे बचा रक्खा है। फिर भी इस पुस्तकमें न्यायका स्वतन्त्र पाठ न होनेका यह गंभीर कारण है कि इसके प्रत्येक पाठमें बड़े आग्रहके साथ विद्यार्थीसे सबसे पहले अपनेसे न्याय करनेवाला सदाचारी बननेको कहा गया है। अर्थात् न्याय इसके प्रत्येक पाठमें वर्णित है। सदाचारीका मुख्य अर्थ अपने साथ न्याय करनेवाला है। अपने साथ न्यायकरनेको कहने वाली इस पुस्तककी शिक्षाके भीतर मनुष्योचित समस्त शिक्षायें समायी हुई हैं। जिसने अपने साथ न्याय करना सीख लिया वह कभी किसीके साथ अन्याय नहीं कर सकता। जैसे विशाल आकाशके नीचे अनन्तकोटि विश्वब्रह्माण्डका स्थान है इसी प्रकार न्यायशिक्षामें मनुष्योचित सम्पूर्ण शिक्षायें समाई हुई हैं। अपने विद्यार्थियोंको इस सत्यसे परिचित कराना ही इस पुस्तकका लक्ष्य है अपने पराये सबके साथ न्याय करना ही मनुष्योचित शिक्षा पालेना है।

हमारे देशके विद्यार्थियोंको मनुष्योचित शिक्षा न मिलनेका जो दुष्परिणाम होना अनिवार्य था उसे हमारे देशको इस रूपमें भोगना पड़ रहा है कि— आज देशमें सर्वत्र अन्यायका राज तप रहा है। कहीं किसीको न्याय नहीं मिल रहा है। शासकोंको शासनका मद चढ़ गया है। शासक बने हुए लोग स्वार्थसे दूषित शिक्षा पाये होनेके कारण स्वार्थान्ध प्रभुतामदमत्त बने बैठे हैं। वे न्यायार्थी लोगोंसे बात करने तथा उन्हें समुचित उत्तर देनेतकको प्रस्तुत नहीं हैं। न्यायके लिये जनता सत्ताधारी मन्त्रियोंके प्रासादोंके अपमानभरे वातावरणोंमेंसे रूखे उत्तर लेलेकर निराश लौट आती है और अनुभव करती हैं कि शासनसत्ता अनधिकारियोंके हाथोंमें चली गई। सत्ताधारी लोग वोट माँगना, कर लेना तथा आज्ञा प्रचारित करनामात्र जानते हैं। ये इसके विनिमय में प्रजाको न्याय देना अपना कर्तव्य नहीं समझ पाये। ये शासन यन्त्रोंको व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाका साधन बना बैठे हैं। शासनाधिकार पाये हुए लोग

प्रजाकी गाढ़ी कमाईको पानीकी भाँति बहाकर बनाये हुए इन्द्रपुरी और नन्दनकाननको भी नीचा दिखानेवाले भव्य प्रासादोंमें अहंकारपूर्ण विलासका ऐसा जीवन बिता रहे हैं मानो यह परिस्थिति इन्हींके भुजबलकी उपार्जित हो। न्यायार्थी लोग इनके द्वारोंसे निराश होकर देशकी शासनप्रणालीको शाप देकर चले जाते हैं और देशमें जनताको न्याय दिलानेवाली "न्याय भवन" जैसी संस्थाओंकी तत्काल आवश्यकताको गंभीरतासे अनुभव करते हैं। हमारे अभागे देशके इन सत्ताधारियोंको नहीं दीखता कि किसी भी न्यायभिक्षुका तुम्हारे धवल राजप्रासादोंवाले नन्दनकाननोंसे निराश लौट जाना उस मनुष्यताकी हत्या है जिसकी सेवाके लिये तुम्हें यह पद सौंपे गये थे। अन्याय ही मनुष्यताकी हत्या है। न्यायार्थीको न्याय न मिलना तथा पीडितके त्राणका प्रबन्ध न होना भी मनुष्यताकी हिंसा है। काम कराने आई हुई प्रजाका काम न होना ही मनुष्यताकी हत्या है। तुम्हारा उनसे बात तक न करके अहंकारमदमत्त बने रहना भी मनुष्यताकी हत्या है। यह बड़े दुर्भाग्यकी बात है कि हमारे देशके शासनमदमत्त अधिकारियोंको अन्यायमें अर्थात् न्यायार्थीकी न्यायभिक्षाको अपूर्ण रख देनेमें मनुष्यताकी हिंसा नहीं दीख रही है। इसके अतिरिक्त इनके अंग्रेज गुरु इन्हें इतना बिगाड़ गये हैं कि इनके पास जानेवालेको सादी वेशभूषा में न जाकर दिव्य वेशभूषामें तथा प्रभावशाली सिफारिशें लेकर इनके पास जाना चाहिये। तब ये उसकी बात सुनेंगे और ध्यान देंगे। यदि आप साधारण वेषभूषामें जायेंगे तो इनके "बैरे" ही आपको इनतक नहीं पहुँचने देंगे। यदि आप धृष्टता करके इनतक पहुँच जायेंगे तो ये आपकी बाह्य भव्य आकृति तथा प्रबल सिफारिशोंके बिना आपसे बातें नहीं करेंगे। देशके वर्तमान शासनयन्त्रकी यह कैसी दयनीय दशा है? क्या यही जनताका राज्य है? क्या यही रामराज्य है? रामराज्यमें प्रत्येक रूपमें राम मिलनेकी संभावनासे सबके साथ उचित बरताव होना चाहिये। इन्हें यह जानना चाहिये कि तुमने जिस व्यक्तिको तुम्हें न्याय देनेके लिये विवश न कर सकनेवाला साधारण दिखावटका मनुष्य समझकर टाला है वह केवल उसे नहीं टाला, प्रत्युत तुमने मनुष्यताके साथ बड़ा भारी विश्वासघात और देशद्रोह किया है, तुमने उसे न्याय देनेमें टाल करके अपनेको शासनारूढ रहनेके

अयोग्य प्रमाणित कर दिया है। दुर्भाग्यसे आज हमारे देशमें शासन सत्ताको विवश करके न्यायार्थीको न्याय दिलानेवाली संस्थायें संगठित नहीं हैं। यदि वे संगठित होतीं तो प्रजाका अधिकार प्रजाको देनेमें आनाकानी करनेवाले मदान्ध शासक इन पदोंसे कभीके अलग किये गये होते। हमारे देशके वर्तमान शासनारूढ लोग शाब्दिक अहिंसाके तो प्रचारक बने बैठे हैं, परन्तु ये व्यवहारमें मनुष्यताकी हिंसा करनेमें स्वयं लगे हुए हैं। इन्हें यह जानना चाहिये कि दूसरोंपर अन्याय करना, न्यायार्थी प्रजाको न्याय न देना, अपनी ही मनुष्यतापर अन्याय या अत्याचार करना है। यह आत्महिंसा तथा अपनेको अयोग्य अप्रामाणिक घोषित करना है। यदि देश इस दुष्परिणामसे बचना चाहता हो तो उसका एकमात्र उपाय देशकी शिक्षापद्धतिको ऊपरके संकेतानुसार सुधारना है। देशकी शिक्षापद्धतिको सुधारनेका मुख्य अर्थ प्रत्येक मनुष्यको अध्यात्मविद्या अर्थात् आत्मज्ञानकी शिक्षा देना है। अध्यात्मज्ञानसे देशमें त्राहि-त्राहि मचा देनेवाले वर्तमान सब रोग निश्चित-रूपसे एकपदे मिट जायेंगे। अध्यात्मशिक्षा पाकर सब सबमें आत्मदर्शन करेंगे और कोई किसीसे निन्दित व्यवहार नहीं कर सकेगा। जितने प्रकारके अन्याय अत्याचार अपमान उपेक्षा आदि पाप हैं सब अपनेसे दूसरोंको भिन्न और निर्बल मान लेनेपर ही संभव होते हैं। भेद ही समस्त पापोंका मूल होता है। द्वितीयाद् वै भयं भवति। अध्यात्मज्ञानके पाठ मनुष्यको बतायेंगे कि ओ मनुष्य! तू इस संसारमें आकर सबसे प्यारसे मिल। तू जान कि संसार सब रूपोंमें नारायण रमा हुआ है। तू किसीको साधारण मनुष्य मत मान। तू सबमें नारायणदर्शन करके अपनेको धन्य कर। अध्यात्मशिक्षा साधारण प्रजाको शासकोंका आराध्यदेव बना देगी और राजाप्रजाका भेद मिटाकर सबको सबके सुखदुखका साथी बनाकर सर्वत्र शान्ति बरसायेगी। संक्षेपमें देशको शान्तिकी जननी आत्मविद्या सिखानेकी तत्काल आवश्यकता है। क्या हमारे देशके विश्वविद्यालय देशकी इस मुख्यतम आवश्यकतापर ध्यान देंगे? यह पुस्तक उसीके अन्यतम साधनके रूपमें अपने पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत की जा रही है। संक्षेपमें ब्रह्मविद्या, अध्यात्मज्ञान, स्वरूपपरिचय, ऐकात्म्यबोध या सर्वानन्यत्वका सिद्धान्त ही इस पुस्तककी पृष्ठभूमि तथा संसारको स्वर्ग बनाने

वाला महासूत्र है। इस पृष्ठभूमिका परिचय ही इस ग्रंथमें वर्णित मन्तव्योंको समझनेकी ताली है।

ऋषितर्पण

लेखकके जीवनके प्रभातसे ही पहले तो उसपर प्रातःस्मरणीय ब्रह्मीभूत श्री अच्युतमुनिजीकी उसके पश्चात् परम श्रद्धास्पद श्री भाई दुर्गेशचन्द्रजीकी अहैतुक कृपा और प्रीति बनी रही है। इन दोनों महानुभावोंसे प्राप्त आर्षविचारसरणि ईश्वरकी अचिन्त्य इच्छासे इस ग्रंथका रूप ले रही है। इसे भारतीय संस्कृतिके परिचयार्थी अन्तेवासियोंके समक्ष अध्ययन तथा विचारके लिए प्रस्तुत किया जा रहा है। इस ज्ञानचर्चासे ब्रह्मविद्याका सम्प्रदाय चलानेवाले ब्रह्मा आदि वंशऋषि तथा इस परम्पराको जीवित रखने वाले आचार्य और गुरुलोग तृप्ति तथा प्रेम अनुभव करें कि संसारमें उनकी चलायी परम्पराको जीवित रखनेवाले प्रयत्न विरल भले ही होगये हों सर्वथा लुप्त नहीं हुए हैं।

धन्यवाद

इस पुस्तकमें प्रकाशित लेख यदातदा वैदिक धर्म स्वाध्यायमण्डल पारडी सूरत, जागृति कलकत्ता, आर्यमित्र आगरा, दयानन्दसंदेश इन्द्रप्रस्थ, दिवाकर आगरा, आर्य सहारनपुर आदि पत्रोंमें प्रकाशित हो चुके हैं। इन पत्रोंके सम्पादकोंने अपने मूल्यवान पत्रोंमें इन लेखोंको प्रकाशित करके लेखकको उत्साहित किया है और देशमें इस पुस्तककी माँग भी पैदा की है। इसके लिये ये सब सम्पादक महानुभाव तथा इस पुस्तकके मुद्रणके लिये निष्काम सेवा भावसे इसकी अति सुन्दर प्रेसकापी कराकर देनेवाले इसे मुद्रित रूपमें देखनेके परम उत्सुक मानवसमाज जबलपुरके संचालक मेरे दिवंगत मित्र श्री हरवंशलाल विजाडी जी धन्यवादके पात्र हैं।

बुद्धिसेवाश्रम,
रतनगढ़
पौष शु० २, सं० २००७ वि०

लेखक

विषयानुक्रमणिका

स्वच्छता

स्वच्छताकी परिभाषा

मन, शरीर, वाणी, वस्त्र, वासस्थान, तथा व्यवहारकी शुद्धि स्वच्छता कहाती है। विचारवान मनुष्य स्वभावसे स्वच्छ रहते हैं। विचारवानोंका स्वभाव ही स्वच्छता कहाता है। स्वच्छ रहनेके लिये मनुष्यका विचारवान होना आवश्यक है। मनुष्य शुभ विचारों-सेही स्वच्छ रह सकता है।

स्वच्छताके क्षेत्र

स्वच्छताका सम्बन्ध मनुष्यके मन, इन्द्रिय शरीर, आदिके उपयोगी भोज्य, पेय, वस्त्र, वासस्थान तथा कूप आदि बहुतसे पदार्थोंके साथ है। इस दृष्टिसे मनुष्यका सम्पूर्ण जीवन स्वच्छता-का एक लम्बा सुअवसर है।

भीतरसे स्वच्छताका प्रारंभ

स्वच्छताका प्रारंभ भीतरसे होना चाहिये। यदि स्वच्छताका कार्य भीतरसे प्रारंभ न करके, बाहरही बाहर किया जायगा तो भीतरकी महत्वपूर्ण स्वच्छताकी उपेक्षा हो जायगी जो न होनी चाहिये। जब मनुष्य स्वच्छताका कार्य भीतर से प्रारंभ करेगा तब उसके लिए बाहर स्वच्छता रखना अनिवार्य हो जायगा। इस दृष्टिसे स्वच्छताका कार्य भीतरसे प्रारंभ करनेमें ही कल्याण है। भीतर स्वच्छता न करके बाहरही बाहर स्वच्छता करना मलिनताको ढक देना है। बगलोंकीसी बाहरही बाहरकी स्वच्छता मिथ्याचार है।

प्रत्येक क्षण स्वच्छता

इस विचारके अनुसार प्रातःकाल नींदसे जागकर रात्रिको दूसरी नींद आनेतक दिनभर निम्नप्रकारसे स्वच्छताका कार्य

चलना चाहिये—नींद खुलतेही सबसे प्रथम परमात्मा अर्थात् अपनी मानसिक स्वच्छता या पवित्रताका स्मरण करके अपने दैनिक व्यवहारमें अपने मनको शुद्ध रखनेके लिये सुदृढ विचार बना लेने चाहिये। मनको अशुद्ध रहने देकर केवल शरीर या बाह्य पदार्थोंको झाड़पोंछकर रखना स्वच्छता नहीं है। यह तो स्वच्छताका दिखावा और मनका मलिनीकरण है। इस प्रकारकी बाह्य स्वच्छतामें दूसरोंको प्रभावित करनेकी दुर्भावना काम करती रहती है। परन्तु जब मनुष्य मनमें स्वच्छताकी रक्षा करलेता है तब उसके मनमें स्वाभाविक रूपसे यह इच्छा उत्पन्न होती है कि मुझे अपने शरीर तथा उपयोगी पदार्थोंको भी स्वच्छ रखना चाहिये। शुद्ध मन अपने शरीर आदिको स्वच्छ रखना अपना कर्तव्य समझता है। वह यह काम दूसरोंके दिखावेके लिये नहीं करता। उससे स्वच्छ रहे बिना रहा नहीं जाता।

निर्दोष स्वच्छताका लक्षण

जो स्वच्छता अपने मनको स्वच्छ रखनेके विचारसे की जाती है वही पूर्णाङ्ग तथा निर्दोष होती है। जो स्वच्छता दूसरोंको दिखानेकी भावनासे की जाती है उसमें मलिनताको ढक देनेके दुर्भाव रहते हैं। परन्तु स्वच्छताका उद्देश्य मनको सन्तुष्ट करना स्थिर करलेनेपर शरीर तथा शरीरोपयोगी पदार्थोंके प्रत्येक भागको धीरजके साथ स्वच्छ करना अनिवार्य दीखने लगता है। क्योंकि मनकी प्रफुल्लता तबही स्थिर रह सकती है जबकि शरीर तथा उपयोगी पदार्थोंके प्रत्येक अंग स्वच्छ कर लिये गये हों। मन शुद्ध होनेपर शरीर तथा उसके उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंको शुद्ध रखना ही पड़ता है। मनका शुद्ध होना समस्त शुद्धियोंका मूल है। मनके विकृत हो जानेसे आलस्य उत्पन्न हो जाता है। तब शरीर तथा उसके उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंकी मलिनता सह्य बन जाती है।

शारीरिक स्वच्छताका अन्तिम ध्येय

शरीरकी स्वच्छताका अन्तिम उद्देश्य शरीरको शुद्ध कर्म अर्थात् सेवाकर्यके उपयोगके योग्य बनाये रखना है उसे सजाना नहीं। यह उद्देश्य जिन कर्मोंसे नष्ट होता हो और शरीरमें आलस्यका प्रवेश होता हो, उनमें ऊपरी स्वच्छता दीखनेपर भी स्वच्छताका लेष भी नहीं है। जो स्वच्छता शरीरको कर्मसे बचाकर रखनेवाली हो जाती है जो अंगुलियोंसे वस्त्रोंकी धूल झड़वाती रहती हैं या जो शरीरको आलसी तथा कर्मविमुख बनाडालती है वह स्वच्छता स्वच्छता नहीं है। वह स्वच्छता वातावरणमेंसे मलिनता (मानसिक अपवित्रता) को खेंचनेवाले और उसमें मलिनता फैलाते रहनेवाले मलिन मनकी दुष्टरचना होती है। वह दूसरोंको अपने विषयजाल-में फंसानेवाली स्वच्छता होती है। मनुष्यको ऐसी वंचक स्वच्छता-को घृणाभरी दृष्टिसे देखना चाहिये। सेवा कर सकनेकेलिये शरीर-में किसी प्रकारकी न्यूनता न रहने देनाही शरीरकी स्वच्छता है। शरीरको सेवाकेलिये पूर्ण तत्पर रखना तथा स्वच्छ रहना एकही बात हैं।

स्वच्छताको केवल शुद्ध मन पहचानता है

आपात दृष्टिमें लुभावनी वस्तुओंको स्वच्छ सुन्दर कहा जाता है। परन्तु पदार्थोंकी बाह्य सुन्दरता सुन्दरता नहीं है। बात तो यह है कि सुन्दरता इन्द्रियाँको दीखतीही नहीं। वह इन्द्रियोंको दीखनेवाला पदार्थ ही नहीं है। सुन्दरता सुसंस्कृत मनको दीखने-वाली वस्तु है। सुन्दर वस्तु उसे कहा जाता है, जिसमें शुद्ध (संस्कृत) मनको अशुद्धता न दीखती हो। शरीरके चमड़ेके उज्ज्वल होनेकेसाथ वास्तविक सुन्दरताका कोई सम्बन्ध नहीं। शरीरके चमड़ेका रंग चाहे जैसा होनेपरभी यदि उसमें मलिनता दोष नहीं है तो उसे सुन्दर कहा जायगा। सुन्दरताके तुल्य मलिनता-को पहचाननेकी शक्तिभी केवल शुद्ध मनमें होती है। अशुद्ध

मन निपट मूर्ख होता है। वह शरीरके चमड़ेकी दीप्तिपर मुग्ध हो जाता है और मलिनताको परखनाभी छोड़ बैठता है। वह मलिनतासे प्रेम किया करता है। वह केवल मलिनताको ढक देना चाहता है

मनकी स्वच्छता ही स्वच्छताका मूल रूप है

दूसरोंको दिखानेके लिये स्वच्छ रहना स्वच्छ रहनेका उद्देश्य कदापि नहीं मानना चाहिये। मनुष्यको स्वच्छ रहनेके लिये ही स्वच्छ रहना चाहिये। स्वच्छ रहना सुखी जीवनकेलिये परमावश्यक है। स्वच्छ रहनेके साथ मनुष्यके स्वास्थ्य अर्थात् जीवन मरणका सम्बन्ध है। जिस स्वच्छतापर मनुष्यके जीवनमरण अवलम्बित हैं वह स्वच्छता मूलमें मनकी शुद्धता ही है। मनकी शुद्धता मनुष्यका जीवन है। मनकी अशुद्धता जीवनको खोदेना और मरणको अपनालेना है। मनही मनुष्य है; शरीर नहीं। शुद्ध मनही मनुष्यका स्वरूप है। शुद्ध मनको तबही सुख होता है जब वह अपना कर्तव्य पालनकर चुकता है। कर्तव्यपालन न करना मनके अशुद्ध या अस्वच्छ होनेका स्पष्ट चिन्ह है। अशुद्ध मन चाहे जितने दिव्य भोगोंमें लोटता रहे, परन्तु उसे कर्तव्यभ्रष्टता-रूपी महान दुखतो आठों पहर भुगतना ही पड़ता है और वह अपनेको महान मनुष्य न बनानेका घोर पाप करता-करता पतित बना रहता है। जिस कर्तव्यपालनके साथ मनके सच्चे सुखका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, यह मनुष्यशरीर मनुष्यको उसी कर्तव्य पालनके साधनके रूपमें मिला है। शरीरके मलिन रहनेसे कोई भी रोग उत्पन्नहो सकता है और वह मनुष्यके कर्तव्यपालनका विघ्न बन सकता है। इसलिये कर्तव्यपालनके विघ्न रूप उस मलिनताको हटाना स्वच्छताका वास्तविक अभिप्राय है।

निर्दोष जीवन बितानाही स्वच्छता धर्मका प्राण है

शरीरसे कर्तव्य पालन करानेवाला पुरुष प्रातःकाल उठतेही

प्रतिदिन निम्नरीतिसे ईश्वरस्मरण अर्थात् अपने शुद्ध मनका दर्शन् करता है कि "मैं भला हूँ। मैं अपने दिनभरके सब कामोंमें भला रहूँगा। मेरा शुद्ध मनही मेरा ईश्वर है। मेरे मनका शुद्ध होनाही मुझपर मेरे ईश्वरकी कृपा है। मैं अपने ऊपरसे इस ईश्वरीय कृपा को नहीं हटने दूँगा। मैं अपने मन में निर्बलता नहीं आने दूँगा। मैं न तो स्वयं किसीसे डरूँगा और न किसी दूसरे को डराऊँगा, मैं लोभ तथा डाह न करूँगा, मैं कभी कर्तव्यहीन न रहूँगा, मैं कभी अनियमित भोजन, व्यर्थ बात या आलस्य नहीं करूँगा, मैं काम में पूरा मन लगाऊँगा, ढीलेपनसे काम नहीं करूँगा, कामको अधूरा नहीं करूँगा, अपना कर्तव्य दूसरोंसे नहीं कराऊँगा, दूसरों का कर्तव्य नहीं करूँगा, न तो स्वयं कर्तव्यविमुख हूँगा और न किसी दूसरेको कर्तव्यविमुख करूँगा, किसी मनुष्य या किसी पदार्थसे मोह न करूँगा, किसीका अपमान न करूँगा।" शरीरसे कर्तव्यपालनका मर्म जाननेवाले पुरुष इसी प्रकारके व्यवहार संशोधक ईश्वरका स्मरण करते हैं और दिनके प्रारम्भमेंही अपने समस्त कार्योंमें स्वच्छ-पवित्र रहनेका निश्चय ठान लेते हैं। वे आलस्यद्वेषी तथा कर्तव्यनिष्ठ बने रहकर अपने आपको सम्पूर्ण अपवित्र प्रसंगोंसे बड़ी तत्परतासे बचाते हैं। काम क्रोध आदि उत्तेजनाओंके बसमें होकर देहको किसी काममें लगानेसे स्वच्छताधर्मका प्राण निकल जाता है। देहको काम-क्रोध आदिकी आज्ञा न मानने देना या उससे बचाते रहना ही स्वच्छताधर्मका प्राण है।

स्वच्छताके दैनिक कार्य

स्वच्छताका मर्म जाननेवालेको भीतरकी मानसिक स्वच्छता से दैनिक जीवनका प्रारम्भकरके जंगल या स्वच्छ शौचालयमें शौच जाना चाहिए। हाथ-पैर माँज-धोकर दाँत-जीभ, आँख-नाक, कान और मुखको पानी कुल्ला दातुन नस्य आदिसे भले प्रकार स्वच्छ करना चाहिये। दातुन करनी चाहिये तथा तेलका नस्य लेना

चाहिये। स्नान करते समय शरीरको भले प्रकार भीगे अंगोछेसे रगड़ना चाहिये। स्नानमें साबुनका प्रयोग अनुचित है, इससे शरीर की त्वचाके स्वास्थ्यकी हानि होती है। साबुनके स्थान पर आमले या दहीका प्रयोग करना चाहिये। अंगोछेकी रगड़से समस्त रोमकूप पसीना निकलनेके लिये खुल जाते हैं। तेल लगाने-के पश्चात्‌भी साबुनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। उसे भी किसी वस्त्रसे पोंछकर फिर अंगोछेसे पोंछ डालना चाहिये। उसके अनन्तर पवित्र वस्त्र पहनकर प्रसन्न चित्तसे दिनके कामोंमें लगना चाहिये।

वस्त्रसम्बन्धी पवित्रताका रूप

पवित्र वस्त्र पहनना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है। वस्त्र मनुष्य समाजकी विशेषता है। मनुष्य भोजन बिना दो चार दिन रह सकता है परन्तु वस्त्र विना एक क्षणभी नहीं रह सकता। वस्त्र हाथ कते सूतका और हाथसे बुना हुआ होना चाहिए। क्योंकि उसमें मनुष्योचित कर्तव्य करचुकनेका सन्तोष समाया रहता है, उसमें पहननेवालेके कर्तव्यकी अवहेलनाके चिह्न या अपने समाजकी कर्मशक्तिको सुला देनेका शाप लगा नहीं होता। देहपर पहने वस्त्र-से मैले भीगे हाथ या नासिका आदि नहीं पोंछने चाहिए। देहपर पहना वस्त्र निर्मल जल रेही या दूसरे साबुन आदि शोधक द्रव्योंसे धुला हुआ, पसीनेके गंध तथा धूलसे रहित होना चाहिए। एक दिन पहना वस्त्र अगले दिन जलमें धोये विना नहीं पहनना चाहिए। भड़कीले या माँडी लगाये हुए वस्त्र नहीं पहनने चाहियें। ऐसे वस्त्र देखनेमें चाहे जितने निर्मल दीखें वे निर्मल नहीं होते। उनपर चिकनी या श्वेत रंगकी मोहक मलिनता पुती रहती है। माँडी आदिसे सुन्दर बनाये हुए वस्त्रोंकी मलिनताको केवल शुद्ध मन पहचान सकताहै। ऊर्ध्वगामी मनुष्यको इस प्रकारके वस्त्रोंसे सदा बचना है। ऐसे वस्त्रोंसे पहननेवालेकी दुर्बल मानसिक दशा प्रकट होती है।

अपने हाथोंसे वस्त्रशुद्धि

अपने पहिननेके वस्त्र स्वयं धोने चाहियें। अपने दैनिक व्यवहारके उन वस्त्रोंको जिन्हें हम अपने दैनिक कर्मोंकी अवहेलना किये विना स्वच्छकर सकते हों दूसरोंसे स्वच्छ नहीं कराना चाहिये। उन्हें दूसरोंसे स्वच्छ करानेसे पहननेवालेकी आत्मनिर्भरता नष्टहो जाती है। मनुष्यकी आत्मनिर्भरताका नष्ट हो जाना उसका सर्वस्व नष्ट हो जानेके बराबर है। ऐसे मनुष्यका स्वच्छतासे प्रेम नहीं होता। यदि हम स्वच्छताके कार्यको अपना कर्तव्य समझते हुएभी दूसरोंसे कराते हैं तो यह स्वच्छतासे प्रेम न करनेकी सूचना होती है। इसे स्वच्छतासे अप्रेम तथा स्वच्छताके दिखावेसे प्रेम करना कहा जायगा।

स्वयं वस्त्रशुद्धिके लाभ

यदि हम अपने वस्त्र दूसरोंसे स्वच्छ करायेंगे तो हमें बहुतसे वस्त्र रखने पड़ेंगे। हमारा मन उन बहुतसे वस्त्रोंके उपार्जन, उनकी देख-भाल करने और बनानेमें व्यग्र और चिंतित हो जायगा। बहुत वस्त्र बनानेकेलिये बहुत उपार्जन करना पड़ेगा। बहुत उपार्जन करना दूसरोंका अधिकार छीने विना संभव नहीं है। जब एक वस्त्र मलिन हो जायगा तब उसे धोबीकी प्रतीक्षामें घरमें मैला रखना होगा तथा इसी प्रकार दूसरे-तीसरे चौथे आदि वस्त्र मैले करने पड़ेंगे। यह सब धन-शक्तिका दुरुपयोग होगा। अपने वस्त्र अपने हाथसे स्वच्छ करनेकी अवस्थामें इने गिने वस्त्रोंसे अल्पव्ययसे, स्वल्प अर्जनसे, निर्वाह हो जायगा तथा मलिनताको घरमें एकत्रित कर रखनेकी अवस्था भी न आयेगी। घरमें धोबीकी प्रतीक्षामें मैले वस्त्रोंकी गठरी पड़ी रहे और वह मोटी होती चली जाय यह घरके सदस्योंके लिये बड़ी हीनताकी बात है।

भृत्योंसे स्वच्छता करानेसे स्वभाव अस्वच्छ हो जाता है।

दूसरोंकी दृष्टिमें स्वच्छ बननेके अभिप्रायसे भड़कीले उज्वल वस्त्र

पहनकर, दास-दासियोंके स्वच्छ किये वैभवपूर्ण भवनमें विलासकी सामग्रियोंसे घिरे रहना स्वच्छता दीखनेपर भी स्वच्छता नहीं है। अपने मनको प्रतिक्षण स्वच्छ रहनेका सन्तोष देते रहना ही यथार्थ स्वच्छता है। स्वच्छताका सन्तोष उन्हींको मिलता है जो अपने हाथोंसे स्वच्छता करते और उसका दिव्यानन्द भोगते हैं। जो औरोंसे स्वच्छता कराकर स्वच्छ रहते हैं वे स्वच्छताका दिखावा तो कर देते हैं, परन्तु उनका स्वभाव उत्तरदायित्वहीन बन जाता है। उनका स्वभाव मैल उत्पन्न करनेवाला बनते-बनते मलिन होता चला जाता है। ऐसे मलिन स्वभावोंके प्रदर्शन श्रीमान कहलानेवालोंके परिवारोंमें बहुधा होते रहते हैं। ऐसे श्रीमान समझे हुए लोग वेतनसे मोल ली हुई दास-दासियोंकी शारीरिक शक्तिपर निर्भर होते होते अन्तमें हाथ पैरके रहते हुए भी अपंग बन जाते हैं। ऐसोंके मन सब प्रकारकी मलिनताकी खान हो जाते हैं। इन श्रीमान लोगोंके भृत्योंमें इनके कार्योंके लिये भीतर कोई उत्साह नहीं होता। वे केवल इन्हें प्रसन्न रखने और किसी प्रकार इनपर अपना वेतन चढ़ा देनेकी भावनासे काम करते हैं। इस परिस्थितिमें कार्यको कर्ताका प्रेम नहीं मिल पाता। प्रेम न मिलनेके कारण इनके दिनभरके काम मलिन होते हैं। जिसका कर्तव्य हो वह तो कर्म न करे जो कर्म करता हो उसके मनमें कर्तव्य-बुद्धि न हो यह किसी कर्मकी अतिशोचनीय परिस्थिति है। श्रीमान लोगोंके भव्य भवनोंमें स्वामी और भृत्य दोनों मिलकर इसी शोचनीय मलिनताको स्थायी बनाते रहते हैं। जो बच्चे इस प्रकारके कर्तव्यहीन दूषित वातावरणमें पाले जाते हैं वे यद्यपि बाहरसे देखनेमें स्वच्छ उज्वल मनोरम वेष-भूषा बनाना सीख लेते हैं। परन्तु अपने हाथोंसे कार्य न करनेके मलिन स्वभावको ग्रहण करके मलिन माता-पिताके मलिन सन्तान तथा सब प्रकारके मानसिक रोगोंवाले सन्तान बननेसे नहीं बचते। अपने हाथोंसे अपना कार्य करनेके सुन्दर अभ्यासको ही स्वच्छ जीवनका मूलमन्त्र समझना चाहिये। यदि मनुष्य इस कसौटीपर परखकर स्वच्छ जीवन व्यतीत

करने लगे तो वह सब प्रकारकी कठिनाइयों, अपवित्रताओं और अपव्ययोंसे मुक्त हो सकता है और अपने जीवनको सरल सुलभ अल्पव्ययसाध्य तथा पवित्र बना सकता है।

वस्त्रोंको सुन्दर बनानेके उपाय

नित्यके उपयोगमें आनेवाले वस्त्रोंकी धूल तथा पसीनेको नित्य जलसे या आवश्यक हो तो रेही, साबुन आदि शोधक द्रव्योंसे धोकर दूर करना चाहिये। यही वस्त्र-शुद्धिका वास्तविक रूप है। वस्त्रोंकी इस स्वच्छतासे सन्तुष्ट न होकर उन्हें माँडी आदिसे सुसज्जित करना अनावश्यक तथा घातक है। स्वयं अपने हाथसे वस्त्र धोनेकी अवस्थामें वस्त्र बहुत दिनों तक निर्मल तथा चिरायु रह सकते हैं। अपने हाथोंसे स्वच्छता करनेका व्रत धारण कर लेनेपरही मनुष्यको वस्त्रोंको इस प्रकार निर्मल रखनेकी कलाका परिज्ञान होता है।

स्वच्छता पैसेपर निर्भर नहीं है

अपने हाथोंसे स्वच्छता धर्मका पालन करनेवालोंको स्वच्छ रहनेके वे साधन ढूँढनेपर बिना मूल्य मिल सकते हैं जिन्हें सृष्टिने उनके आस-पास उनके लिए कहीं न कहीं उत्पन्न कर रक्खा है। स्वच्छता धर्मका पालन करनेके लिए पैसे या व्ययके बन्धनमें रहनेकी आवश्यकता नहीं है। पैसेका जीवन अस्वाभाविक अवस्था है। जिस प्रकार ग्रामके धोबी बिना पैसा व्यय किये अपने आस-पाससे रेही आदि लेकर वस्त्र शोधन करते हैं इसी प्रकार यदि प्रत्येक मनुष्यने ऐसा करनेका निश्चय कर लिया हो तो वह बिना व्ययके वस्त्रशुद्धि कर सकता है। स्वच्छता-धर्मका पालन करनेके लिए व्ययपर वही निर्भर होता है जो इस धर्मको त्यागकर कर्तव्यभ्रष्ट होनेके लिए आलस्यको अपनाता है। ऊपर कहे प्रकारसे वस्त्रोंके सम्बन्धमें स्वच्छता धर्मका पालन करनेपर जहाँ बहुतसा अनावश्यक व्यय बचता है वहाँ वस्त्रोंकी निर्दय कुटाई भी बन्द हो जाती है और उन्हें लम्बी आयु मिल जाती है। यों अपने हाथों वस्त्रोंकी स्वच्छता करनेसे जहाँ स्वभाव

अच्छा होता है वहाँ वस्त्रोंकी आयु लम्बी हो जाने तथा उनकी संख्या घट जानेसे बहुतसा अनावश्यक व्ययभार भी घट जाता है। जब व्ययभार घटता है तब वह मनुष्यके मनके स्वच्छ निश्चिन्त रहनेका भी साधन बन जाता है।

स्वयं वस्त्रशुद्धि करने तथा स्वभाव बनानेका महत्वपूर्ण प्रश्न

बहुधा यह समझा जाता है कि शोधक द्रव्यों (साबुन आदि) से वस्त्र धोनेमें व्यय अधिक पड़ता है। वर्ष भरमें कुछ अनाज धोबीको देकर उससे वस्त्र शोधन करानेकी परिपाटीमें व्यय न्यून होता है, परन्तु यह विचार त्रुटिपूर्ण है। इस विचारमें एक तो स्वालम्बी स्वभाव बनानेका महत्वपूर्ण प्रश्न उपेक्षित हुआ है दूसरे इसमें धोबीसे अनाजका पूरा बदला लेनेका विचार भी रहता है। इसलिए वस्त्रोंपर साधारणसी धूल लगते ही उन्हें धोबीके घर भेज दिया जाता है और धोबीकी भट्टी तथा कुटाईमें उनकी आयु छोटी करवायी जाती है। इसके साथही वस्त्र शीघ्र बदलने पड़ते हैं। धोबीको दे सकने और पहनते रह सकनेके लिए वस्त्रोंकी संख्या आवश्यकतासे कई गुनी रखनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त अपने हाथसे स्वच्छता न करनेका प्रण कर बैठनेके कारण धोबीकी प्रतीक्षामें घरमें मैला वस्त्र पहनकर रहनेका स्वभाव पड़ जाता है। इस परिस्थितिका मनुष्यके स्वभावपर घातक परिणाम होता है। इस स्वभावके पुरुष बहुधा घरमें मैला वस्त्र पहनकर रहते हैं। बहुतसे लोग नीचेके वस्त्रको मैला रहने देते हैं ऊपरका स्वच्छ रखते हैं और बाहर जाते समय धुला वस्त्र पहनते हैं। कभी स्वच्छ रहना और कभी मैला रहना आधा स्वच्छ रहना और आधा मलिन रहना मनका मैलापन है। सदा स्वच्छ रहना और पूर्ण स्वच्छ रहना ही स्वच्छता है। स्वच्छताका सिद्धान्त घर बाहर दोनों स्थानोंपर भीतर-बाहर एकसमान स्वच्छ रहनेसे पालित होता है। अपने स्वच्छता धर्मको दूसरोंसे पलवानेवाले लोग स्वच्छता धर्मका बलिदान करके स्वयं भी आलसी बनते हैं तथा अपने बालकों

को भी दूसरोंके ऊपर आश्रित होनेवाले निकम्मे मलिन सुखिया तथा अमर्यादित जीवन वितानेवाले वना देते हैं और उनके भावी जीवनको अपने हाथोंसे विनष्ट कर डालते हैं। वे अपने सन्तानोंके जीवनमेंसे स्वावलम्वी बननेकी प्रत्येक संभावना और सुअवसरको जान बूझकर टाल देते हैं। यह उनका अपनी सन्तानके प्रति कितना अत्याचार है ?

स्वयं वस्त्रशुद्धि न करनेके लिए भ्रान्तयुक्ति

अपने हाथोंसे स्वच्छता करनेके विरोधमें धोवी आदिकी जीविका नष्ट होनेके पातकका निस्सार भय दिखाया जाता है। इसके सम्वन्धमें इस प्रकार सोचना चाहिये—जब कोई मनुष्य अपना कर्तव्य छोड़ता है और उसे दूसरेसे कराकर आलसी बनता है, तब वह किसीको जीविका देनेवाला कृपालु होकर ऐसा नहीं करता। ऐसे पुरुषोंमें दूसरोंकी जीविका चलानेवाला उदार भाव काम नहीं किया करता। वे तो अपने जीवनमें आलस्यको अवसर देनेके लिए ही ऐसा करते हैं। उन लोगोंकी दी हुई दूसरोंकी जीविका चलानेकी युक्तियाँ अपने आलस्यका कपटयुक्त समर्थनमात्र होता है। मनुष्य दूसरोंकी जीविका चलानेके लिए अपना अधःपतन कर ले यह युक्तियुक्त नहीं है।

यदि इस दृष्टिको सामने रखकर समाजके मैला उठानेवाले आदि वे सबके सब मैलजीवी धोवी, भंगी आदि जो कि समाजके भीतर रोगके कीटाणुओंकी स्थितिमें रह रहे हैं और पतित समाजके पतित भाग वनकर समाजके तथा अपने पातित्यसे अपनी जीविका चला रहे हैं, अपने सामनेसे मैलेको हटादें और अपनी इस मलिन जीविकाका अन्त करके किसी महत्वसूचक उद्योगको या स्वतंत्र पवित्र वास्तविक कल्याण करनेवाली किसी कलाको अपना लें, और अज्ञानान्ध समाजके दिये हुए नीचे आसनको ठुकराकर अपने हाथोंसे अपना उच्च आसन वना लें तो उनका भी पतितावस्थासे उद्धार हो तथा इससे

समाजका भी परम कल्याण हो। दूसरोंके किये हुए मैलको स्वच्छ करके अपनी जीविका चलानेवाले लोग समाजके पतनकी घोषणा करते हैं। पतित समाज अपनेमें से ही चातुर्यहीन मनुष्योंको पद-दलित कर लेता है और अपनी उच्चताका मिथ्या सन्तोष भोगता है। आदर्श मनुष्य-समाज अपने प्रत्येक अंगको समान भावसे सम्मानित करके, उसे सदाही ऊपर उठनेका अवसर देता रहता है।

मनको आलस्यसे मुक्त रखना स्वच्छताका आदि रूप है

इस दृष्टिसे स्वच्छता मोल लेनेकी वस्तु नहीं है। किन्तु अपने हाथोंसे पालने योग्य धर्म है। दूसरोंसे स्वच्छता कराना मलिनता बटोरना है। इस अभ्यासको देखतेही मनुष्यके मनका आ-लस्य प्रकट होता है। मनको आलस्यरूपी मैलसे मुक्त रखनाही सच्ची स्वच्छता है। यही स्वच्छता सम्पूर्ण स्वच्छताओंकी जननी है। आलस्यही मनकी मलिनता है। इस दृष्टिसे फटे वस्त्र पहनना भी मनका आलस्य है। फटे वस्त्रको सीकर पहनना स्वच्छता है।

वासस्थानकी स्वच्छताके तीन प्रकार

वस्त्रोंकी स्वच्छताके पश्चात् निवासस्थानकी स्वच्छता निम्न तीन प्रकारसे करनी चाहियेः—(१) घरकी पहली स्थूल स्वच्छता घरके कूड़े कचरेको झाड़ू आदिसे बुहारा जाय, कूड़ा गेरनेका स्थान नियत हो। छिलके आदि जहाँतहाँ न गेरकर नियत स्थानपर डाले जाँय। घरको दिनभर स्वच्छ रखनेका पूरापूरा ध्यान रक्खा जाय, तथा घरोंमें मकड़ी जाले भिड़ आदिके छत्ते, चूहे आदिके बिल न रहने दिये जाँय। (२) घरकी दूसरी सूक्ष्म स्वच्छता यह है कि घरमें रक्खे हुए सब पदार्थ नियत स्थान पर झाड़े-पोंछे तथा स्वच्छ अवस्थामें हों और उपयोगके लिये नियत स्थानसे उठाये हुए पदार्थ उपयोग समाप्त होतेही फिर पूर्ववत् अपने स्थानमें पहुँचा दिये जाँय, खाने-पीनेके प्रत्येक पदार्थ ढककर रक्खे हुए हों, जिससे उसमें चूहे छिपकली, मकड़ी, कीड़े आदि किसी भी प्रकार न घुस सकें। खान-

पानके पदार्थों या औषध आदिको ढककर न रखना वा औषधादि पर उसका नामल्लेख न रहना अस्वच्छता है। यह स्वभाव भयंकर अनिष्टको बुलानेवाला है। क्योंकि खुले रहनेपर छिपकली चूहे आदि विषैले जन्तु उन्हें अखाद्य तथा अपेय विष बना डालते हैं। इस असावधानीसे कभी-कभी कठिन रोग होकर अकाल मृत्युतक हो जाती है। (३) घरकी तीसरी अति सूक्ष्म स्वच्छता घरमें अनावश्यक पदार्थ न रहने देना है। जो पदार्थ हमारे उपयोगमें कभी न आयें वे अनावश्यक हैं। ऐसे पदार्थोंको कूड़ा मानकर घरसे बाहर कर देना चाहिए। वे पदार्थ अपने पास कीड़ों तथा मच्छरोंको पालकर घरकी वायुको दूषित करते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी रक्षाकी चिन्तामें व्यग्र रहनेके कारण मन भी मलिन हो जाता है।

घरोंको सुशोभित करनेके सम्बन्धमें भी स्वच्छताका ध्यान रखना चाहिये। प्रायः लोग अपने घरोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके ऐसे चित्र टाँगकर घरको शोभित करनेका असफल प्रयत्न करते हैं जिनके साथ मनुष्यजीवनका या जीवनके आदर्शका कोई सम्बन्ध नहीं बताया जा सकता। उदाहरणके रूपमें एक ओर तो एक महात्माका चित्र टाँगा जाता है और दूसरी ओर कई पदक लटकानेवाले मुकुटधारी राजमानी आदर्शहीन मनुष्यका चित्र टाँग लिया जाता है। घरको इस प्रकार शोभित करनेकी मनोवृत्ति केवल विचारहीन तथा लक्ष्यहीन पुरुषोंमें पायी जाती है। हमने प्रातःकाल उठते ही जिस परमात्माका स्मरण करके अपने मनको शुद्ध रखनेका संकल्प किया है हमें घरमें उस मानसिक पवित्रता रूपी परमात्माको भुलानेवाली कोई भी वस्तु रखना या टाँगना अनावश्यक पदार्थोंका संग्रह करना है।

मनको शुद्ध रखनेके लिए शुद्ध वातावरण उत्पन्न करना भी स्वच्छता है। इस भावको लेकर अपने घरको दिखाऊ उपचारोंसे सजानेका प्रयत्न छोड़कर घरको सौम्य, शान्त, अभड़कीला, सादा रखना चाहिये। उसमें जहाँ तहाँ मनुष्य जीवनके लक्ष्यका स्मरण

करानेवाले आदर्श वाक्य लिखकर टाँगने चाहियें जो पारिवारिकोंको सत्यका स्मरण कराते रहें। बालकोंको जो सद्गुण सिखाना हो या जिन सिद्धान्तोंपर उनका या अपना जीवनयापन करना हो उसके स्मारक वाक्योंसे घरको सजाकर पवित्रताका वातावरण बनाना चाहिये। घरमें पुण्यकीर्ति महात्मा लोगोंके चित्र टाँगना भी स्वच्छता है। उसमें लटके हुए माला आदि भजनके साधन, न्यूनसे न्यून पदार्थ, तथा नंगी स्वच्छ भित्तियें स्वच्छताके सर्वोत्तम चिह्न हैं। घरके आसपास चारों ओर भी स्वच्छता रखना आवश्यक है।

शौचालय, भोजनालय तथा कूपकी स्वच्छता

जिन पदार्थोंसे हमारे जीवनका सम्बन्ध है उन सबके साथ हमारा स्वच्छताका कर्तव्य नियत है। हमें इस कर्तव्यको पहचानना चाहिए और बड़ी तत्परतासे अपने भागको स्वच्छ करना चाहिए। इस दृष्टिसे शौचालय, भोजनालय तथा कूपके साथ भी हमारे स्वच्छताके कर्तव्य हैं। उनको ध्यानमें रखकर गाँवसे दूर गड्ढा खोदकर टट्टी जाना चाहिये और शौचके पश्चात् मलको मिट्टीसे ढककर स्वच्छता-धर्मका पालन करके वहाँसे हटना चाहिये। जलाशयों या घरोंके आसपास मल त्यागकर वहाँकी भूमि तथा वायुको मलिन अस्वच्छ बनाना बहुत हानिकारक है। क्योंकि वही मल सूखकर पैरोंसे पिसकर वायुमें उड़कर आँख, नाक, कान तथा स्वाँसमें घुसता है और सबको रोगी बनाता है। यदि जंगल में शौच जाना संभव न हो तो स्वच्छ शौचालयमें शौच जाना चाहिये। शौचालयमें एक पात्रमें मिट्टी या राख रखनी चाहिये। उस राखमें एक करछा पड़ा रहना चाहिये जो मलपर राख डालनेके काम आया करे। प्रत्येक मनुष्यको शौचके पश्चात् मक्खी तथा दुर्गन्धको हटानेके लिये मलपर मिट्टी या राख डालनी चाहिये। इसी प्रकार भोजनालय और कूपके सम्बन्धमें भी स्वच्छता धर्मका पालन करना चाहिये। अन्नका पानी या जूठन या तो किसी पशुको देनी चाहिये या

भोजनालयसे दूर किसी ऐसे स्थान पर या खेतमें डालनी चाहिये जहाँ वह खाद बन सके। खादसे खेतोंको उपजाउ बनानेवाला भोजन प्राप्त होता है। खाद अन्नदात्री भूमिका भोजन है। खाद राष्ट्रीय आवश्यकता है। वह राष्ट्रका मूलधन है। उसकी पूरी संभाल होनी चाहिये। कूपमें अन्नकण लगे हुए पात्र या मिट्टीसे सने हुए डोल आदि न डालने चाहियें। दातुन आदि भी कूपसे दूर फेंकनी चाहिये। उपयोगमें आचुकी हुई दातुन खटकनेवाले स्थानमें न डालनी चाहिये। कूपमें मिट्टी, कंकर, तिनके या लकड़ी आदि न गिरनेका प्रबन्ध रखना चाहिये और कूपके आसपास मलिन जल न ठहरने देना चाहिये। नहीं तो वही मलिन जल भूमिमेंसे छनकर फिर लौटकर कूपमें पहुँचेगा और फिर वही पीना पड़ेगा जो स्वास्थ्यकी हानि करेगा।

स्वच्छताधर्मसेही समाज-बन्धन सुरक्षित रहता है

जानबूझकर की हुई स्वच्छतासे सामूहिकरूपमें सबोंका लाभ होता है। इस भावनासे सबको स्वच्छतामें सक्रिय भाग लेना चाहिये। मनुष्यको यह सोचना चाहिये कि जिसमें एकका कल्याण है उसीमें सबका कल्याण है। जिसमें सबका कल्याण है, उसीमें एक एकका कल्याण है। जिस स्वच्छतामें समाजको परस्पर संबद्ध बनाये रखनेकी महान शक्ति है, जब मनुष्य उस स्वच्छता-धर्मका पालन नहीं करता तब उसके परिणामस्वरूप ग्रामों या घरोंमें विशुचिका, ताऊन जैसी घातक महामारी फैल जाती है। तब प्रत्येक मनुष्य घर या ग्राम को छोड़कर भागजाना चाहता है। स्वच्छ न रहनेका स्वभाव नवीन घरको भी मलिन बना देता है और उसे भी निवासके अयोग्य बना डालता है। इससे यही परिणाम निकलता है कि मनुष्यका, समाज, ग्राम या नगर बनाकर रहना तबही तक निभ सकता है जबतक मनुष्य मनुष्यसमाजको परस्पर बाँध रखनेवाले स्वच्छता-धर्मका पालन करता हो। जिस धर्ममें मनुष्यसमाजको सुखपूर्वक जीवन

निर्वाह करानेकी अनन्त शक्ति है, तथा जिसकी अवहेलना करनेसे समाज छिन्न-भिन्न हो जाता है, उस स्वच्छता धर्मको छोटा या नीच धर्म समझना और उसे स्वयं अपने हाथोंसे न करके दूसरेसे कराना विचारकी हीनता है। जबतक मनुष्य स्वच्छता धर्मको पवित्र कर्तव्य नहीं समझेगा तबतक उसे इस कामको श्रद्धापूर्वक करनेका आत्मबल प्राप्त नहीं होगा। इस धर्मको पवित्र समझ लेनेपर ही मनुष्य इसे श्रद्धापूर्वक करेगा। जिस दिन मनुष्यको यह दृष्टि प्राप्त होगी उस दिन मनुष्य देखेगा कि टट्टीकी स्वच्छता तक मनुष्य को अपने ही हाथोंसे करनी चाहिये। या तो मनुष्यको मलोत्सर्जन ऐसे स्थान पर करना चाहिये जहाँ मलकी खाद रूपमें आवश्यकता हो या कोई ऐसा ढंग निकालना चाहिये कि सफाईका काम किसी दूसरेसे न कराना पड़े।

स्वच्छताको सब कार्योंसे अधिक महत्व देकर उसे अपने हाथों करना चाहिये

स्वच्छता-धर्मको नीच धर्म समझनेकी अवस्थामें ही दूसरोंसे स्वच्छता कराने की इच्छा होती है और इस कामके लिये नीची श्रेणीके लोग ढूँढे जाते हैं। स्वच्छताके कार्यको नीच कार्य तथा स्वच्छता करनेवालेको नीच व्यक्ति समझना मनुष्यका अज्ञान है। स्वच्छता करनेवालोंको नीच समझनेकी नीची भावनासे इस विषयपर विचार करना छोड़ देना चाहिये। इस विषयमें प्रचलित परिपाटीकी उपेक्षा करनी चाहिये। टट्टी आदि उठानेके स्वच्छताके कामोंको प्रचलित परिपाटीकी दृष्टिसे न देखकर उन्हें स्वच्छताके पवित्र कार्यके रूपमें देखना चाहिये। प्रत्येक घरमें मातायें अपने बालकोंका मैल स्वयं उठाती हैं। जिस प्रकार मातापिता या समाजकी सेवा आदि पवित्र कर्तव्य अपने हाथसे किये जाने पर ही सन्तोष देते हैं उसी प्रकार स्वच्छताके पवित्र कार्यको अन्य सब कार्योंसे अधिक महत्व देना चाहिये। इसलिये देना चाहिये कि जब स्वच्छताके न

रहनेसे तीव्र दुर्गन्ध आदि दोष उत्पन्न हो जाते हैं और रोगोंको उत्पन्न कर देते हैं तब अन्य सब धर्मोंको मध्यमें ही बन्द कर देना पड़ता है।

सामाजिक स्वच्छताका लक्ष्य

जब मनुष्यसमाज स्वच्छताको पवित्र धर्म समझकर इस कार्यको अपने उत्तरदायित्वमें लेगा, तब उसका शुभ-परिणाम यह होगा कि स्वच्छताको नौकरोंके हाथोंसे अपमानित न होना पड़ेगा किन्तु उसे स्वच्छता चाहनेवालोंका प्रेम प्राप्त हो जायगा और उसमें पूर्णता भी आ जायगी। तब ग्रामोंमें भी स्वच्छता चाहनेवालोंकी शुभ इच्छाओंसे चलनेवाली तथा स्वयंसेवकोंके द्वारा संगठित स्वच्छता समितियाँ (म्यूनिसिपैलिटियाँ) चालू हो जायँगी। स्वच्छता-धर्मका पालन सामाजिक जीवनको सुदृढ बना देगा। सामाजिक स्वच्छताका यही एकमात्र लक्ष्य है।

पवित्र कर्तव्योंकी अवहेलनामें धनका उपयोग न करना चाहिये

यद्यपि मनुष्य बहुधा धनव्यय करके स्वच्छता रखते हैं परन्तु स्वच्छताकी यह पद्धति आदर्शमनुष्यसमाजको जिस प्रकारका होना चाहिये उसके सर्वथा विरुद्ध है। यदि किसीके पास धन हो तो उसका भोजनादि तथा समाजसेवा आदि परमावश्यक कार्योंमें उपयोग किया जा सकता है। धनका मनुष्यको मनुष्य बनाये रखनेवाले पवित्र कर्तव्यकी अवहेलना करनेमें उपयोग करना उसका दुरुपयोग करना तथा मनुष्यत्वसे गिर जाना है। जिन मनुष्योंको मानवीय कर्तव्योंका अभ्यास नहीं होता, जो केवल बाह्य दिखावा करना सीख लेते हैं वे तथा उनके घर-द्वार ऊपरसे चाहे जितने भव्य प्रतीत होते हों भीतर तो उनमें अस्वच्छता, आलस्य, पर-निर्भरता, स्वावलम्बन-हीनता आदि दोषोंसे भरा हुआ दूषित वातावरण बना रहता है। जो समस्त परिवारको अवनतिके गहरे गर्तमें जा पटकता है इन सब मनुष्यता नाशक दुर्गुणोंसे बचे रहनेके लिये मनुष्यको स्वच्छता धर्मको अपने

ही हाथोंसे पालना चाहिये। धनका अपने कर्तव्योंकी अवहेलनामें कदापि उपयोग न करना चाहिये।

मोल ली हुई स्वच्छतामें स्वच्छताका सार नहीं होता

स्वच्छता-धर्मको हाथसे न पालकर धन-बलसे स्वच्छता करनेसे स्वच्छताका दिखावा तो हो जाता है, परन्तु इससे स्वच्छता-धर्मका प्राण निकल जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्वच्छताका स्थान दिखाऊ स्वच्छता ले लेती है। तब समाजमें स्वच्छताके नाम पर मिथ्याचार फैल जाता है। तब स्वच्छताका उद्देश्य केवल दूसरों को स्वच्छता दिखाने तक सीमित हो जाता है। स्वच्छताका मिथ्याचार करनेवाले लोग दूसरोंकी कर्मशक्ति मोल लेकर उनसे झाड़ू लगवाने, कपड़े धुलवाने, सोनेके कपड़े बिछवाने आदि अनेक अभद्र सेवा कराते हैं। स्वच्छता धर्मकी अवहेलना करनेवालोंका मन कदापि पवित्र नहीं रह सकता। वह आलसी बन जाता है। इन सब लम्बी दृष्टियों को साथ रखकर दूसरोंसे शारीरिक या घरेलू स्वच्छता करानी अक्षम्य तथा विनाशक अपराध है। क्योंकि इस प्रवृत्तिसे समाजका सामूहिक स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। यह कार्य मनुष्यको स्वयं अपने हाथों करना चाहिये। हमारे राजकीय नियम निर्माताओंको चाहिये कि अपनी व्यक्तिगत स्वच्छताको दूसरोंसे करानेको सामाजिक अपराध घोषित करनेवाले नियम बनायें। यदि समाज ऐसी घोषणा करे तो इससे समाजमें स्वाभिमानकी वृद्धि हो, वृथाभिमानका नाश हो, कर्तव्य शीलताका प्रचार हो, समाजका महान सुधार और कल्याण हो।

दिखाऊ स्वच्छता अस्वच्छता है

अब स्वच्छताके सम्बन्धमें नवीन प्रकारसे विचार करना चाहिये। पान खाकर, सुन्दर केशविन्यास बनाकर, उबटन आदि रूपोत्तेजक पदार्थ लगाकर, या दैनिक क्षौरसे अपने रूप-यौवनको प्रतिदिन नवीन

नवीन बनाकर, सुन्दर बननेका प्रयत्न करना, अर्थात् अपने शरीरके वास्तविक रूपको ढकनेका गर्हित प्रयत्न करना या केश रंगनेवाले द्रव्योंसे श्वेत बालोंको काला बनाना अस्वच्छता, मलिनता, पातित्य, तथा अधमता है। ऐसी प्रवृत्तिवाले मनुष्यके शरीर और मन दोनों मलिन हो जाते हैं। इस प्रकारके गर्हित स्वभावोंको छोड़ देना भी स्वच्छता-धर्मका ही महत्वपूर्ण भाग है। इस दृष्टिसे अंगुलियोंमें अंगूठी आदि आभूषण पहनना वा सुन्दर दीखनेके अभिप्रायसे आलंकारिक वेष धारण करना भी स्वच्छता-धर्मका विरोधी है।

व्यक्तिगत स्वच्छताके छः महत्वपूर्ण विभाग

जिस प्रकार (१) मन (२) शरीर, (३) वासस्थान तथा (४) वस्त्र आदि व्यवहारके पदार्थोंके विषयमें स्वच्छता रखना अत्यावश्यक है इसी प्रकार (५) वचन और (६) व्यवहार अर्थात् दूसरोंके साथ बरताव करनेमें भी स्वच्छता रखनेपर ही स्वच्छता के धर्मपालनमें पूर्णता आती है। तब भीतर-बाहर दोनों स्थानोंपर स्वच्छता हो जाती है।

मनका कामक्रोध आदि विकारोंके अधीन न होना मनकी स्वच्छता है। शौच, दातुन, तेलके नस्य स्नान, भोजन तथा विश्रामके द्वारा शरीरको निर्मल, संयत तथा कर्मतत्पर रखना शरीरकी स्वच्छता है। घर तथा आसपासके कूड़ेको उचित स्थानमें हटाकर स्वच्छ रखना वासस्थानकी स्वच्छता है। मनको शुद्ध रखनेके लिये रेही, साबुन आदि शोधक द्रव्योंसे शुद्ध किया हुआ खद्दर धारण करना वस्त्रकी स्वच्छता है। सत्यको प्रकट करनेके लिये ही बोलना वाणीकी स्वच्छता है। अपने व्यावहारिक जीवनमें किसी मनुष्यके बन्धनमें न रहना व्यवहारकी स्वच्छता है। स्वच्छता-धर्मके इन छः अत्यावश्यक अंगोंमेंसे किसी अकेले भागकी स्वच्छताका दिखावा करना यथार्थ स्वच्छता नहीं होती। इस दृष्टिसे व्यर्थ बात छेड़ना, व्यर्थ बातका उत्तर देना असत्य आचरण करना, अपना कर्तव्य दूसरेसे

कराना, अधिकार न होते हुए दूसरेके कर्तव्यमें हस्तक्षेप करना, कर्तव्य-पालनमें दीर्घसूत्रता करना, लक्ष्यहीन अनिश्चित जीवन बिताना, शक्तिसे वाहरकी बातका वचन देना, ऋण लेना, ऋण देना, दूसरे-पर निर्भर होना, किसीके साथ मोह आदिके बन्धनमें फँसना या किसीको अपने मोहबन्धनमें फँसाना आदि सब स्वच्छताविरोधी मलिनताकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्ति हैं। ये सब व्यावहारिक जीवन-की अस्वच्छता है। इनसे बचकर रहना स्वच्छता है। अपने व्यावहारिक जीवनमें किसी मनुष्यके बन्धनमें न रहना ही व्यवहार की स्वच्छताका मूल रूप है।

सार्वजनिक स्थानोंकी स्वच्छता

सब प्रकारकी व्यक्तिगत स्वच्छताओंके सिद्धान्तको समझ लेने-के पश्चात् मनुष्यको सार्वजनिक स्वच्छतासे सम्बन्ध रखनेवाले कर्तव्योंके विषयमें भी इसी प्रकारके सिद्धान्त निश्चित कर लेने चाहियें। स्वच्छताके मौलिक सिद्धान्तोंकी चर्चा हो जानेके पश्चात् पाठकोंको अपने मनसे संपूर्ण प्रकारके सार्वजनिक स्थानों--अर्थात् उत्सवगृहों, विद्यालयों, यात्रास्थानों, वाष्पयानों, घाटों, नदीतीरों तथा मार्ग आदिके सम्बन्धमें स्वच्छता रखनेके मानवीय कर्तव्योंकी कल्पना कर लेनी चाहिये और इनमें किसीको भी अपनी ओरसे अस्वच्छ न होने देनेका दृढ निश्चय कर लेना चाहिये। इन सब स्थानोंको पवित्र रखना सबका साझेका महत्वपूर्ण कर्तव्य है। इन स्थानोंका अस्वच्छ तथा अव्यवस्थित रहना संपूर्ण समाजके अस्वच्छ स्वभाव 'अनियमानुवर्तिता' अविचारशीलता तथा असामाजिकताका परिचायक है। यह सामाजिक दूषण है। व्यक्तियोंसे समाज बनता है। यदि व्यक्ति स्वच्छताका ध्यान करने लगेंगे तो सामाजिक स्वच्छता अपने आप संपन्न हो जायगी।

ऋणका लेनदेन भी अस्वच्छता है

ऋण लेना और देना दोनों मनकी मलिनता है। जो कार्य धना-

भावसे नहीं हो रहा है जान लो कि सृष्टिप्रबन्धकी यही इच्छा है कि वह कार्य न हो। यदि सृष्टिव्यवस्था उस कार्यको कराना चाहती होती तो धन अनुपस्थित न होता। जहाँ कर्तव्य प्रतीत हो रहा हो और धनके रूपमें शक्ति अनुपस्थित हो वहाँ उस कार्यको करानेवाली सर्वव्यापी इच्छाका अभाव जानलो। यदि सृष्टिप्रबन्धकी इच्छा उस कार्यको करानेको होती तो वह वहाँ धन की उपस्थितिको आवश्यक क्यों न बनाती? जहाँ कार्यको पूरा करनेका आग्रह और धनका अभाव दो विपरीत परिस्थिति हैं वहाँ ये दोनों परिस्थिति अपनी अव्यक्त भाषामें मनुष्यके कानोंमें यह संदेश पहुँचाना चाहती हैं कि इस इच्छाको त्याग देने या इस कार्यको बिगड़ जाने देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है।

यदि मनुष्यके पास किसी कर्मको पूरा करनेके साधन न हो तो उसके मनमें ऐसे किसी कर्मको पूरा करनेका आग्रह क्यों होना चाहिये? मनुष्यको यह जान लेना चाहिये कि वह इस संसारमें किसी कर्मको पूरा करनेका ठेका लेकर नहीं आया। वह तो केवल अपनेको मिले हुए साधनोंका सदुपयोग करनेके लिये संसारमें आया है। सुखी जीवन बितानेके लिये मनुष्यमें इतनी सहिष्णुता होनी चाहिये कि वह अपने समझे हुए कामोंको बिगड़ता देखे तो अधीर बनकर अकर्तव्य करनेके लिये उत्तेजित न हो जाय। मनुष्यको अपने समझे हुए कामोंसे भी अधिक अपने मनको पवित्र तथा अप्रभावित रखनेकी आवश्यकता है। काम बिगड़ते हों तो लाखबार बिगड़ जायँ केवल मनुष्यका मन सुरक्षित रहना चाहिये।

यदि मनुष्य अपने समझे हुए कार्यके मोहमें इतना फँस जायगा कि वह विरोधी परिस्थितिकी सांकेतिक भाषाको बहरे कानोंसे सुनकर सृष्टिव्यवस्थाकी इच्छाके प्रतिकूल इस कार्यको कर डालनेके लिए कहींसे ऋण ले लेगा तो वह अपने जीवनको एक ऐसे घातक मार्गपर डाल देगा जिस मार्गमें कहीं भी शान्तिकी सुशीतल छाया नहीं है। मनुष्यको चाहिए कि वह परिस्थितिकी अव्यक्त सम्मतिको

हृदयके कानोंसे सुनना सीखे। उसे यह न देखना चाहिये कि मुझे क्या चाहिए ? किन्तु उसे यह देखना चाहिए कि मेरी परिस्थिति या मेरे विधाताने मेरे लिए क्या नियत कर रक्खा है ? मनुष्यको जुएकेसे महालाभ देनेवाले कार्योंके पीछे पड़ना छोड़कर अपने परिमित साधनोंसे ही अपनी मनुष्यताका विकास करना चाहिए। मनष्य अधिक उपार्जनके लोभमें फँसकर अपने मनुष्यता नामक जीवन लक्ष्यको भूल जाता है और सांसारिक सुखोंके लिए ऋण ले लेता है। अधिक उपार्जन मनुष्यका ऐसा रोग है जो ऊपरसे देखनेमें तो मधुर है परन्तु परिमाणमें महाकटु है। मनुष्यका अधिक सम्पत्तिके साथ रहना निश्चित दुष्परिणाम लाता है। अपरिणामदर्शी मनुष्यको यह रोग बहुत प्रिय प्रतीत होता है। मनुष्य इस रोगसे इतना प्यार करने लगा है कि वह इसके लोभमें अपनी मनुष्यता तकको त्याग बैठा है। अधिक उपार्जनके रोगी मनुष्य अपने क्षुद्र विचारोंके दास बनकर अपनी काल्पनिक उपार्जन शक्तिका मिथ्या भरोसा करके कहींसे उधार लेकर उस कामको सृष्टिव्यवस्थाकी व्यापक इच्छाके विरुद्ध पूरा करनेका प्रयत्न करते हैं। यह परिस्थितिका विद्रोह, उसके प्रति नास्तिकता और शक्तिसे अधिक कार्य करना है। परि-स्थितके विपरीत कार्य करना दुःखोंको अपने पास आनेका निमन्त्रण देना है। जो शक्ति मनुष्यके पास नहीं है उसे कहींसे उधार लाकर उससे अपना कार्य बनानेकी इच्छा 'अशक्तिसे कार्य करना' नामकी मनकी निर्बलता है। मनुष्य जिस कामको अपनी अशक्तिसे करेगा उसका परिणाम उसके लिए सुखमय नहीं होगा। सुख सदा शक्तिसे ही बनता है। अशक्तिका दुखके अतिरिक्त दूसरा कोई परिणाम नहीं होता। अपनी अशक्तिसे काम करना अपनी इच्छासे दुखोंके अधीन हो जाना है। उधार (ऋण) मनुष्यकी अशक्ति है। उधार नामकी अपनी अशक्तिसे अपना कार्य बनानेकी इच्छा जीवनको मलिन, प्रभावहीन परनिर्भर दास बनानेकी अवस्था है। अपनी प्रकृतिदत्त परिस्थितिपर अश्रद्धा और असन्तोषके कारण ही मनुष्यमें

उधार लेनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस दृष्टिसे चिकित्सा तकके लिए भी उधार लेना मनुष्यकी नास्तिकता है। जो साधन मनुष्यके पास वर्तमान हों मनष्यका केवल उनका ही सदुपयोग करनेका अधिकार है। अपने अधिकारकी सीमा न लाँघना मनुष्यकी व्यावहारिक आस्तिकता है। जो हमारे पास नहीं है उसके लिए पश्चात्ताप करनेमें लेशमात्र भी बुद्धिमत्ता नहीं है। आज संसार में यही हो रहा है कि मनुष्य अपनेमें उपार्जन नामकी एक शक्ति मानने लगा है। वह इस काल्पनिक शक्तिके विश्वासपर अपना व्यय बढ़ाता चला जा रहा है और जीवनसमस्याको दिन प्रति-दिन अधिकाधिक उलझाता चला जा रहा है। अगले क्षणमें क्या होनेवाला है? यह मनुष्यको बिन्दुविसर्गमात्र भी ज्ञात नहीं है। फिर भी मनुष्य अधिकारसे बाहरले भविष्यकी कल्पित अनिश्चित आयके विश्वासपर अपने जीवनकी आधारशिला रख देता है। भवि-ष्यत्‌की काल्पनिक आयके आधारपर अपना व्ययपरिमाण निश्चित करना दूषित और घातक प्रणाली है। इस परिपाटीने मनुष्यको बलहीन तथा अशक्त बना डाला है। उपार्जन नामकी काल्पनिक शक्तिसे विपथगामी बने हुए मनुष्यसमाजमें 'अमुक आवश्यकता है, उधार ले लो' यह एक साधारण रीति बन गयी है। इस उधारकी परिपाटीने सामाजिक जीवनकी नींवको शिथिल बना डाला है। यदि समाजमें उधारकी परिपाटी न हो तो निश्चय है कि सारा समाज स्वनिर्भर होकर अदम्य तेजस्वी बन जाय। इसी दृष्टिसे यदि किसी घरमें बालकों अथवा रोगियोंको देनेके लिये दूध घी आदि पौष्टिक समझे हुए पदार्थ न हों तो चिन्तामें डूब मरनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संसारमें करोड़ों मनुष्य बिना घृत दुग्धके पल रहे हैं। यदि मनुष्य ऐसे प्रसंगोंपर अपने आपको सुखी रखना चाहे तो उसे बिना ही घी दूधके संसारव्यापी अमृत चखनेका अभ्यास बनाना चाहिये और यदि उसे परिस्थितिकी आज्ञानुसार घी दूध मिल जाय तो घी दूधके द्वारा संसार-व्यापी अमृतका स्वाद लेना चाहिये।

जीवन्मुक्ति स्वच्छताकी ही पूर्ण विकसित अवस्था है ।

सारांश यही है कि प्रत्येक प्रकारकी मलिनतासे मुक्त रहना ही स्वच्छता या स्वतन्त्रता है। स्वच्छता और स्वतन्त्रता एक ही बात है। स्वच्छता धर्मका पालन करना तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना एक ही बात है। स्वतन्त्र जीवन विताना जीवन्मुक्ति है। जीवन्मुक्ति ही सच्ची स्वच्छता है। वह स्वच्छताकी ही पूर्ण विकसित अवस्था है।

समय

अपनी मनुष्यता (अर्थात् अपनी निगूढ ज्ञानमयी अवस्था) के दर्शनका जो सुअवसर है वही समय कहाता है। मनुष्यके पास समयका आना तब ही सफल होता है जब वह अपने पास आनेवाले समयसे सत्यदर्शन, मनुष्यताप्राप्ति या ज्ञान-लाभ करता है।

यह बात प्रत्येक मनुष्यको जाननी चाहिये कि हमें हमारे माता-पिता स्वतंत्र रूपसे नहीं पालते। वे हमारे पालनकर्ता दीखने पर भी विश्वजननी प्रकृति-माता ही हम सबको तथा इस संपूर्ण जगत्‌को जनती और पालती है। माता-पिता जगज्जननी प्रकृति-माताके नियुक्त किये हुए भृत्य हैं। प्रायः मनुष्य अपनी मनुष्य-माताको देखकर उसके मोहपाशमें बँध जाता है और इस सचाईको देखनेसे वंचित रह जाता है कि हमें अपनी प्रेममयी गोदमें पालनेवाली यह मनुष्य-माता, किसी महीयसी विश्वजननी प्रकृति-माताका नियुक्त किया हुआ प्रतिनिधि बनकर हमें पाल रही है। मनुष्यको यही जानना है कि प्रकृति-माता ही हम सबको हमारी मनुष्य-माताके द्वारा परमवात्सल्यभावसे पाल रही है। जिस प्रकार संसारी माता-पिता अपनी सन्तानको धन देकर उनपर अपना प्रेम प्रकट करते हैं उसी प्रकार प्रकृति-माता अपने प्रत्येक मनुष्य पुत्रको प्रत्येक क्षण समय नामका धन दे देकर उसपर अपना प्रेम प्रकट कर रही है। प्रकृति-माता समयको मनुष्यके पास इसलिये ला रही है कि मनुष्य उससे अपनी त्रुटियों और आवश्यकताओंको पूरा कर ले तथा अपनेमें किसी प्रकारकी न्यूनताको उत्पन्न न होने दे। यदि मनुष्य समयका सदुपयोग करनेमें एक क्षणकी भी टाल-मटोल करेगा तो यह समय देरसे आनेवाले यात्रियोंको छोड़कर चली जानेवाली रेलगाड़ीके समान उसे छोड़कर तुरन्त भाग जायगा, और फिर कभी न लौटनेके लिये

भूतके सर्वग्रासी गह्वरमें जा छिपेगा। समय कभी किसीकी प्रतीक्षा नहीं कर सकता। यह तो मनुष्यको उपयोग, अनुपयोग या दुरुपयोग का एक छोटा-सा अवसर देता है और देते ही आगे भाग जाता है। समय और अवसर एक ही बात है। मनुष्यको अवसरसे लाभ उठाने या न उठानेका निर्णय केवल एक क्षणमें करना पड़ता है। जो मनुष्य क्षण भरके नन्हें-नन्हें अवसरोंसे लाभ उठानेकी कला जान गया है, वही बुद्धिमान है। जो मनुष्य क्षण नामके नन्हें अवसरोंसे लाभ उठानेमें आलस्य कर रहा है और उन्हें नगण्य वस्तु मान रहा है वह निर्बुद्धि है और अभागा है। उसका दुर्भाग्य आलस्य बनकर उसे नष्ट कर डालेगा। यह निश्चय है कि अवसरसे लाभ उठानेमें प्रमाद या उपेक्षा करनेवालोंको जीवन-भर पछताना पड़ता है। बात यह है कि कर्तव्य जब आता है तब सदा अपने उचित समय पर आता है। यदि मनुष्य उसे उस समय न करे तो उस कर्तव्यका उचित अवसर उसके हाथसे निकल जाता है और फिर वैसा सुअवसर कभी भी लौटकर नहीं आता। संसारमें अच्छे कामोंके जितने भी उदाहरण हैं वे सब समयरूपी धनका सदुपयोग करनेके ही परिणाम हैं।

समयका सदुपयोग करनेसे मनुष्यको सुख तथा सन्तोष प्राप्त होता है। इसका दुरुपयोग करनेसे मनुष्यको असन्तोष या मानसिक अस्वस्थता प्राप्त होती है। समयका सदुपयोग न करना ही समयका दुरुपयोग करना कहाता है। समयका सदुपयोग न करनेका अर्थ अपने ही निर्दय हाथोंसे अपने सुख-सन्तोष प्राप्त करनेके अवसरोंको खो देना है। सन्तोषके अवसरको हाथसे खो देना ही दुख है। ज्ञानवान पुरुष ज्ञानकी स्थितिमें रहकर स्वभावसे समयका सदुपयोग करके सन्तोष भोगते रहते हैं। विचारशील लोगोंके जीवनका एक भी क्षण कर्तव्य-पालनका सन्तोष लिये बिना नहीं बीतता। विचारवानके पास प्रत्येक क्षणके लिये कोई न कोई कर्तव्य नियत रहता है। वह प्रत्येक क्षणको उसका पूर्ण सदुपयोग कर चुकनेके पश्चात् ही बीतने देता है। वह दिन-रात कर्तव्यमें इतना लीन रहता है कि उसका

समस्त जीवन-काल कुछ क्षणोंके समान अनायास बीत जाता है। वह कर्तव्य-पालनमें चूर-चूर होकर सोता है और बिस्तर पर लिटते ही गहरी नींद लेने लगता है। यदि मनुष्य अपने एक भी क्षणको कर्तव्य पालनके सन्तोषके बिना बीत जाने देता है तो उसका शरीर धारण करना संसारकी व्यर्थ घटना बन जाता है।

वर्तमान क्षण (समय) ही मनुष्यके ज्ञानसम्पन्न बननेका सुअवसर है। वर्तमान क्षणको व्यर्थ खोना ज्ञानी बननेके अवसरको खोना है। वर्तमान क्षणोंको खोनेवालोंके ज्ञानी बननेकी कोई आशा और सम्भावना नहीं है। जिस पुरुषका वर्तमान क्षण सुरक्षित है उसका समग्रजीवन सुरक्षित है। वर्तमान क्षण ही मनुष्यके सुरक्षित रखने योग्य अमूल्य धन है।

इस समयरूपी धनका मूल्य रुपये पैसोंकी कसौटीपर नहीं परखा जा सकता। इसका कारण यह है कि संसारमें भौतिक सफलता नामकी कोई सफलता नहीं है। भौतिक सफलताको सफलता कहना संसारव्यापी 'सचाईको न समझना है। यद्यपि संसारमें एक क्षणमें लाखों रुपया उपार्जनकर लेनेवाले मनुष्य भी हैं, परन्तु केवल इतनी बात से उनके समयको सदुपयुक्त नहीं कहा जा सकता। संसारमें ऐसे ऐसे बहुमूल्य रखनेवाले अनेक गुण हैं धन जिनके जूतेकी धूलके समान भी नहीं हैं। समयका सदुपयोग तो सन्तोष नामकी वस्तुका उपार्जनकर लेनेसे ही होता है। यह वस्तु धनसे हाथ नहीं आती। लाखों रुपया उपार्जन करना दूसरी बात है और सन्तोष प्राप्त करना उससे सर्वथा अलग है। यही कारण है कि लाख रुपया प्राप्तकर चुकनेपर भी मनमें करोड़ रुपया पानेकी आग दहक उठती है। वह आग धननिर्भरजनके पास सन्तोषामृतको नहीं ठहरने देती। इस दृष्टिसे केवल रुपये पैसे या किसी प्रकारका भौतिक लाभ करनेवाली वस्तुको पा लेनेको ही समयका सदुपयोग समझ बैठना मनुष्यका भारी अज्ञान है। मनुष्यको इस प्रकारके कार्य करके अपने प्रत्येक क्षणका सदुपयोग करना है जिनसे उसके मनमेंसे असन्तोष

(दुख) उत्पन्न करनेवाली वृत्ति नष्ट हो जाये और उसे सन्तोष प्राप्त हो।

कर्महीनता (अकर्मण्यता या ठाली पड़े रहना या मौज मारते रहना) नामका वह भयंकर रोग जिसने आज तक मनुष्य जीवनके न जाने कितने हरे भरे उद्यान उजाड़े हैं, अपने समयका सदुपयोग न करनेके ही अन्तमें रुलानेवाले दुष्परिणाम हैं। अपने जीवनके लक्ष्यको पूरा न करना ही कर्महीनताका अभिप्राय है। यद्यपि आजका धनमोहित मनुष्य समाज अपनी धनलोलुपतारूपी निर्बलताके कारण रुपया पैसा उपार्जन करनेवालों या प्रचुर धनके स्वामियोंपर निकम्मेपनका यह कलंक लगाना नहीं चाहता, परन्तु गंभीर विचार करनेपर इन लोगोंको भी कर्महीन लोगोंकी श्रेणीमें ही खड़ा करना पड़ता है। ये लोग रुपया कमाते हुए भी तथा प्रत्येक समय कुछ न कुछ करते हुए भी बेकार हैं। जो मनुष्य अपने लिये प्रत्येक क्षण सन्तोषका उपार्जन नहीं कर रहा है, या यों कहें कि जो सन्तोषकी उपेक्षाकर रहा है वह संसारके लाख कर्म करता हुआ भी और प्रचुर धनोपार्जन करता हुआ भी कर्महीन ही माना जायगा। इस सबका मूल कारण यही है कि कर्म मनुष्यको सन्तोष प्राप्त करानेके लिए बना है; असन्तोषाग्निसे झुलसते भुनते रहनेके लिए नहीं। सन्तोष प्राप्त कर लेना ही कर्मशक्तिका एकमात्र उपयोग है। जो मनुष्य कर्म तो करता है परन्तु अपने अज्ञानजन्यदौर्भाग्यके कारण कर्म करनेका सन्तोष उपार्जन नहीं कर पाता उसका कर्म कर्म न रहकर अकर्म या विकर्म हो जाता है। क्योंकि वह अपनी कर्मशक्तिका दुरुपयोग करता है अथवा यों कहिए कि वह समयका सदुपयोग नहीं करता। जो मनुष्य अपने समयका सदुपयोग नहीं करता उसके मनमेंसे उच्च भावनायें भाग खड़ी होती हैं। उसका मन दुश्चिन्ताओंका भूतावास बन जाता है। मनुष्यके मनमें ऊँची भावनाओंका न रहना ही कर्महीनता या आलस्य नामकी वह महाव्याधि है जिसने अनन्त मनुष्यों का जीवन निरुपयोगी बना-बनाकर कूड़ोंकी टोकरियोंमें फेंक दिया है।

समय मनुष्यकी जगज्जननी प्रकृतिमाता नामक महीयसी शक्तिका दिया हुआ अमूर्त धन है। यह मनुष्यको मनुष्य बनकर दिखानेके लिए परीक्षाशालाके दो घण्टोंके समान दिया हुआ एक क्षणिक शुभ अवसर है। परन्तु विचारहीन अभागे मनुष्यने समयरूपी इस ईश्वरीय देनको भी क्रयविक्रयशालामें ला खड़ा किया है और अब उसने अपने समयको मोलभावकी वस्तु बना डाला है और इस निन्दित कार्यसे लज्जित होना भी छोड़ दिया है। आज अपना समय बेचने और दूसरोंकी नौकरी बजानेको घृणा, पातित्य, अधमता, पशुता, मनुष्यत्वहीनता आदि दूषणोंके रूपमें नहीं देखा जा रहा है। आज अपना समय बेचनेको सामाजिक स्वीकृति मिल गई है। अपना समय बेचनेको सामाजिक स्वीकृति मिल जानेसे आज समाजमेंसे मनुष्यताका उच्च आदर्श लुप्त प्राय हो चला है। अपना समय बेचनेकी इस स्वीकारीने मनुष्यके उदात्ततम गुणोंपर भयंकर प्रहार किया है। अपना समय बेचनेकी इस चालने मनुष्यके स्वावलम्बन, स्वाभिमान, स्वनिर्भरता, आत्मविश्वास, कठोर कर्तव्यनिष्ठा आदि समस्त उदात्तगुण छीन लिये हैं। अपना समय बेच डालनेवालोंकी बाढ़ देख-देखकर आजका पैसेवाला मनुष्य दूसरोंका समय मोल ले लेकर उनसे अपना काम कराने लगा है और स्वयं आलस्यमें रहने लगा है। वह स्वयं आलस्य तथा ऐश्वर्यमें लिप्त रहकर समाजके सामने अकर्मण्यताका कुदृष्टान्त रख-रखकर समाजको बिगाड़ रहा है। जब मनुष्य अपना कार्य स्वयं न करके दूसरोंसे करवाता है तब वह धनके बदलेमें कर्महीनता या बेकारी मोल ले लेता है। ऐसा कर्महीन होकर रहना ऊपरसे देखनेमें तो सुख तथा स्वतन्त्रतासी दीखता है, परन्तु वह नहीं समझ रहा कि उसकी यह प्रवृत्ति उसकी सच्ची स्वतन्त्रताको हर रही है और उसे पराधीन परावलम्बी बनाती जा रही है। ऐसा मनुष्य अपनी शक्तिका सदुपयोग करनेकी उदात्ततम दिव्य कलासे वंचित होकर दूसरोंकी शक्तियोंपर निर्भर हो जाता है। वह दूसरोंको तो अपने बन्धनमें रखता है और स्वयं दूसरोंके बन्धन

में बँध जाता है। यही उसकी पराधीनता होती है। दूसरोंकी शक्तियाँ ऐसे पुरुषोंको चाहे जिधर चलाती हैं और इनसे चाहे जो कुछ करवानेमें समर्थ हो जाती हैं। इस महाअनिष्टकारी प्रसंगसे बचनेके लिए मनुष्यको अपने समयका सदुपयोग करनेकी कला प्राप्त करनी चाहिये। मनुष्यके समयका सदुपयोग तब ही माना जायगा जब कि वह अपने समयको सन्तोषका उपार्जन करके ही बीतने देगा तथा सन्तोषसे हीन अपना एक भी क्षण व्यतीत न होने देगा।

मनुष्य यह न समझे कि समयके बीत जानेसे मेरा क्या बिगड़ गया। समयको व्यर्थ बीत जाने देनेसे मनुष्यका जीवन व्यर्थ बीत जाता है। क्योंकि समय ही जीवन है। जीवनको सफल बनानेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य प्रातःकाल निद्रा भंग होनेसे लेकर रात्रिको शयन काल आने तक प्रत्येक दिनके प्रत्येक भागको अपनी सुविधाके अनुसार विभक्त करे। अर्थात् प्रत्येक कर्तव्यके लिये कोई न कोई समय तथा प्रत्येक समयके लिये कोई न कोई कर्तव्य नियत करके उसके अनुसार कर्तव्यपालन करते रहनेका स्वभाव बना ले। यह ध्यान सदा रहना चाहिये कि कोई भी क्षण कर्तव्यसे हीन न बीतने पाये और कोई भी कर्तव्य करनेसे न रह जाय तथा कोई भी कर्तव्य उत्साहसे रहित न हो जाय।

समय विभाग बनाते समय इस बातका पूरा ध्यान रहना चाहिये कि रात्रिका समय शरीर और इन्द्रियोंके श्रमको दूर करने अर्थात् विश्रामरूपी कर्तव्य करनेके लिये है। विश्रामसे भिन्न कर्तव्य कर्म करनेके लिये दिनका समय है। रात्रिमें जागना शरीरके विश्राम करनेका अधिकार छीनना तथा समयका दुरुपयोग करना है। समयका दुरुपयोग करना कर्तव्यसे भ्रष्ट हो जाना है। रात्रिमें जागा हुआ पुरुष अवश्य ही दिनके कर्तव्योंकी अवहेलना करेगा। इस दृष्टिसे ईश्वर भजनका नाम लेकर रात्रिमें हठपूर्वक जागना या ज्ञानोपार्जनके नामसे रात्रिमें पढ़ना आवश्यक नहीं। मनुष्यका अपने जीवन व्यवहारमें भला रहना ही उसका सच्चा ईश्वर भजन है। ईश्वर किसीको

कभी किसी भौतिकरूपमें दीखेगा यह अविचारशील मनुष्यकी दुराशा है। असत्यमार्गमें कभी पैर न डालनेके दृढनिश्चयको ही मनुष्यका ईश्वरलाभ कहा जाता है। अपनी मनुष्यताकी पूरी चौकसी रखना ही मनुष्यका ईश्वरदर्शन करना है। इस दृष्टिसे जिस समय मनुष्यके ऊपर कुविचार या पापका आक्रमण होता हो वही ईश्वरभजन या सद्ग्रन्थोंके द्वारा सँत-समागमका सबसे उपयोगी समय है। क्योंकि बुरी चिंताओंको दबा डालना ही भजन है। बुरी चिंताओको दबानेमें अपने हृदयनिवासी ईश्वरसे सहायता लेना ही ईश्वरभजन है। क्योंकि निद्राके समय चिंतन बन्द हो जानेसे कुविचार भी बन्द हो जाता है इसलिये विश्राम या निद्राका समय छीनकर उसे भजन समझे हुये काममें या पुस्तक पढ़नेमें लगाना उचित नहीं है। स्वभावसे आई हुई निद्रा भी तो रात्रिका भजन है। निद्रा रात्र्यभिमानी ईश्वरका दिया हुआ भजन है। ईश्वरभजनके साधन देहके दैनिक श्रमको दूर करनेके लिये विश्रामके रूपमें आई हुई निद्रा भी तो भजनसे भिन्न स्थिति नहीं है। विश्रामके रूपमें आई हुई निद्रा शरीरका न्यायोचित अधिकार है। इसके इस अधिकारको छीनना भजन-विरोधी अवस्थाको अपनाना है। मनुष्यके पास आया हुआ प्रत्येक समय योंही नहीं आता। वह अपने साथ अपने ही ढंगके कुछ न कुछ कर्तव्य लेकर आता है। रात्रिके अभिमानी ईश्वरका भेजा रात्रिका समय विश्रामका कर्तव्य लेकर मनुष्यके पास आता है। रात्रिका समय केवल निद्राके लिये निर्दिष्ट है। रात्रिके सोनेका समय घटाकर उसे किसी कर्ममें लगाना समयका सदुपयोग न माना जाकर दुरुपयोग माना जायगा। इस प्रकारसे समयकी बचत करना अनुचित तथा हानिकारक है।

समयका सदुपयोग करनेके लिये मनुष्यको अपनी दिनचर्याको नियमित कर लेना चाहिये। समय विभाग बनाते समय दिनचर्याका यह मुख्य सिद्धान्त न भूलना चाहिये कि मनुष्यका सम्पूर्ण समय आवश्यकताके अनुसार या तो शरीरकी या मन की रक्षामें ही

व्यय होना चाहिये। समयविभाग करते समय देखना चाहिये कि शरीररक्षा तथा उसे विश्राम देनेके लिये जितने समयकी आवश्यकता हो उसे छोड़कर शेष सब समय मनकी रक्षा अर्थात् उसे बलवान रखनेके काममें ही व्यय होना चाहिये। मनको निर्बल बनानेवाले काममें अपना एक भी क्षण व्यय न होने देना चाहिये। शुद्ध कर्म करना मनकी रक्षाका एक मात्र उपाय है। जो कर्म मनकी रक्षाके विचारसे किये जाते हैं वे सब कर्म शुद्ध कर्म कहाते हैं। मनुष्य जिन कर्मोंको करनेसे पहले यह सोच लेता है कि मैं इस कर्मको अपने मनको शुद्ध रखनेके लिये ही करूँगा वही कर्म शुद्ध कर्म हो जाता है। ऐसे कर्म ही सेवाधर्म कहाते हैं। जितने क्रियात्मक साधन मनको शुद्ध रखनेके लिये किये जाते हैं वे सब सेवा नाम पा जाते हैं।

दिन रातमें चौबीस घण्टेका समय होता है। इन घण्टोंको अपनी सुविधाके अनुसार कुछ परिवर्तन करके इस प्रकार बाँटना चाहिये—रात्रिके नौ बजेसे प्रातः पाँच बजे तक सोनेका समय है। इसलिये इस शयन कालको छोड़कर प्रातःकाल पाँच बजेसे लेकर रात्रिको नौ बजे तक लगभग निम्न प्रकारकी दिनचर्या पालना उचित होगा।

प्रातःकाल ५ बजेसे आधा घण्टा भजन-प्रार्थनादिनचर्या ध्यान धर्मार्थचिन्तन कायक्लेशविचार शिवसंकल्प तथा तत्वचिन्ता ५॥ से ७॥ तक शौच, दाँतुन घर गोशाला आदिकी स्वच्छता स्नान —आदि

७॥ से १०॥ तक या तो स्वाध्याय अर्थात् विद्योपार्जन या परिस्थिति के अनुसार अपने दैनिक कृत्य

१०॥ से १२॥ तक भोजन विश्राम संगीतकला आदि

१२॥ से ४॥ तक सेवाकार्य अर्थात् परिस्थिति के अनुसार अपने दैनिक कर्तव्य तथा अनुभवसहित दिनचर्या लेखन

४॥ से ५॥ तक खेल, व्यायाम (कृषि कार्य) भ्रमण आदि

५॥ से ८॥ तक शौच सन्ध्या तथा भोजन आदि

८॥ से ९ तक ईश्वर स्मरण भजन प्रार्थना दिनचर्या निरीक्षण लक्ष्य-का ध्यान संगीत आदि

मनुष्यकी सारी दिनचर्या में (१) भजन प्रार्थना (२) स्वाध्याय (३) सेवा कार्य (४) तथा अनुभव युक्त दिनचर्या लेखनका कार्य विशेष महत्व रखते हैं। उनकी ओर पूरा ध्यान देना चाहिये।

दोनों समयकी प्रार्थनायें तथा भजन आदि सैनिकोंके संघ व्यायाम (कवायद) के समान श्रद्धाहीनताके साथ न होनी चाहिये। मनुष्यके जीवनमें इस भ्रमको स्थान नहीं मिलना चाहिये कि "मनुष्य दिन भर चाहे जो कुछ करे, चाहे जितना मिथ्या और पतित बर्ताव कर ले और फिर भी मनमें प्रार्थना कर लेनेका झूठा सन्तोष ले सके।" इस भ्रमकी पुष्टिके लिये प्रार्थनाका उपयोग नहीं होना चाहिये। दोनों समयकी प्रार्थनायें मनुष्यकी इस चौकसीके लिये हैं कि मनुष्य लक्ष्यसे विरुद्ध जीवन तो नहीं बिता रहा है। दोनों प्रार्थनाओं से मनुष्य को अपनी मानसिक प्रगति का गहरा निरीक्षण करना चाहिये। प्रातःकाल की प्रार्थना इस भावको लेकर करनी चाहिये कि आजके सारे दिन मेरा प्रत्येक कार्य और दूसरोंके साथ बर्ताव ईश्वर-से अर्थात् पवित्र मनसे सम्बन्ध रखनेवाला हो, मैं दिनभर अपने प्रत्येक कार्यमें भला बना रहूं, मैं दिनभर कर्त्तव्यके साथ रहूँ, मैं प्रत्येक कार्यमें अपने पवित्र मनके दर्शनके लिये उत्साही बना रहूँ। मनुष्यको अपने ईश्वरसे अर्थात् अपने शुद्ध मनसे केवल इस कार्यमें सहायता माँगनी चाहिये कि वह उसे लक्ष्यके अनुकूल जीवन बितानेका बल दे। साँझकी प्रार्थनामें मनुष्यको यह संतोष अनुभव करना चाहिये कि मैं दिनभर कर्तव्यके साथ रहा हूँ। मैं सारे कार्योंमें निर्मल हृदयसे ईश्वरको स्मरण रखनेमें समर्थ हुआ हूँ, इस बातपर सन्तोष प्रकट करके ईश्वरको धन्यवाद देना चाहिये। ऐसी प्रार्थनाके अनन्तर ही रातके विश्रामप्रधान विचारमय जीवन का प्रारंभ होना

चाहिये। नींदसे उठकर प्रातःकालकी प्रार्थनामें रातभर पाये हुये शान्तिदायक विश्रामकी सफलतापर सन्तोष होना चाहिये। और तब ही आज दिनभर जो जो कर्त्तव्य करने हैं उन सबपर एक दृष्टि डालनी चाहिये। उस समय सत्यका साथ न छोड़नेका दृढ़ निश्चय करना चाहिये तथा इस निश्चयको साथ रखकर ही अपने नैत्यिक कार्योंमें जुटना चाहिये। कहने का भाव यही है कि प्रातःकालकी प्रार्थनामें तो रात्रिके बीते हुये आध्यात्मिक पवित्र जीवनकी स्मृति तथा दिनभर पवित्र जीवन बितानेका दृढ उद्बोधन या निश्चय होना चाहिये और रात्रिकी प्रार्थनामें बीतनेवाले दिनके पवित्र जीवनकी स्मृति तथा रात्रिमें पवित्र जीवन बितानेका दृढ संकल्प होना चाहिये।

जिनसे सत्य तथा असत्यका विचार करनेकी शक्ति जाग सकती हो अर्थात् जो मनुष्यको कर्तव्यबोध करा सकते हों, ऐसे सद्ग्रन्थोंका अध्ययन ही स्वाध्याय कहाता है। कुतूहलवश या केवल समय काटनेके लिये कोई भी पुस्तक या समाचार पत्र लेकर पढ़ने लगनेसे स्वाध्यायका अर्थ पूरा नहीं होता। स्वाध्यायका भाव केवल ऐसे विचारशील लेखकोंकी पुस्तकें पढ़नेसे पूरा होता है जिनको सत्यका दर्शन हुआ हो। जिनके ज्ञानके पीछे अनुभवका बल लगा हुआ हो। स्वाध्याय शब्द स्व तथा अध्ययन दो शब्द मिलकर बना है। स्वका अर्थ स्वरूप अपना आपा, या सत्य है। अध्ययनका अर्थ यह विचार रखना है कि "मैं क्या हूँ? मेरा लक्ष्य क्या है? मैं उस लक्ष्यपर कैसे आरूढ रह सकता हूँ? इत्यादि।" कर्तव्यका पालन करते हुये सत्यका अनुभव करना भी स्वाध्याय कहाता है।

सेवाका सच्चा अर्थ उस समय पूरा होता है जिस समय मनुष्य अपने मनको पवित्र तथा निर्मल रखनेके लिये कार्यके सत्य तथा असत्य दोनों ढंगोंमेंसे असत्यको जान बूझकर छोड़ता है और सत्यको जान बूझकर अपनाता है, या यों कहें कि जिस समय मनुष्य अपने लक्ष्यका विरोध करनेवाली अवस्थाओंको पराजित करता है। यों सेवा वस्तुतः मनके भीतर होती है और वह अपनी ही होती है।

कभी कभी सेवा बाहर और दूसरोंकी होती दीखती है, परन्तु वह भी इस भीतरकी सेवाका साधन मात्र होती है। बाहरकी सेवा इस भीतर वाली सेवाके साधन रूपमें ही स्वीकार की जा सकती है।

दिनचर्या लिखनेका यह अभिप्राय है कि जागते या सोते समय मनुष्यका एक भी क्षण व्यर्थ न जाने पाये। मनुष्यको मिले हुये प्रत्येक क्षणका सदुपयोग होना चाहिये और उसके पास उस सदुपयोगका ब्योरा भी रहना चाहिये। इसलिये रहना चाहिये कि दिनचर्या लिखते समय यह परीक्षण हो जाता है कि मैं आज अपने प्रातःकालके शिवसंकल्पके अनुसार अपना जीवन रख सका हूँ या नहीं? जब मनुष्य अपने समयके सदुपयोगको तथा अपनी भूलोंको प्रति दिन लिखने लगेगा तब उसे अपने भीतरसे कर्तव्यबोध होना प्रारम्भ हो जायगा। तब मनुष्यमें अपना नेतृत्व करनेकी अवस्था आ जायगी। इसलिये दिनचर्या लिखनेकी पुस्तकमें एक तो भूल लिखनेका तथा दूसरा अनुभव लिखनेका कोष्ठक होना चाहिये कि मुझे आजके जीवनमें अपने या दूसरोंके व्यवहारोंके द्वारा किस किस सत्य सिद्धान्तका अनुभव हुआ? मनुष्यकी दिनचर्यामें अपने या अपने देशपर बीती हुई विशेष घटनाओंका तथा उनकी तिथि आदिका उल्लेख भी होना चाहिये।

जब मनुष्यको दिनचर्या लिखनेकी कला हाथ आ जाती है तब उसका सारा जीवन सरस हो जाता है। दिनचर्या लिखते समय मनुष्यको समाप्त होनेवाले दिनके सारे सत्यानुभवोंका इकट्ठा स्वाद लेनेका अवसर मिल जाता है। उस समय मनुष्यको अपने आपको अपराधी और न्यायाधीशके दो रूपोंमें बांट देना पड़ता है। तब उसे अपने अपराधी रूपको कटघरेमें खड़ा कर देना पड़ता है तथा अपने न्यायाधीश रूपको न्यायाधीशके आसनपर चढ़ाकर बैठा देना पड़ता है। उस समय मनुष्यको बीतनेवाले दिनके प्रत्येक क्षणको घसीट घसीटकर अपने न्यायाधीश रूपके सामने लाना पड़ता है। प्रातःकालसे साँझतक

दिनभरके प्रत्येक क्षणको इस प्रकार अपने न्यायाधीश मनके सामने उपस्थित कर लेना कोई कठिन कार्य नहीं है। यह तो केवल स्वभाव बनानेकी बात है। जब मनुष्यको दिनचर्या लिखनेके काममें रस आने लगेगा तब इस ढंगसे प्रत्येक क्षणके सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म भाग करके उनपर गहरा विचार करना मनुष्यका चित्ताकर्षक स्वभाव बन जाता है। मनुष्यके पास जीवनके प्रत्येक क्षणका विचार करनेवाली कसौटी यही होनी चाहिये कि "कहीं मैंने अपना एक भी क्षण कर्तव्य के बिना तो नहीं बीतने दिया? और कहीं मैंने उस कर्तव्यको उत्साहहीनताके साथ तो नहीं किया?" यदि मनुष्यको अपने बीतनेवाले दैनिक जीवनका कोईसा भी क्षण कर्तव्यसे रहित प्रतीत हो या उसे अपने किसी कर्तव्यमें उत्साहहीनता दीखती हो तो उसको तत्काल कर्तव्यहीनता करानेवाले तथा कर्तव्यमें उत्साहहीनता लानेवाले कारणको दंडनीय अपराधीके रूपमें अपने न्यायाधीशरूपके सामने लाकर उसे पूरा-पूरा मिटा देना चाहिये। यदि मनुष्य अपने अपराधीको ढूँढने लगेगा तो काम क्रोध आदिही उसके अपराधीके रूपमें उसे पायेंगे। उसे सदसद्विचारबुद्धिके द्वारा ही उनका विचार करना चाहिए और सदसद्विचारके द्वारा ही उन्हें उचित दण्ड देना चाहिए। जब मनुष्य काम, क्रोध आदिका कारण ढूँढने चलेगा तब इस निश्चयपर पहुँचेगा कि मैंने भूलसे या तो किसी बाह्य वस्तुमें या किसी बाह्य शक्तिमें अपनेको आकृष्ट करनेकी या अपनेको हानि पहुँचानेकी शक्ति मान ली थी और ऐसा मानकर मैंने अपने आपही अपनेको निर्बल दुःखी मोही तथा क्रोधान्ध बनाकर कर्तव्यभ्रष्ट बना लिया था। अपने स्वरूपको भूलजानेसे मनुष्यकी शक्ति खोयी जाती है। स्वरूपको भूलना और शक्तिको खोना एक ही बात है। यदि मनुष्य काम क्रोधादिके आक्रमणोंको असम्भव बनाना चाहेगा तो उसे अपनी आत्मशक्तिको आठों पहर अपनी आँखोंके सामने उपस्थित रखना पड़ेगा। अपनी आत्मशक्तिको अपनी आँखोंके सामने उपस्थित रखने पर ही क्रोध आदिके आक्रमणोंकी सम्भावना हट सकती है। मनुष्यके

सच्चे शत्रुओंका बीजनाश तबही होता है जब वह अपनी विचारबुद्धि रूपी शस्त्रके द्वारा इन कामक्रोधादि काल्पनिक शत्रुओंका हनन कर चुकता है। जब मनुष्यकी सूक्ष्मविचारबुद्धि इस बातको स्पष्ट रूपसे समझ जाती है कि मुझे हानि या लाभ पहुँचानेकी शक्ति किसी भी बाह्य वस्तुमें या किसी भी बाह्य व्यक्तिमें नहीं है। तबही उसके काम-क्रोधादि शत्रुओंके वशमें फँसनेका अवसर सदाके लिए नष्ट होता है। इस रीतिसे विचाररूपी खड्गके द्वारा छओं मानसिक शत्रुओं-को नष्ट कर सकना ही निर्विकार स्थितिमें चला जाना है। दिनचर्या लिखनेवाला मनुष्य दिनचर्या लिखते समय इसी निर्वि-कार स्थितिका दर्शन नित्य नवीनसे नवीन ढंगोंसे करता करता अमृत पान कर सकता है। जब मनुष्यको इस कसौटीपर परखकर अपनी दिनचर्याके विषयमें अपने आपको इस बातका प्रमाणपत्र देना पड़ जाय कि मेरे इस बीतनेवाले दिनके सब क्षण प्रसन्नताके साथ बीते हैं अर्थात् मुझे अपने कर्तव्य कर्मोंमें पूर्ण उत्साह रहा है, तब मनुष्य यह समझनेका अधिकारी बनता है कि मेरा आजके दिनका सम्पूर्ण जीवन पूर्ण सफल हुआ।

अपने लिये इस प्रकारका प्रमाण पत्र लेनेसे पहले मनुष्यको एक बुद्धिमान निरीक्षकके रूपमें अपने मनसे नीचे लिखे प्रश्नोंका उत्तर विशेष रूपसे लेना होगा। (१) मैंने किसीसे व्यर्थ बातें तो नहीं कीं? व्यर्थ बातोंका अभिप्राय अपनी ओरसे व्यर्थ बात करना, औरों-की व्यर्थ बातोंका उत्तर देना या किसीकी व्यर्थ चर्चामें सम्मिलित होना है। (२) मैंने किसीकी निन्दा तो नहीं की? (३) मैंने किसीसे कड़वा बचन तो नहीं बोला? अर्थात् 'मैंने किसीका जी दुखानेकी भावनासे तो कोई बात नहीं कही? (४) मैंने किसीकी हँसी तो नहीं उड़ाई? मैं कहीं व्यर्थ तो नहीं हँसा? (व्यर्थ हँसीके विषयमें मनुष्यको यह जानना चाहिए कि मनुष्यके मन-की मलिनता ही व्यर्थ हँसीके रूपमें प्रकट हुआ करती है। व्यर्थ हँसी विषादभरी मानसिक अवस्थाकी प्रतिक्रिया होती है।

जिस मनुष्यके मनमें सत्यका विमल आनन्द नहीं होता वह सब समय काम क्रोधके वशमें रहकर चंचलचित्त तथा दुखी रहता है। भीतरके दुखको हटानेका निष्फल प्रयत्न ही व्यर्थ हँसी नामवाली लघुताके रूपमें प्रकट होता है। लोग किसीकी हँसी करने और व्यर्थ हँसते रहनेको प्रसन्नता समझते हैं। परन्तु उन्हें यह जानना चाहिये कि यह प्रसन्नता नहीं है। यह अप्रसन्नता और विषादका ही कपट वेष है। कर्तव्यपालनमें उत्साहका बना रहना ही सच्ची प्रसन्नता है। दिनभर प्रसन्न रहना इसीको कहते हैं कि मनुष्यका सारा दिन कर्तव्यसे भरा रहे और वह प्रत्येक क्षणके प्रत्येक कर्तव्यको उत्साहके साथ करता रहे। मनुष्य भूलसे प्रसन्न रहनेको शारीरिक क्रिया या दिखावा समझते हैं। उन्हें यह जानना चाहिये कि पवित्र मनोदशाका ही दूसरा नाम प्रसन्नता है। कर्तव्यको छोड़कर मनुष्य प्रसन्न हो ही नहीं सकता। कर्तव्यसे भ्रष्ट होनेकी अवस्था वाली प्रसन्नताको मनोविकार समझना चाहिये।) ५—मैंने अपनी प्रशंसा तो नहीं की? ६—मैंने कोई काम अनुचित शीघ्रतासे तो नहीं कर डाला? ७—मैंने अपना कोई कर्तव्य दूसरों के ऊपर तो नहीं टाला या दूसरोंसे तो नहीं कराया। ८—मैंने अपने किसी कर्तव्यको फिर कभी आनेवाले सुअवसरके लिये स्थगित तो नहीं कर दिया? ९—मैंने दूसरोंके कर्तव्यमें अधिकारहीन हस्तक्षेप तो नहीं किया? १०—मैंने अपना कोई समय वर्तमान मुहूर्तका सदुपयोग करना छोड़कर भावीकी दुश्चिन्तामें फँसकर तो नहीं बिता दिया? ११—मैंने मनको किसी अप्राप्य वस्तुके पीछे तो नहीं भटकाया? १२—मैंने किसी प्राप्त वस्तु या प्राप्त अवसरका सदुपयोग करनेमें उपेक्षा तो नहीं की। जब मनुष्य इस प्रकार अपने क्षण-क्षणका निरीक्षण करने लगेगा और जब आत्म-शुद्धि उसका स्वभाव बन जायेगा तब समयको व्यर्थ न खोनेकी कला हाथ आ जायगी और मनुष्यका जीवन व्यर्थताके अभिशापसे बचकर निर्भल कर्मपूर्ण तथा आनन्द देनेवाला ऐसा कल्पवृक्ष या चिन्तामणि बन जायगा जो वांछित सुफल दे देकर

मनुष्यको धन्य कर देगा। मनुष्य ऐसे कल्पवृक्ष या ऐसी चिंतामणिसे ही सत्यरूपी अमृतफल पा सकेगा।

मनुष्यको अपना कर्तव्य-पालन करनेके पश्चात् कभी तो उसके भौतिक फल मिलते हैं और कभी नहीं मिलते। कर्तव्य पालन करनेका भौतिक फल मिलना या न मिलना दोनों मनुष्यको सत्यका अनुभव करानेके लिये होते हैं। मनुष्यको यह बात समझनी है कि उसको अपने कर्तव्यपालन करनेका भौतिक फल मिलना भी उसकी सफलता है और अपने कर्तव्य-पालनका भौतिक फल न मिलना भी उसकी सफलता ही है। मनुष्यकी सफलता इसीमें है कि वह दोनों अवस्थाओंमें सत्यका दर्शन करता जावे। यदि मनुष्य गंभीर विचार करे तो वह इस परिणाम पर पहुंचे कि भौतिक सफलता नामकी कोई स्वतंत्र सफलता नहीं है। मनुष्य अनुकूल या प्रतिकूल प्रत्येक भौतिके फलकी उपेक्षा करके ही सत्यका दर्शन कर सकता है। मनुष्यको अपने दैनिक अनुभवोंको लिखते समय इस सत्यका अनुभव अवश्य कर लेना चाहिये कि मुझे आजकी भौतिक सफलताओं और असफलताओंने किस-किस सत्य (सिद्धान्त) का दर्शन कराया? मनुष्यको अपने सत्यानुभवोंसे बार-बार लाभ उठाते रहनेके लिये उन्हें दिनचर्या नामक पुस्तकके रूपमें संगृहीत करना चाहिये।

जब प्रत्येक कर्त्तव्यपालन कर चुकनेके पश्चात् हमारे सामने उनके भौतिक अनुकूल या प्रतिकूल फल आते हैं तब वे लाभ-हानि जय-पराजय आदिका रूप लेकर आते हैं। हमें इन दोनों ढंगके विचारोंको महत्व देना चाहिये कि इन लाभ-हानि तथा जय-पराजय आदिके समय हमने दूसरोंके साथ कैसा वर्ताव किया है? और हमने लाभ-हानि जय-पराजय आदिको किस भावसे अपनाया है? जब हम किसीसे द्वेष रखते हों या जब हम किसीको अपनेसे द्वेष रखनेवाला समझते हों तब यदि हम उस द्वेषका उत्तरदायित्व अकारण दूसरोंपर न डालकर आत्मनिरीक्षण करें और उस उत्तरदायित्वको अपने ऊपर रखें तो हमें तत्काल सत्यका दर्शन हो। तब हमारी

विचार-बुद्धि हमें इसी निश्चयपर पहुँचायेगी कि जैसे हम किसीसे अपनी ओरसे द्वेष करनेमें अपराधी हैं इसी प्रकार हम किसीको अपनेसे द्वेष करनेवाला समझनेमें भी बहुत अंशतक अपराधी हैं। मनुष्यको प्रत्येक घटनामेंसे यदि उसमें अपना कोई अपराध हो तो उसे ढूँढना और उसे दूर करना है। जब हम इस प्रकार किसी घटनामेंसे अपना अपराध ढूँढने लगेंगे और अपने द्वेषशील मनमेंसे द्वेषको निकाल बाहर करेंगे तब हमें अपने पवित्र मनोहर रूपका दर्शन होना प्रारंभ हो जायगा। हम अपने पवित्र तथा मनोहर रूपका दर्शन करके ही सत्यका दर्शनकर सकेंगे। यदि हम अपने ही पवित्र रूपका दर्शन करनेमें असफल रहे तो हमें सत्यका दर्शन नहीं हो सकेगा।

इसी प्रकार मनुष्य प्राप्ति अप्राप्ति आशा निराशा आदि अवसरों पर अपनी निर्विकार मानसिक स्थितिको विजयशाली बनाये रखकर ही दैनिक जीवनमें सत्यका अनुभव प्राप्त कर सकता है। मनुष्यको सत्यदर्शनकी यह परिभाषा ध्यानमें रखनी चाहिये कि अपने जीवनमें सत्यको देखनेका अर्थ भौतिक पदार्थोंकी उपेक्षा करना है। अपने जीवनमें सत्यका दर्शन करनेसे दूसरा समयका सदुपयोग करनेका मार्ग संभव नहीं है। समयका सदुपयोग करनेवाले मनुष्यके जीवनमें प्रत्येक समय अपना सच्चा न्यायधीश, अपना सच्चा शासक और सच्चा सम्राट बननेका सुअवसर आता है। यह सुअवसर अपने जीवनका सदुपयोग करनेसे ही हाथ आता है। किन्तु ध्यान रहे कि मनुष्यकी विषयवासना उसके सत्यदर्शनका विघ्न है। वह उसको सत्यका दर्शन नहीं होने देती। वह सत्यको छिपाया करती है। वह मनुष्यके मनमें सत्यके स्थानपर ऐश्वर्यकी भूक लगाया करती है। मनष्य की विषय-वासना ही उसमें ऐश्वर्य की भूक पैदा करके दूसरोंपर शासन करनेवाले बनावटी न्यायधीश, बनावटी शासक या बनावटी सम्राट बननेके वृथा अभिमान और भ्रान्त उच्चाभिलाषाका रूप लेकर जागा करती है। मनुष्यकी विषयवासनाही इन नाना प्रकारके रूपों-

को धारण करके या तो उसमें दुराशारूपी आग सुलगाती है या उसे दूसरोंके झूठे न्यायधीश शासक या सम्राटपनेका वेष पहनाकर उसके जीवनको नाटकके पात्रके जीवनके समान व्यर्थ बना डालती है। यदि मनुष्य अपने दैनिक जीवनका निरीक्षण सच्चे न्यायधीशके बुद्धिमत्तापूर्ण दृष्टिकोणसे करे और यदि मनुष्य शासकका बुद्धिमान हृदय लेकर उससे अपने जीवनके ऊपर शासन करे और यदि मनुष्य सच्चे सम्राटकी शक्ति लेकर अपने जीवनको नियमित करके रखे तो वह अपनेको संसारके सर्वोत्तम न्यायधीश, सर्वोत्तम् शासक, और और सर्वोत्तम सम्राट परमात्माके सिंहासनपर बैठा हुआ पावे। मनुष्यको इस सर्वोच्च सिंहासनपर बैठानेवाली कुञ्जी समयका सदुपयोग करने और अपने जीवनपर पूरा-पूरा नियंत्रण रख सकनेमें है। समयके सदुपयोगकी महिमा अपार है।

क्या करें ? क्या न करें ?

मनुष्यको सबसे पहले अपने जीवनका लक्ष्य निश्चित कर लेना चाहिये। यात्रासे पहले यात्राका लक्ष्य तथा प्रयोजन निश्चित करनेके समान मनुष्य अपने जीवनके जिस सबसे पहले दिन मनुष्यताका पद सँभाले उस दिन सबसे पहले यह निश्चित करे कि उसे क्या बनना ? क्या पाना और किस नीतिसे संसारयात्रा करनी है ? वह इस संसार में क्यों आया है ? वह स्वयं कौन है ? इत्यादि। मनुष्यके लिये लक्ष्य निश्चित करना इसलिये आवश्यक है कि लक्ष्यानुसार ही कर्तव्योंका निर्णय हुआ करता है। इसलिये कर्तव्यनिर्णयसे भी पहले लक्ष्यका निर्णय होना आवश्यक है। लक्ष्य निश्चित कर लेनेके पश्चात् प्रत्येक मनुष्यको उस लक्ष्य पर आरूढ रहनेके लिये कर्तव्य करते रहना चाहिये तथा लक्ष्यसे च्युत न होनेके लिये अकर्तव्यको त्यागते रहना चाहिये। समझना चाहिये कि अकर्तव्यको त्यागना भी कर्तव्य है। प्रत्येकको अपना अपना कर्तव्य पालन करते रहना चाहिये। अपने लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अपनी ओरसे पूर्ण उद्यम कर चुकना ही कर्तव्य पालन करना कहाता है। कर्तव्य पालन करनेसे मनुष्यको सन्तोष मिलता है। कर्तव्य पालनका सन्तोष ले लेने पर मनुष्यके मनमें दूसरी कामना शेष नहीं रहती। मनमें कामनाके न रहनेसे उसमें पूर्णता आ जाती है। मनका निष्काम हो जाना ही मनकी पूर्णता है। मनकी पूर्णता ही मनका शुद्ध हो जाना है। मनुष्यको अपने शुद्ध मनको कर्तव्य पालनरूपी रस्सीसे बाँधकर अपनी अलौकिक आँखोंके सामने रखना चाहिये। मनमें इच्छा या द्वेष न घुसने देना चाहिये। मनमें इच्छा या द्वेषका न रहना ही सन्तोष है। मनकी पूर्ण तृप्तिकी अवस्था ही सन्तोष है। किसी भी प्रकारकी अपूर्णताका न रहना सन्तोष है। सन्तोष ही मनुष्यका आराध्यदेव ईश्वर है। मनुष्य अनादि कालसे

इसीकी उपासनामें लगा हुआ है। जब मनुष्यको सन्तोषके रूपमें ईश्वरका दर्शन होता है तब उसके आत्माकी क्षुद्रता मिट जाती है और उसका आत्मबल पूर्णताको पा लेता है।

कर्तव्य वही है जो या तो मनुष्यकी किसी न्यूनताको पूरा करनेके लिये अथवा किसी नई न्यूनताको उत्पन्न न होने देनेके लिये मनुष्यके सामने प्रत्येक समय ईश्वरीय प्रबन्धसे उपस्थित हुआ रहता है। ईश्वर प्रत्येक समय अपने मनुष्यबालकके उत्थानकी चिन्तामें लगे रहते हैं। वे हमारी न्यूनताको पूरा करनेके लिये हमारे मनमें कर्तव्यके रूपमें प्रेरणा दिया करते हैं। जब तक वह कर्तव्य पूरा नहीं किया जाता तब तक वे मनमें बराबर प्रेरणा देते रहते हैं। उनकी प्रेरणानुसार चलनेसे ही असन्तोष या असहन बना रहता है। यह असन्तोष या असहन उस कर्तव्यको पूरा करने पर ही हटता है। इस असन्तोष या असहनको हटाकर सन्तोष या सहन प्राप्त कर लेना ही कर्तव्यपालन है और यही कर्तव्यपालनका सच्चा फल है। कर्तव्य वही है जो कभी कभी नहीं आता किन्तु जिसका ताँता मनष्य के जीवनमें लगातार बँधा रहता है। कर्तव्य वही है जिसके बिना मनुष्य जीवन सम्भव नहीं है। कर्तव्य भोग आदिके समान किसी भी अनुकूल परिस्थितिकी प्रतीक्षा नहीं करता। भोग अनुकूल परिस्थिति चाहता है। कर्तव्यको अनुकूल परिस्थितिकी अपेक्षा नहीं है। वह तो अनुकूल प्रतिकूल किसी भी परिस्थितिमें आखड़ा होता है। जब कर्तव्य अनुकूल परिस्थिति न होने पर आ खड़ा होता है तब मनुष्यके खरे-खोटेपनकी कठोर परीक्षा ले बैठता है। जिस समयके लिये जो कर्तव्य होता है उस समयके बीत जानेपर वह कर्तव्य भी नष्ट हो जाता है। क्योंकि परमात्मा जब किसीके पास कर्तव्य भेजते हैं तब उसे सबसे उचित समय पर भेजते हैं। यदि हम उसे उस समय न करके दूसरे समयके लिये स्थगित कर दें तो हमारे हाथोंसे उस कर्तव्यका सबसे अच्छा समय निकल जाता है। फिर कभी भी इस कर्तव्यका वैसा समय आना असंभव हो जाता है। कभी कभी तो फिर वह कर्तव्य

ही नहीं रहता। कर्तव्य और समयका पारस्परिक घनिष्ठ संबन्ध है। समय बीत जाने पर उसका कर्तव्यपना नष्ट हो जाता है। इसलिये कर्तव्य सूझते ही उसे तत्काल करना चाहिये। ठीक समयपर कर्तव्य न होनेसे मनमें उपेक्षा टाल दीर्घ सूत्रिता तथा कर्तव्यहीनता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये कर्तव्य वही होता है जिसे फिरके लिये टाला नहीं जा सकता, जिसे टाल दें तो फिर कभी भी उसका अवसर नहीं आ सकता, जिसे टाल देना कर्तव्य भेजते रहनेवाले ईश्वरसे विद्रोह करना होता है, जिसे टाल देनेवालेका मन शैतानका निवासस्थान बन जाता है। कर्तव्य वही कहाता है जिसे पूरा करने पर मनमें अपार उल्लास होता है, जिसका अटल निर्मल तथा आनन्दपूर्ण अवस्थाको प्राप्त कर लेना ही एक निश्चित और अक्षय परिणाम निकला करता है। कर्तव्य वही कहा जाता है जिसे करनेसे अन्तरात्मा प्रफुल्लित हो उठता है, जो औरोंकी सहायताके बिना दूसरोंकी शक्तिके अधीन हुए बिना, स्वतन्त्ररूपसे केवल अपनी शक्तिसे हो सकता है। कर्तव्य वही होता है जो अपनी ही शक्तिसे हो सकता है।

कर्तव्यकी मर्यादा शक्ति तक होती है। जहाँ शक्तिकी पहुँच नहीं होती वहाँ कर्तव्य भी नहीं पहुँचता। यदि हमारा कोई कर्तव्यहो तो हमपर उसे करनेकी शक्ति भी होनी चाहिये। जो हमारा कर्तव्य हो वह हमारी ही शक्तिसे होना चाहिये। उसमें हमें दूसरोंकी सहा-यता लेनी आवश्यक नहीं होनी चाहिये। जिन कामोंमें दूसरोंकी सहायता या सहयोगकी आवश्यकता होती है वे समग्र काम एक किसी व्यक्तिके कर्तव्य नहीं होते। उनमें वह व्यक्ति उस समष्टिका जौनसा भाग हो उतना ही उस व्यक्तिका कर्तव्य होता है। उनमें केवल अपने भागका उद्योग कर देना हमारा कर्तव्य होता है। परन्तु उनमें दूसरोंकी सहायता या सहयोगकी अभिलाषामें दूसरोंपर निर्भर हो जाना हमारा कर्तव्य नहीं होता। ऐसे कामोंमें दूसरोंकी सहायता या सहयोग न मिल सके तो वही काम फिर हमारे लिये अकर्तव्य हो जाता है। ऐसे कामोंमें दूसरोंकी सहायता या सहयोग

न मिलनेपर वे काम कर्तव्य नहीं रहते। तब हमारा कर्तव्य बदल जाता है, और नये प्रकारका कर्तव्य पैदा हो जाता है। तब उस नये तात्कालिक कर्तव्यको पूरा कर देना ही कर्त्तव्यरूपमें हमारे वसकी बात शेष रह जाती है। इससे बढ़कर कुछ भी उद्योग करना अकर्तव्य होता है। जब यह देखते हैं कि सबके सब भौतिक कर्तव्य दूसरोंकी सहायता या सहयोगपर ही निर्भर रहते हैं जब यह देखते हैं कि वह सहयोग कभी मिलता है और कभी नहीं भी मिलता, जब मिलता है तब कर्तव्य और प्रकारका होता है जब नहीं मिलता तब कर्तव्यका कुछ और ही रूप हो जाता है, तब इससे इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि मनुष्यका केवल यह कर्तव्य है कि जब उसके सामने सहयोग, असहयोग, उपेक्षा, या विरोधकी, कोई बात आ खड़ी हुआ करे तब वह इन घटनाओंमें अपनी मनोदशाको निर्विकार बनाये रहा करे। अर्थात् तब वह अपनी मनोदशाको निर्विकार रखनेवाला मार्ग अपनालिया करे।

विचार करनेपर इसी परिणामपर पहुंचा जाता है कि भौतिक उद्देश्यको सामने रखकर मनुष्यका कोई कर्तव्य नहीं बनता। संसारके रहस्यकोविद लोग भौतिक उद्देश्य सामने रखकर अपना कोई कर्तव्य नहीं बनाते। वे भौतिक कर्तव्योंका भी अभौतिक अलौकिक दिव्य उद्देश्य रक्खा करते हैं। वे अपनी मनोदशाकी निर्मलताके अनुसार ही कर्तव्य निश्चित किया करते हैं। बात यह है कि मनुष्यकी आत्मशक्ति कोई भौतिकशक्ति नहीं है। मानसिक शक्ति ही मनुष्यकी आत्मशक्ति कहाती है। मनुष्य मानसिक शक्तियोंके प्रदर्शनमें ही अनन्त शक्तिमान् तथा सुनिश्चित सफलतावाला होता है। इस सफलताको मनुष्यसे कोई नहीं छीन सकता। इस दृष्टिसे मनुष्यका यही कर्तव्य रह जाता है कि वह अपने पाँचभौतिक देहसे जो कुछ या जैसा कुछ उद्योग करे, उसमें अपनी मानसिक निर्विकार स्थितिकी रक्षा करता रहे। उसे जिस काममें दूसरोंकी सहायता लेनी पड़े, जो काम दूसरोंकी सहायता बिना न हो सकता हो उसे वह समझ

लिया करे कि यह मेरा कर्तव्य नहीं है। समूह या समाजके कर्तव्यके विषयमें हमारे भागमें जितना उद्योग आता हो उतना कर देनेसे न चूकना ही हमारा कर्तव्य है। जानपदिक आवश्यकता अर्थात् समूहके सम्पूर्ण कामको अकेले पूरा करनेका उद्योग करना हमारा कर्तव्य नहीं होता। स्मरण रखनेकी बात है कि कर्तव्य बहुत सीमित होता है। कर्तव्य सदा शक्तिसे सीमित रहा करता है। जिसे करनेकी शक्ति है वही कर्तव्य है। मनुष्यको कर्तव्यकी सीमा लाँघनेसे कभी संतोष नहीं मिलता। इसलिए जो काम अपनी मर्यादाको पूरा-पूरा ध्यानमें रखते हुए शुद्ध भावनासे प्रेरित होकर किया जाता है वही कर्तव्य कहाता है। हमारी शुद्ध भावनाएँ ही हमारा जीवनभर आराधना करने योग्य ईश्वर है। जो काम ईश्वर करते हैं वही कर्तव्य होता है तथा जो काम हम (अर्थात् अहंकारके वशमें आये हुए हम) करते हैं वह कर्तव्य नहीं होता। वह अकर्तव्य होता है। जिस काममें हमारी क्रोध लोभ मद और मात्सर्यवाली दुष्ट भावनाएँ लगी रहती हैं वही हमारा अर्थात् अहंका काम कहाता है। अहंका कराया काम अकर्तव्य होता है। वह अनीश्वर कर्म कहाता है। कर्तव्य ईश्वरका भेजा हुआ होता है। अकर्तव्य मनुष्यका अपनाया या बुलाया होता है। कर्तव्य-पालनमें ईश्वरका दर्शन होता है। अकर्तव्य करनेसे अनीश्वरभाव बढ़ने लगता है और मनुष्य स्वार्थका दास बन जाता है। कर्तव्य करनेसे सन्तोष होता है। अकर्तव्य करनेसे सन्तोषका नाश हो जाता है। अपना कर्तव्य पालन कर चुकनेके पश्चात् मनुष्यको कुछ भी करना शेष नहीं रहता। कर्तव्य कर चुकनेके पश्चात् फिर किसी भौतिक फलकी ओर लोभभरी दृष्टि फैलाते रहना अनधिकारचिंतन है। ज्ञानी मनुष्योंकी देखी हुई सुखद सचाई यह है कि हमारा कर्तव्य-पालन अपने उद्देश्यके लिये पूर्ण उद्यम कर चुकते ही समाप्त हो जाता है।

कर्तव्यको सफलतासे कर चुकते ही मनमें उदय होनेवाले कर्तव्यपालनके सन्तोषको ही कर्तव्यपालनका फल मानना चाहिये।

और हमें इसीसे सच्चा लाभ होता है। कर्तव्यपालनके पश्चात् कर्तव्यके जो दो भौतिक और अभौतिक फल होते हैं उनमेंसे कर्तव्यपालनका अभौतिक फल आत्मसंतोष है। यह आत्मसंतोषरूपी फल ही सच्चा फल है। यह कर्तव्यपालन कर चुकते ही अनिवार्य रूपमें सबको मिलता और कर्ताके आत्माको बलवान् बनादेता है। कर्तव्यपालनके पश्चात् जो कि एक भौतिक अनियत फल मिला करता है वह फल कर्तव्यपालनका फल कहीं कहा सकता। क्योंकि वह अनिश्चित होता है तथा वह मनुष्यके वसका नहीं होता। वह फल भूतप्रबन्धकारिणी शक्तिके हाथोंमें उसीकी इच्छापर निर्भर होता है। वह भौतिक फल सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूपमें इस जगत्की सृष्टि स्थिति और प्रलय करनेवाले ईश्वरके चाहनेपर किसीको मिलता है नहीं तो नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि कर्तव्यपालनका भौतिक फल हमारे वसका काम नहीं है। इसीलिये उसकी ओर सतृष्ण दृष्टि फेंकते रहना भी हमारा कर्तव्य नहीं है। हमारा कर्तव्य वहीं तक सीमित है जहाँ तक हमारा बस चलता है। इस दृष्टिसे हम भौतिक फलकी लोभ-भरी प्रतीक्षा करके अपने अधिकारसे बाहर पहुँच जाते हैं। हमारा आत्मा भौतिक फलकी प्रतीक्षासे निर्बल हो जाता है। प्रतीक्षा ही निर्बलता है। जिस भौतिक फलपर हमारा थोड़ासा भी अधिकार नहीं है, जो फल दूसरेका अधिकार है, जब हम अपने अधिकारसे बाहर जाकर दूसरेके अधिकारसे लाभ उठाना चाहते हैं तब कर्तव्यपालनसे प्राप्तकर लेने योग्य अपने अभीष्ट सन्तोषसे भी वञ्चित रहकर उभयभ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिये ऊपर कहा है कि हमें अपने कर्तव्यके लिये पूर्ण उद्यम करके ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिये और इस सन्तोषको ही अपने कर्तव्यका फल मानना चाहिये।

हम इस संसारमें व्यक्तिगत रूपसे नहीं है हमारे साथ हमारे मातापिता आदि परिवार, हमारा समाज, देश और उसके पश्चात् हमारे

क्योंकि कर्तव्यपालनका सन्तोष ले लेना ही हमारे बसका काम है

साथ यह सम्पूर्ण सृष्टि लगी हुई है। हम इन्हींमेंसे निकले हैं, इन्हींमें रह रहे हैं और हमें इन्हींमें विलीन हो जाना है। हम इनके साथ अभेद्य सम्बन्धोंसे बँधे हुए हैं। क्योंकि इन सबके साथ हमारे अभेद्य सम्बन्ध हैं, इस कारण इनके प्रति हमारे तथा हमारे प्रति इनके प्रतिक्षण कर्तव्य हैं। ये कर्तव्य लगातार दिन-रात चालू रहते हैं। जैसे हमारे माता-पिता आदि अपना-अपना कर्तव्य पालन करके हमें लाभ पहुँचा रहे हैं, वैसे ही हमारा भी कर्तव्य है कि हम भी इनके प्रति अपना कर्तव्य पालन करके इन सबको लाभ पहुँचाते रहें। अर्थात् हम भी समाजके सामूहिक कल्याणमें अपना भाग अर्पित करते रहें। यदि हम इन सबके प्रति अपने कर्तव्य नहीं पालेंगे अर्थात् हम अपना सामाजिक कर्तव्य पालकर इन सबको लाभ नहीं पहुँचायेंगे तो हम अपने आधारको नष्ट करनेवाले बन जायेंगे। तब हम केवल उधार ले लेकर खानेवाले और किसीका ऋण न लौटानेवाले हो जायँगे। ऐसी अवस्थामें हमें समाजसे किसी भी प्रकारका सहयोग प्राप्त करनेका उचित अधिकार न रहेगा। इतना ही नहीं हम अपनी ओरसे सामाजिक सहयोग न करनेकी अवस्थामें दूसरोंसे अनुचित लाभ उठा उठाकर कोई वास्तविक लाभ भी नहीं उठा सकेंगे। इस दृष्टिसे हमारे सामने समाजके सार्वजनिक कल्याणके अनुकूल जो कोई कर्म आता है वही हमारा कर्तव्य हो जाता है। सार्वजनिक कल्याण उसे कहते हैं जिसमें केवल हमारा ही नहीं परन्तु सबका कल्याण होता है। हम ऐसा कर्तव्य पालन करते ही ऊँचे उठ जाते हैं। तब हम निर्विकार मानसिक स्थितिमें पहुँच जाते हैं। ऐसे कर्तव्यका पालन स्वार्थरहित होकर ही किया जा सकता है। सामाजिक कल्याण-कारी कर्म करने पर ही हमारी मानसिक स्थितिकी रक्षा संभव है। दस-पाँचको एक साथ कल्याणसूत्रमें बाँधकर प्रेमके साथ एक स्थान पर बैठा देनेवाला, समस्त मनुष्यसमाजकी सामूहिक चिंता करानेवाला, सामूहिक आवश्यकताओंको प्रतिध्वनित करनेवाला तथा जानपदिक दुःखोंका निवारण करनेवाला परमात्माका

बन्धन ही सामाजिक कल्याणकारी कर्म कहाता है। सामाजिक कर्म लोगोंके ऐच्छिक सहयोगसे ही सुन्दर रूपमें चलते हैं। जब मनुष्योंके मनोंमें सामाजिक कल्याणकारी कर्म करनेकी इच्छा पैदा होती है तब ही समाजमें शान्ति विराजती है। यदि प्रत्येकके मनमें सामाजिक नियम तोड़नेकी इच्छा जाग उठती है तो समाजका भंग हो जाता है, और दस मनुष्य एक स्थान पर मिलकर नहीं बैठ सकते ; जब सामाजिक कल्याणकारी कर्मोंकी अवहेलनाकी जाती है तब समाजके मनुष्योंमेंसे निर्विकार मानसिक स्थिति नष्ट हो जाती है और परिणामस्वरूप समाजमें अच्छे मनुष्य अवतीर्ण होने बन्द हो जाते हैं। समाजमें योग्य व्यक्तियोंका अवतार न होना समाजका महान् दुर्भाग्य है। क्योंकि निर्विकार मानसिक स्थिति रखनेवाला भद्र पुरुष ही समाजकी आँख होता है। समाजका बहुमत निश्चितरूपमें अंधा होता है। समाजका भोगलिप्त बहुमत कर्तव्यके सूक्ष्मरूपको नहीं पहचान सकता। वह तो डण्डोंके बलसे समाज-नियम पालन करता है। कर्तव्यके सूक्ष्म रूपको तो केवल धर्मकामी लोग पहचानते हैं। ये धर्मकामी लोग ही किसी समाजके नियम - विधाता होने चाहियें। दण्डभयसे सामाजिक नियम पालनेवाले लोगोंको नियम-विधान बनानेका अवसर नहीं दिया जाना चाहिये। यदि इन्हें ऐसा अवसर दिया जायगा तो समाजके नियम-विधानके अक्षर-अक्षरमें इन सब लोगोंकी मानसिक निर्बलतायें तथा भोगलालसायें प्रविष्ट हो जायँगी तथा समाजके नियम-विधानको भी कलुषित कर डालेंगी। इसलिए समाजका ध्यान समाजमें निर्विकार मानसिक स्थिति बनाये रखनेकी ओर विशेषरूपसे जाना चाहिये। यदि समाज में से निर्विकार मानसिक स्थिति जाती रही तो समाजका सर्वनाश निश्चित है। निर्विकार मानसिक स्थितिका नष्ट हो जाना या सामाजिक कल्याणकारी कर्मोंकी अवहेलना होने लगना कर्तव्यभ्रष्ट होनेकी अवस्था है, इससे बच जाना कर्तव्य पालन करना है।

कर्तव्य वही है जो हमें मानव-समाजके साथ स्वाभिमानपूर्वक

रहनेके योग्य बनाये रखनेके लिये प्रत्येक समय हमारे सामने उपस्थित रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस आचरणको स्वीकार करनेसे समाजमें सत्य किंवा दैवी संपत्तिका बन्धन सुदृढ हो जाता है तथा जिस आचरणके न रहनेसे मनुष्य समाजमें आसुरी भाव बढ़कर मनुष्योचित समाजबन्धन टूट जाते हैं और जिन आचरणोंके न रहनेसे वह समाज मनुष्य-समाज कहलानेके योग्य नहीं रहता ऐसे आचरणोंकी रक्षा करते रहना कर्तव्य होता है।

जबकि हमारा समाजसे पृथक् रहना असम्भव है तब हमें अपना और समाजका एक ही स्वार्थ समझना चाहिये । हमें समाजके कल्याणमें ही अपना स्वार्थ देखना चाहिये। ऐसे अभेद्य, अकाट्य संबंधकी अवस्थामें जब हम समाजके कल्याणसे अपने स्वार्थको पृथक् समझकर अपने ही स्वार्थको पूरा करने लग जाते हैं तब हम समाजसे पृथक् रहकर जो भौतिक लाभ उठाते हैं वे भौतिक लाभ ही हमें और हमारे समाजको विपत्तियों और दुर्गुणोंके सागरमें ले जाकर डुबो देते हैं। इस दृष्टिसे मनुष्यको ये सूत्र कण्ठस्थ कर लेने चाहियें कि समाजको छोड़कर व्यक्तिगत लाभ उठाना समाजको हानि पहुँचाना है और समाजको हानि पहुँचाना अपने आप भी हानि उठाना है। इसलिए समाजको लाभ पहुँचाना ही व्यक्तिगत लाभ उठाना समझना चाहिये तथा समाजको हानि पहुँचाना ही व्यक्तिगत हानि करना मानना चाहिये। यदि हम सच्चे मनुष्य बनना चाहें तो समाजके कल्याणसे भिन्न हमारा कोई भी स्वार्थ नहीं रहना चाहिये। जब हम अपना यह कर्तव्य पूरा करना सीख चुकेंगे और जब हम अपने मनमें इतने ही से सन्तोष प्राप्त करना सीख लेंगे, तब हमारा समाज हमसे शक्तिमान होगा और हमें अभिमानकेसाथ अपनायेगा। यदि हम स्वार्थलिप्त रहकर अपने इस कर्तव्यको नहीं पालेंगे तो हम अपने आप भी हानि उठायेंगे और साथ ही हमारा समाज भी हमारे कारणसे निर्बल होकर तेजोहीन हो जायगा। तब हमारा समाज हम जैसे निर्गुण व्यक्तियोंको पाल-पालकर अपना सम्मान खो देगा।

मत मानो कि हम समाजके हानि-लाभका विचार नहीं रखते, हमारे स्वभाव बुरे हैं, हम गन्दे रहते हैं तो यह हमारा व्यक्तिगत स्वेच्छाचार है। हम व्यक्तिगत जीवनमें चाहे जैसे स्वेच्छाचारी रह सकते हैं। हम चाहे जैसे रहें इससे दूसरोंकी क्या हानि होती है? इसका उत्तर यह है कि हमारा एक भी काम ऐसा नहीं हो सकता जो किसी दूसरेको हानि या लाभ, सुख या दुख, सुशिक्षा या कुशिक्षा न देता हो, या किसी दूसरेको बुरा या भला न लगता हो। अब यदि हममें बुरे स्वभाव हैं, अथवा हम दूसरोंके हानि-लाभका कोई विचार न करके अपने स्वार्थसाधनमें जुटे रहते हैं तो हम अपनेसे सम्बन्ध रखनेवालोंको और अपने समाजको अवश्य ही चोट पहुँचाते या अपने कुदृष्टान्तोंसे कुशिक्षित बनाते हैं। अपने समाजको कोई न कोई हानि पहुँचाये बिना किसी भी मनुष्यका दोषी होना असंभव है। मनुष्य अपने समाजकी कुछ न कुछ हानि करकेही दोषवान बन सकता है। ऐसी स्थितिमें यदि आप बुरे हों तो समाजका कुछ बिगाड़कर ही बुरे बनते हैं। इसलिए मनुष्यको व्यक्तिगत स्वतंत्रताका नाम लेकर भी बुरा रहनेका अधिकार नहीं है। हम सबसे मिलकर ही समाज बना है, हम भी समाजके एक आवश्यक अङ्ग हैं। हमारे साथ हमारे गुण और अवगुण, हमारी योग्यतायें तथा अयोग्यतायें भी हमारे समाजके अंग बनते हैं। हम यदि दोषी हैं तो समाज का एक अङ्ग अवश्य ही दोषयुक्त है। यों हमारे दोषी होनेसे समाज भी दोषी हो जाता है। हमारा समाज हमारे दोषी होनेसे हमारे द्वारा हो सकनेवाले कल्याणसे वंचित रह जाता है और समाजको हमसे की हुई हानि भोगनी पड़ती है। हमारा समाज हमारे दोषी होनेसे अपयशका भागी होता है। इसके अतिरिक्त हम दोषी बनकर अपनेको भी अपने प्राप्तव्य सन्तोषसे वंचित कर लेते हैं।

अपनेको समाजसे पृथक् समझकर अपने ऊपर समाजका कोई उत्तरदायित्व न रखकर काम करनेकी बुद्धिका नाम स्वार्थ-बुद्धि है; जिसके मनमें स्वार्थ-बुद्धि उत्पन्न हो जाती है वह कर्तव्य-बुद्धिसे

गिर जाता है। ऐसा मनुष्य दूसरोंकी कमाई पर दृष्टि रखनेवाला चोर बन जाता है। वह अपना कर्तव्य न करके दूसरोंके कर्तव्यसे भौतिक लाभ उठा लेना चाहता और उनको उनके सच्चे अधिकारसे वंचित कर देनेका प्रयत्न किया करता है। अर्थात् कर्तव्य-बुद्धिसे गिर जानेवाला मनुष्य औरोंका अधिकार छीनना चाहा करता है। इसीका नाम चोरी है। अपना कर्तव्य पूरा न करके समाजसे लाभ उठानेवाला राजा भी चोर है, सेठ भी चोर है, पण्डित भी चोर है और कारागार में पकड़ा हुआ चोर भी चोर है। इन चोरोंमें भेद केवल इतना है कि यह कारागारबद्ध चोर दण्डविधानकी धाराओंके दाँव-पेंच से बचना नहीं जानता था इसलिए कारागारमें बँधा पड़ा है। यदि ये कर्त्तव्य-हीन लोग दण्ड विधानकी धाराओंसे बचनेकी कलाको काममें न लाते तो अपने भागका कर्तव्य पूरा न करके समाजके सहारेसे जीते रहनेवाले ये सब भी कारावासमें बन्द किये होते।

यहाँ तक यह समझमें आ गया कि हमारा कोई भी काम ऐसा नहीं है जो दूसरोंके सहयोगके बिना सम्पन्न हो सकता हो। हमारी कोई ऐसी अवस्था नहीं है जिसका प्रभाव हमारे समाज पर न पड़ता हो। हमारा कोई सुख या दुःख ऐसा नहीं है, जिससे हमारा समाज सुखी या दुःखी न होता हो। हमारा कोई यश या अपयश ऐसा नहीं है जिससे हमारा समाज यशस्वी और अपमानित न होता हो। जिस समाजके साथ हमारा इतना अभेद्य सम्बन्ध है, जब हम उस अपने प्राण-दायक समाजके हितकी कोई अपेक्षा न करके अपने आपको समाजसे अलग मानकर केवल अपने स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोणसे कर्तव्यका विचार करते हैं और समाजके हिताहितकी कोई अपेक्षा नहीं करते तब यह हमारी विचारपद्धतिका सबसे बड़ा दोष माना जाता है। हमको इस सदोष विचारसरणिके परिणामके रूपमें सुखके स्थान पर दुःख ही भोगना पड़ता है। हम समाजके एक अंग हैं। अंगको अंगीसे पृथक् होकर कुछ भी करने या पानेको उचित अधिकार नहीं

है। इस कारण हमें अपना प्रत्येक काम समाज-हितका पूरा ध्यान रखकर ही करना चाहिये।

ईश्वरने हमें अकेला व्यक्तिगत रूपमें उत्पन्न नहीं किया। उसने हमें एक विशाल मनुष्यसमाजके भीतर उसीका एक छोटा-सा अंग बनाकर, उत्पन्न किया है। जबतक ईश्वरकी सृष्टि है तबतक यह मनुष्य-समाज बना रहेगा। इस मनुष्य-समाजमें सदासे एक ऊँची संस्कृति किंवा उच्च विचार चले आ रहे हैं; समाज उन विचारोंको प्रयोगमें लानेसे ही संस्कृत होता रहता है, और उस उच्च संस्कृतिके परिणाम स्वरूप समाजमें यदा-तदा सन्त लोग उत्पन्न होते रहते हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह अपने पवित्र कर्तव्योंको पाल पालकर, दूसरोंको भी कर्तव्यपालनकी दीक्षा दे देकर उस ऊँची संस्कृतिकी रक्षा करता रहे। अर्थात् ऋषियोंका ऋण चुकाता रहे। वह यह जाने कि मैं भी मनुष्य समाजकी सेवा करनेके लिए मध्यमें कुछ कालके लिये संसारमें आया हूँ। मनुष्यको सोचना चाहिये कि यह सृष्टि शुद्धता आदिके जिन ईश्वरीय नियमोंसे अनादिकालसे निर्विघ्न चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलती रहेगी, मैं भी उन्हीं ईश्वरीय नियमोंका पालन करके और ईश्वरके प्रति कृतज्ञता प्रकट करके, ईश्वरका दर्शन करनेके लिए मध्यमें कुछ कालके लिए संसारमें आया हूँ। मनुष्यके जीवनका मूल्य अधिक दिन जीते रहनेसे नहीं लगाया जाता। किन्तु अपने कर्तव्य-पालनके द्वारा मनुष्यसमाजको सुरक्षित, सद्गुणसे सम्पन्न तथा संस्कृतिसे युक्त बनाना और सृष्टिके ईश्वरीय नियमोंका पालन करके ईश्वरकी सृष्टिमें सच्चे सुखकी रक्षा करना ही हमारे जीवनके मूल्यका परिमापक या निर्णायक होता है। हमारे व्यक्तिगत जीवनके अच्छे होनेसे ही मनुष्यसमाजकी सच्ची सेवा हो जाती है। हम यदि अपना व्यक्तिगत जीवन पवित्र रख रहे हैं तो यह भी समाजकी मूक-सेवा हो रही है। हमें अपने जीवनको अच्छा बनानेके लिए क्या खेल में, क्या घर में, क्या दूकानपर, क्या बाजारमें, क्या सभामें, क्या यात्रामें और क्या पाठशालामें,

सभी स्थानोंमें उसी अपने आधार मनुष्य-समाजका सच्चा प्रतिनिधि बना रहकर विद्वान् और मूढ सबके साथ पूरा-पूरा सत्य बर्ताव करना चाहिये। हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारे किसी भी बर्ताव से हमारी मनुष्यता लज्जित न हो जाय—हमारे भीतरवाला सत्य-नारायण मैला न हो जाय। हमें अपने प्रत्येक व्यवहारमें इन सब बातोंका पूरा-पूरा ध्यान रखकर ही बर्ताव करना चाहिए। हमारी सच्ची स्वतन्त्रता भी यही है और हमारे कर्तव्यपालनकी पूर्णता भी इसीमें है कि हमारा जीवन पशु, पक्षी, कीट, पतंगका-सा भोजन और भोगमात्र करते रहनेवाला क्षुद्र जीवन न रहकर मनुष्य-समाजके लाभ और गर्वकी वस्तु बन जाय।

जब हम जन्म लेते हैं तब मनुष्य-समाजका सारा बल हमारी सहायता करनेमें लग जाता है और हमें अपनी अनुकूलता, अपनी भाषा, अपनी भावलहरी तथा अपने आचार-विचार सिखाकर पाल-पोषकर मनुष्य बना देता है। हम किसी कारणवश अपने समाजसे अलग होकर भी उसी की भाषामें सोचते और उसीसे प्राप्त की हुई विचारधाराके सहारेसे जीवनयात्रा करते रहते है। हमें अपने समाज का यह उपकार सदा ही स्मरण रखना चाहिये और कोई समाज-विरोधी लाभ उठानेका स्वप्न भी नहीं देखना चाहिये। परन्तु हमारा स्वार्थ हमें समाजका महान उपकार भुलवा देता है और हमें समाज का भेड़िया बना डालता है। हम अपने स्वार्थके लिए अपने समाजके स्वार्थका आखेट खेलते हैं। सोचिये तो सही कि यह हमारी कितनी पतित और गर्हित मनोदशा है? यह हमारी ऐसी मनोदशा है जैसे कोई भूखा मनुष्य अपने ही अंगोंको दाँतोंसे काटकर अपनी भूख मिटाने चला हो। जब हम अपने समाजके महान् उपकारको भूलकर स्वार्थके वशमें आ जाते हैं और व्यक्तिगत जीवनको प्रधानता दे देते हैं, या व्यक्तिगत जीवनको ही अपना एकमात्र लक्ष्य बना लेते हैं और अपने समाजके लाभ-हानिकी कोई अपेक्षा नहीं करते, तब हम परतन्त्र हो जाते हैं और अपनेको समाजका शत्रु बना लेते हैं।

यदि हमारा सौभाग्यसूर्य उदित हो और हमारी विवेक-चक्षु खुलें तो हमें अपने पालनेवाले मनुष्य-समाजके साथ रहना चाहिए। अर्थात् हमें अपने जीवनकी छोटीसे छोटी घटनामें भी उसका ध्यान रखना चाहिए कि हमारे इस कार्यसे हमारे समाजकी कुछ हानि तो नहीं हो जायगी ? हम इस कामसे अपने समाजके शत्रु तो नहीं हो जायँगे ? स्वार्थरूपी शत्रुका नाश करना ही हमारे जीवनका प्रधान काम है। हम स्वार्थरूपी शत्रुको मारनेके लिए ही इस मानव जीवनमें आये हैं। हमारे विधाताने हमारे उत्पन्न होनेसे पहले हमसे वध करा कर हमें स्वार्थ-विजयी परमार्थ सम्राट बना देनेके लिए स्वार्थरूपी वध्य शत्रुको हमारे साथ बाँधकर भेजा है। जैसे बिल्ली अपने शिशुको मूषकोंका आखेट करनेकी कला सिखाती है उसी प्रकार हमारा विधाता हमें स्वार्थका आखेट करनेकी कला सिखानेके लिए ही इस संसारमें लाया है। जब हम उसी स्वार्थरूपी शत्रुसे मिल जाते हैं तब हमारे जीवनमेंसे शूरता, तपस्या, त्याग, आत्मसंयम, क्षमा, उदारता आदि मनुष्योचित ऊँचे गुणोंको दिखानेका अवसर लुप्त हो जाता और हम विनष्ट हो जाते हैं। क्योंकि मनुष्य ऊपर उठनेकी तपस्या को साथ लेकर आया है इसलिए उसका ऊपर न उठना ही गिर जाना और उन्नत न होना ही अवनत हो जाना है।

हमें यह जानना चाहिये कि हम समाजके साथ कितने अभेद भाव से जकड़े हुए हैं। जब हम इस बात को पूरा-पूरा समझ जायँगे, तब हमारे समाजको किसी भी रूप में हानि पहुँचानेवाले वैरियों तथा समाजके रक्तशोषकोंके साथ हमारी सदा शत्रुता ठनी रहा करेगी। उनका हमारा सहयोग कभी न हो सकेगा। तब हम समाज के द्रोही से कभी सन्धि नहीं कर सकेंगे। यदि हमारा ही कोई दुर्गुण समाज का द्रोह करनेवाला होगा तो हम उस पर भी शत्रुवत् प्रहार करेंगे और उसे नष्ट करके ही शान्तिसे बैठेंगे। यों हमसे समाजके शत्रुका होना किसी भी रूपमें सहन नहीं होगा। मनुष्यका मनुष्यपना इसी में है कि शत्रुके प्रति क्रोध तथा उसे क्षमा

न करनेके भावको स्थायी बनाकर रक्खे। अर्थात् मनमें शत्रुके आगे सिर झुका देनेकी निर्बलता कभी न आने दे।

यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि स्वार्थ ही हमारा वास्तविक शत्रु है। हमारे बाहरके शत्रु हम पर तभी आक्रमण करते हैं और तभी वे हमको दबाकर बैठ जाते हैं जब हम समाजके हितको भूलकर अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थोंसे चिपटे होते हैं। हम तो अपनी मूर्खतासे व्यक्तिगत स्वार्थोंसे चिपटे रह जाते हैं और हमारे समाजका सामूहिक स्वार्थ दूसरोंके अधिकारमें चला जाता है। इसके परिणामस्वरूप अन्तमें हमारे व्यक्तिगत स्वार्थकी भी न कहने योग्य दुर्गति होती है। इसलिए यदि हमको स्वयं व्यक्तिगत रूपमें बलवान् और सुखी रहना हो तो हमें अपने समाजको बलवान् और सुखी रखना ही पड़ेगा तथा हमें इस कामके लिए जीवन भर जी तोड़ परिश्रम करना पड़ेगा। हमें अपने समाजको सुखी और बलवान् रखनेके लिए सब दुखोंकी मूल अपनी स्वार्थ रूपी निर्बलताको छोड़ना पड़ेगा। हमें अपनी निर्बलताका विद्रोही बनना पड़ेगा। इसके लिए यह आवश्यक होगा हम अपनी दैनिक जीवनचर्य्यामें सामाजिक सेवाको अवश्य ही महत्वपूर्ण स्थान देकर रखें। यदि हम ऐसा नहीं करेंगे तो हमारा जीवन संसारकी महत्वहीन निरुपयोगी घटना बन जायगा। हमारा स्वार्थरूपी शत्रु हमपर अनेक रूपोंसे आक्रमण किया करता है। वह कभी क्रोध बन कर और कभी लालचका रूप धरकर आता है। उसे हम जब जिस रूपमें आक्रमण करता पायें उसे तभी नष्ट कर देना हमारा पवित्र कर्तव्य होना चाहिये। यदि हम लोग किसी भी रूपमें आक्रमण करते हुए इस शत्रुको सबसे पहिले अवसरपर ही अपने आत्मविश्वास और दृढतासे हटा डालेंगे तो वह शत्रु सदाके लिये पराभूत कर दिया जायगा। यह बड़ा उत्साहवर्धक समाचार है कि हमें बुराइयोंसे सदा युद्ध छेड़नेका प्रसंग नहीं आया करेगा। एक बारके पक्के निश्चयसे बुराईसे लड़ाईकी एक युद्धस्थली जीत लेनेपर हमारी विजय स्थायी हो जायगी।

फिर जब कभी-किसी बुराईसे युद्ध छेड़नेका अवसर आया करेगा तब अगले समस्त युद्धोंमें विजय हमें ही मिला करेगी। तब बुराइयोंको हमारे सामने आनेका साहस ही नहीं हुआ करेगा। परन्तु हमें अपनी ओरसे इस स्वार्थ रूपी शत्रुसे प्रत्येक समय सार्वदिक युद्धघोषणा रखनी तथा युद्ध चालू रखना पड़ेगा। उस युद्धको चालू रखने और शत्रुको पहली बार देखनेपर ही मार सकनेके कुछ उपाय ये हैं :—

(१) जिस कामको करनेसे हमारे बाह्य या आन्तर शत्रुका अभिप्राय या इच्छा पूर्ण होती हो वैसा काम कभी न करो। अर्थात् कायर कभी न बनो। तुम्हारे कायर बन जानेसे तुम्हारे शत्रुओंकी इच्छा पूर्ण होती है।

(२) भौतिक आवश्यकताओंको जितना घटा सको उतना ही घटाकर रक्खो; और उतना ही अपने जीवनको धन्य मानो। आवश्यकताओंके विस्तारके भँवरमें फँसनेसे जान-बूझकर बचते रहो।

(३) अपनेको तुच्छ मानकर कभी भी न करने योग्य काम मत कर बैठो। कभी किसीके प्रभावमें मत आया करो। उदाहरणार्थ यदि तुम निर्धन हो तो अपनी निर्धनताको ईश्वरकी देन मानकर अपने निर्धन होनेका भी घमण्ड रक्खो। अपनी निर्धनताको अपना सौभाग्य मानो।

(४) कर्तव्यका पालन करते हुए अपने मनमें मैं अकेला हूँ, असहाय हूँ, दुर्बल हूँ, सामग्रीहीन हूं इत्यादि किन्हीं भी निर्बलताओंको मत ठहरने दो।

(५) दूसरों को सन्ताप पहुँचाने की भावनासे कभी कोई काम मत किया करो।

(६) दुष्टोंके सामने कभी भी दीन मत बनो।

(७) सन्मार्गको संकटतम समझे हुए अवसरोंपर भी कभी मत छोड़ो।

(८) इन नियमोंका पालन करते हुए तुम्हें जो थोड़ेसे थोड़ा

लाभ हुआ करे उसीको अपनी जीवन-यात्राके लिए पर्याप्त मानकर उसीसे अपनी जीवन-यात्रा चलाया करो।

(९) अपनी इच्छाओंपर पूरा पूरा नियन्त्रण और निरीक्षण रक्खो। किसी पदार्थके सामने आते ही उसकी इच्छा मत कर बैठो। बढ़ती इच्छाओंको अपने जीवनका शत्रु मानो।

(१०) मनमें कल्याणमयी भावनाओंको जगाये रक्खो।

(११) जब कभी चित्त में शंका उत्पन्न हो तभी उसे उद्यम और उत्साह के साथ दूर कर दिया करो।

(१२) कभी किसी विषयमें निराश मत हुआ करो।

(१३) हृदयको वज्रकी भाँति कठिन और पर्वतकी भाँति अचल रक्खा करो। ऐसा करनेसे तुम्हारी भौतिक विपत्तियाँ भी तुम्हारी कार्यसाधक तथा यशोवर्धक हो जायँगी।

(१४) अपने ऊपर शत्रुके आक्रमणकी बाट न देखकर स्वयं ही उसपर प्रत्येक समय समयोचित आक्रमण करते रहा करो।

(१५) मनमें भयको कभी स्थान मत दो।

(१६) अकर्तव्य करके अपने माता-पिता, समाज और देशकी लज्जा के कारण मत बनो।

(१७) कर्तव्य-पालन करते हुए न तो जीवनकी ओर देखो कि कर्तव्य-पालनमें वह रहेगा या नहीं ; न जीवनके सुखकी अपेक्षा करो कि कर्तव्य-पालन करते हुए जीवनके सुख शेष रहेंगे या नहीं ; न जीवनके साधनोंका मोह रक्खो कि वे सुरक्षित रहेंगे या नहीं और न माता-पिता या समाजके मोहसे ही प्रभावित हो कि इनसे पुनर्मिलन का प्रसंग मिलेगा या नहीं ?

(१८) भूतको भुला डालो और भावीकी ओर देखना छोड़ दो। तुम अपनी सारी विचारशक्तिको केवल वर्तमानका सदुपयोग करनेमें लगाये रक्खो।

(१९) तुम यह जानो कि यह देह तुम्हें लक्ष्यसे मिला देनेके लिए मिला है। तुम्हें इस शरीरमें सदा नहीं रहना है। तुम जीवनके प्रत्येक

समय देहके लक्ष्यप्राप्त्यर्थ मिलनेके सत्यविचारसे प्रभावित रहा करो तथा अपने विचारोंमें शरीर-पालनको अनुचित महत्व मत दो। यह सदा स्मरण रक्खो कि तुम्हें कुछ दिनके लिए मिला हुआ यह शरीर तो एक साधन है। इसे साधन ही के स्थान पर रहने दो। इसे ही अपना साध्य या अराध्य देव मत बना डालो।

(२०) वेश, भूषा, भाषा, खेल, विचार और रहन-सहनमें किसी भी व्यक्ति या जातिका अनुकरण करनेके विचारोंको मत आने दो।

(२१) कर्तव्यको प्रसन्नचित्तसे किया करो। यदि तुम्हें कर्तव्य पालन करते हुए अपना कर्तव्य अपने सिर पड़ा बोझा प्रतीत होता हो और तुम्हें उसमें हर्ष न होता तो ठहरकर सोच लिया करो कि कर्तव्यमें बोझ प्रतीत होने तथा उसमें हर्ष न होनेके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि वह कर्तव्य नहीं है और तुमने उसे या तो भूल से या किसीके प्रभावमें आकर कर्तव्य समझ लिया है। दूसरा यह कि वह कर्तव्य तो है परन्तु तुमने उसमें अपना अहं लगा रक्खा है। तुम उसे फलाभिलाषा अर्थात् लेन-देनकी भावनासे करना चाहते हैं। इसीलिए वह कर्तव्य होने पर भी तुम्हारे औत्सुक्यके कारण बोझा बन गया है। यदि इस प्रकार विचार करनेपर वह कर्म अकर्तव्य प्रतीत हो तो उसे तुरन्त त्याग दो और यदि उसमें तुम्हारा अहंकार लगा हुआ हो अर्थात् उसमें तुम्हारी फलाभिलाषा चिपट रही हो तो तुम उस कामको अहंकार छोड़कर कर्तव्य-पालनकी भावनासे करो। कर्तव्य बोझा नहीं होना चाहिये। कर्तव्य तो ईश्वरीय सन्देश होता है वह तो परम हर्ष-जनक तथा लघुसे लघु होना चाहिये।

(२२) कर्तव्यसे बचनेका प्रयत्न मत करो। उसे दूसरेसे कराना मत चाहो। जिस कर्तव्यको परमात्माने तुम्हारे पास भेजा है उसे तुम स्वयं करो। उसे दूसरोंसे मत कराओ। कोई दूसरा हमारा काम कर दे ऐसी चाह मनकी निर्बलता है। अपना काम हम ही करेंगे, इस निश्चयमें ही बल है। यह निश्चय मनुष्यजीवनमें अपना विशेष महत्व रखता है। यह निश्चय मनुष्यको उन्नतिके शिखरपर

यता बैलोंकी सहायता नहीं होती। यदि ऐसे मूर्खोंको ऐसी सहायता न मिले तो वे बैलोंकी शक्तिसे अधिक बोझा लादना बन्द करदें। इस नीतिका अवलम्बन करनेसे बैलोंकी भी सहायता हो जाती है। ऐसे अवसरपर इस रीतिसे विचारना चाहिये कि क्योंकि इन बैलों-की सच्ची सहायता करना हमारे अधिकारमें नहीं है इस कारण इन बैलोंको दुखसे बचाना भी हमारा कर्तव्य नहीं है। इन बैलोंको इस गाड़ीवानकी उस मूर्खतासे दुख हो रहा है जिसका हम कोई प्रति-कार नहीं कर सकते। हमारा बस चले तो हम इन बैलोंको खुलवा दें। क्योंकि हम इन बैलोंको भारमुक्त नहीं कर सकते, इस कारण हमारे लिये इस मूर्खतामें सहायक होना अकर्तव्य है।

(२९) किसी परिचित या मित्रके पास जाना कर्तव्य बनकर न आया हो तो किसीके पास मत जाओ। किसीके पास कर्तव्यको साथ लेकर ही जाओ। बातोंके रोगी होकर किसीके पास मत जाओ। यदि केवल मिलनानन्द और गप्पोंका आनन्द लेनेके लिए किसीके पास जाने लगोगे तो अपना आत्म-सम्मान तथा महत्व दोनों खो बैठोगे। किसीके साथ रहनेका प्रयत्न मत करो। केवल कर्तव्यके साथ रहने-का पूर्ण ध्यान रक्खो। कर्तव्यके साथ रहना प्रभावशाली शक्ति-वर्धक और सन्तोष-दायक होता है।

(३०) जहाँ सम्मानरक्षाका प्रश्न आये वहाँ रुपया बचानेका प्रयत्न मत करो। रुपया बचाना बचाना नहीं है। मनको बचाना ही बचाना है। प्राणकी रक्षाके लिए धनका उपयोग हो सकता है। परन्तु सम्मानकी रक्षा मालसे नहीं होती। सम्मानकी रक्षा तो प्राणोंसे होती है। सम्मान-रक्षाके समय मालकी रक्षाको भूल जाओ। अपने प्राणोंसे अपने सम्मान और गौरवकी रक्षाके लिए उद्यत रहो।

(३१) किसीके परिचित बनकर किसीसे व्यवहार मत करो। परिचित बनकर व्यवहार करनेवालोंको दूसरोंसे दबना पड़ता है। केवल सत्यसे अपना परिचय रक्खो। जब किसी सत्यहीन मनुष्यके साथ वर्ताव आ पड़ा करे तब तुरन्त तोतेके समान आँख बदल लिया

करो और झट उसके अपरिचित बन जाया करो। उससे दबकर कभी कोई बर्ताव न किया करो। ऐसा करोगे तो दबनेका स्वभाव बन जायगा। ऐसा करनेसे असत्यका विरोध करनेका स्वभाव मर जायगा। तब असत्यका विरोध करनेमें आलस्य या उपेक्षा पैदा हो जायगी। असत्यके विरोधमें आलस्य करना पराधीनता है।

(३२) भावी लाभकी चिन्तामें या बुरा माननेके डरसे किसीसे दबकर व्यवहार मत करो। भावी भगवानके हाथमें है। भावीको बचानेकी चिन्तामें मत फँसो। केवल वर्तमानको सुधारकर रक्खो। दूसरोंको प्रसन्न करना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। अपने मनको अप्रभावित, चिन्ताहीन तथा पवित्र रखना तुम्हारा कर्तव्य है। इसलिए केवल अपने मनको सुरक्षित रखनेकी चिंता रक्खो। संसारको बिगड़ जाने दो, रुष्ट हो जाने दो, परन्तु अपने मनको बिगड़नेसे बचाये रहो।

(३३) घूस उत्कोच (रिश्वत) देकर अपना काम मत करो। जो काम घूस दिये बिना न बनता हो, उसे बिगड़ जाने दो। तुम देखोगे कि घूस न देकर काम बिगड़ने देनेमें ही तुम्हारा कल्याण है। क्योंकि काम बिगड़ जानेसे तुम्हारी कोई यथार्थ हानि नहीं होगी प्रत्युत उससे तुम्हारा आत्मबल बढ़ेगा। आत्मबल ही 'बल' है। दूसरे सब बलोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा करो और आत्मबल बढ़ाते रहो।

(३४) अपने ऊपर अनजान पुरुषका या अनजान पुरुषके किसी पदार्थ बिस्तर, सन्दूक, धन आदिका उत्तरदायित्व मत लो। यदि ऐसा करोगे तो बन्धनमें पड़ जाओगे और पछताओगे। तुम यह जानो कि तुम इस संसारमें बन्धन बढ़ानेके लिए नहीं आये हो किन्तु बन्धन काटनेके लिए आये हो। इसलिए अपने ऊपर बन्धन डालनेवाले काम मत किया करो।

(३५) अपनी कर्मशक्तिको सोने मत दो, किन्तु उसे सदा जगाये रक्खो। उसे आलस्यमें मत पड़ा रहने दो। कर्तव्यके साथ रहो।

कर्तव्यके साथ रहना प्रभावशाली है। अकर्तव्यके साथ कभी मत रहो। अपना एक भी क्षण अकर्तव्यके साथ मत बीतने दो।

(३६) अपना प्रत्येक काम मन लगाकर करो। जो अपना एक काम मन लगाकर करता है, वह सब काम मन लगाकर करता है।

(३७) उपयोगके लिए लिये हुए किसीके पदार्थको अपना काम समाप्त होते ही नियत समयपर लौटानेका पूरा ध्यान रक्खो। अपने को सदा अर्थशुचि बनाये रक्खो। जो मनुष्य अर्थशुचि (ईमानदार) नहीं है वह परमात्माको कभी नहीं जान सकता।

(३८) किसीसे कोई प्रतिज्ञा (वादा) मत करो। अर्थात् किसीको कोई भरोसा मत दो। इसलिए कि प्रतिज्ञाको निबाहना मनुष्य-शक्तिके बाहर है। प्रतिज्ञाको निभानेका अधिकार उसीको हो सकता है जिसका भावीपर अधिकार हो। मनुष्यका भविष्यत्पर कोई अधिकार नहीं है। मनुष्यको इस सम्बन्धमें बिंदु विसर्ग मात्र भी ज्ञान नहीं है कि अगले क्षण क्या हो जानेवाला है। मनुष्यका केवल क्षण भरके वर्तमानपर अधिकार है। उसका यह अधिकार भी केवल उसका सदुपयोग कर लेने तक सीमित है। उसे वर्तमानमें भी सृष्टि व्यवस्थाको अपनी कामनाके अनुकूल करनेका अधिकार नहीं है। वर्तमानपर भी उसका केवल इतना अधिकार है कि वह घटनाका सदुपयोग इस प्रकार करे कि उसे सर्वव्यापी आनन्दका भोग प्राप्त हो जाय या वह बुरी भली प्रत्येक घटनासे अपने पास सर्वव्यापी सुखका आवाहन कर सके। वह विपरीत घटनाको भी ईश्वरकी इच्छा और कृपाके रूपमें देखे तथा अनुकूल घटनाको भी ईश्वरकी इच्छा और कृपाके रूपमें देखे। जिस भविष्यत्के सम्बन्धमें मनुष्य निपट अन्धा है वह उसीके सम्बन्धमें किसीसे कोई प्रतिज्ञा करे, यह बड़ी विडम्बना और उपहासकी बात है। यही कारण है कि किसी प्रतिज्ञाके लिए विवश किए गए सन्तोंकी भाषा सदा ईश्वरकी इच्छा हुई तो या ईश्वर चाहेंगे तो इस प्रकारकी होती है। सन्त मनुष्य किसीसे कोई प्रतिज्ञा (वादा) करना, गर्व करना, संसारके एकमात्र

कर्ताको हटाकर स्वयं कर्ताके आसनपर बैठना मानते हैं और इसे गर्वोक्ति समझकर इससे प्रयत्नपूर्वक बचते हैं। वे भूलकर भी किसीसे कोई प्रतिज्ञा नहीं करते। वे किसीको भरोसा नहीं देते। वे जानते हैं कि प्रतिज्ञा करना मानवीय अधिकार नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञाका सम्बन्ध जिस भविष्यकालसे है वह काल मानवाधिकारके अन्तर्भुक्त नहीं है। प्रतिज्ञा करना मानवीय अधिकारकी सीमाका उल्लंघन करना है। इस दृष्टिसे कहा गया है कि किसीसे कोई प्रतिज्ञा मत करो। यदि तुम किसीसे कोई प्रतिज्ञा कर चुके हो और वह तुम्हारी किसी विवशतासे तुमसे पूरी न हो सके तो दुःखी होनेका कोई कारण नहीं है। अनधिकारयुक्त प्रतिज्ञा अज्ञानके कारण की गयी थी। तुम इतना समझ लो कि ईश्वरीय प्रबन्धने तुम्हारी इस प्रतिज्ञा को पूरा न होने देकर तुम्हें तुम्हारे अधिकारका बोध कराया है। ईश्वरीय प्रबन्ध मनुष्यको पद पदपर यही समझा रहा है कि प्रतिज्ञा करना मानवीय अधिकारसीमामें नहीं है जो ईश्वरीय प्रबन्ध अधिकारहीन प्रतिज्ञाओंको दिन रात तोड़ रहा है उसीने तुम्हारे लाख चाहते रहनेपर भी तुम्हारी प्रतिज्ञा पूरी नहीं होने दी। तुमने उसे अपनी ओरसे नहीं तोड़ा। यदि तुमने किसी प्रतिज्ञाको अपनी किसी निर्बलताके वश न तोड़ा हो तो तुम्हें संकोच करनेकी कोई आवश्यता नहीं है। तुम अब केवल इतना कर सकते हो कि इस प्रतिज्ञाभंगसे आगेको कोई प्रतिज्ञा न करनेका अनुभव लेलो। समझ लो कि मनुष्यशक्तिसे पूरी न हो सकनेवाली प्रतिज्ञाके टूट जानेसे मनुष्यताका पतन नहीं होता। ऐसी प्रतिज्ञा टूटती है तो उसे टूट जाने दो। यदि तुमने कोई प्रतिज्ञा किसीसे की हो और ईश्वरीय प्रबन्ध उसका विद्रोह न कर रहा हो, तो तुम उसे अवश्य पूरा करो। ऐसी परिस्थितिमें तुम्हारे पास उस प्रतिज्ञासे छूटनेका कोई उचित कारण नहीं है। यह प्रतिज्ञा तुम्हें पूरी करनी ही चाहिये। इसको तोड़नेसे तुम्हारी मनुष्यता नष्ट हो जायेगी। जो शुभ संकल्प तुमने अपने मनसे किया है, उसे पूर्ण दृढतासे पालन करो। अपने मनपर

मनुष्यका पूर्ण अधिकार होता है। यह प्रतिज्ञा ऐसी नहीं है, जो मनुष्यके अधिकारसे बाहर हो। स्वाधिकारान्तर्गत प्रतिज्ञाको तोड़ना ईश्वरको अस्वीकार करना होता है? यह प्रतिज्ञाभङ्ग नास्तिकपन है। जो प्रतिज्ञा तुमने अपने शुद्ध मनसेकी हो, जो विशुद्ध ठनाव तुमने अपने मनमें ठाना हो, वह अपने ईश्वरके सामने ठाना है। यह प्रतिज्ञा टूटनेवाली प्रतिज्ञाओंकी श्रेणीमें नहीं है। मनुष्यको ऐसी प्रतिज्ञाको तोड़नेका कोई अधिकार नहीं है।

(३९) भविष्यत्‌का कार्यक्रम मत बनाओ। भविष्यत्‌के लिये प्रतिज्ञा न करनेका जो कारण है, वही कारण भविष्यत्‌के कार्यक्रम न बनानेका भी है। मनुष्यको केवल वर्तमानपर पूर्णाधिकारयुक्त रहकर उसका सदुपयोग करना चाहिये। भविष्यत्‌पर कल्पनाका लोभसना हाथ नहीं फेरना चाहिये। उसे अतीतकी चिन्ता न करनी चाहिये। केवल वर्तमानक्षणको अपनेको पूर्ण अभ्रान्त और आनन्दी रखनेके उपयोगमें लाते रहना चाहिये। कौनसा काम तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है? तुम्हारे पास इस सम्बन्धकी लेशमात्र भी सूचना नहीं है ऐसी अवस्थामें जो कोई कर्तव्य वर्तमानकालिक कर्तव्य बनकर आया हो उसीको अपराजित रहकर ईश्वरभावसे पालते और अपनी मनुष्यताकी सेवा करते रहो।

(४०) अपनी शक्तिसे अपना काम करो। इसका अर्थ यह हुआ कि अपनी अशक्तिसे अपना कोई काम मत करो। अपनी अशक्तिसे होनेवाले कामकल बिगड़ते हों तो आज बिगड़ जाने दो। जिस कामको करनेमें उत्साह और अन्तरात्माको सन्तोष होता हो उसे अपनी शक्तिसे हो रहा समझो हैं। जिस कामको करनेमें अनुत्साह, ग्लानि, लज्जा, भय, संकोच, या पराधीनता प्रतीत होती हो जिसको करते समय समाजके सार्वजनिक नियमों और शान्तिका विद्रोह होता हो समझ लिया करो कि यह काम हमारी अशक्ति (निर्बलता) से हो रहा है। इसलिये इसे इस रूपमें नहीं करना चाहिये। ऐसे काम अशक्त निर्बलमनवाला होकर किये जाते हैं। अवश्यंभावी

दुःख ही ऐसे कामोंका परिणाम होता है। अशक्त होकर कोई काम मत करो। शक्त होकर ही कोई काम करो।

लोभ मोह या क्रोध आदिके आवेश मनुष्यकी अशक्ति हैं। ये अशक्ति मनुष्यसे ऐसे काम करा लेती हैं जो उसे नहीं करने चाहिये तथा उसे जिन्हें करके पछताना पड़ता है। जो काम इन अशक्तियोंसे किया जाता है वह कर्ताके पास दुःखको बुला लाता है। इसलिये तुम अशक्तिसे काम करनेका स्वभाव छोड़ दो। कामके प्रारंभके समय मनको अप्रभावित रखनेमें अपना समस्त बल लगाया करो। शक्तिसे ही काम करनेका स्वभाव बनाओ। उधार लेकर कोई काम करना भी अशक्तिसे ही काम करना है। इसे भी त्याग दो।

(४१) मनमें दुर्बलता आया करे तो उसका विश्लेषण कर डाला करो। जब दुर्बलता अपराधीके रूपमें मनके सामने आयेगी, तब लज्जा नामकी मनोवृत्ति जागेगी और उस दुर्बलतापूर्ण कामको नहीं करने देगी।

(४२) जीवनको ऐसा तेजस्वी और स्वाभिमानी बनाओ कि उस पर कोई आक्रमण न कर सके, उसपर कोई कुदृष्टि डालनेका साहस न कर सके, वह किसीका भोग्य न बन सके, वह किसीके लोभकी वस्तु न बन जाय, उसपर कोई आधिपत्य न जमा सके, प्रभाव न डाल सके। उसे देखकर किसीकी अत्याचार करनेकी प्रवृत्ति न जाग सके। जीवनको ऐसा अजेय बनानेमें ही जीवनकी सार्थकता है। भोग्य वंचनीय पराजित जीवन जीवन नहीं है। विजयी जीवन ही जीवन है।

(४३) हम करनेवाले नहीं हैं यह संसारका एक महान सत्य और ज्ञातव्यपरम रहस्य है। तुम प्रत्येक क्षण इस सत्यका दर्शन करते रहो। तुम अपना समस्त बुद्धिवैभव कर्तापनको भुलानेमें व्यय कर डालो और अपने अकर्तापनको अनुभवकी आँख खोलकर देखते रहो। संसारकी प्रत्येक घटना मनुष्यको मनुष्यका अकर्तापन समझाना चाह रही है। वे इसके सामने इसी कामके लिए हो रही हैं।

जब तुम्हें तुम्हारा अकर्तापन समझमें आ जाय तब तुम अपनेको पूर्ण ज्ञानी समझो। समझमें आया हुआ अकर्तापन ही ज्ञानी होनेका एकमात्र प्रमाणपत्र है।

समाजके साथ व्यक्तिका स्वाभाविक अटूट सम्बन्ध कर्तव्यपालन से ही अटूट रहता है वह सम्बन्ध कर्तव्यपालन न करनेपर टूट जाता है। उस सम्बन्धको दृढ रखनेके लिए मनुष्यके मनमें स्वभावसे कर्तव्यबुद्धि उत्पन्न होती रहती है। समाजके सम्पर्कमें रहकर मनुष्यके मनमें मानवीय कर्तव्य जागते रहते हैं। कर्तव्यबुद्धि मनुष्यकी दैवी सम्पत्ति है। यह मनुष्यको देवकोटिमें पहुँचा देती है। यह मनुष्य समाजमें आवश्यक रूपसे सुरक्षित रहनी चाहिए। इसके रहनेसे मनुष्य और मनुष्यसमाज दोनों मनुष्यतारूपी सम्पत्तिके धनी बने रहते हैं। कर्तव्यबुद्धि न रहनेपर मनुष्योंमें आसुरी भाव उत्पन्न हो जाते हैं। अपने आपको समाजके साथ निःस्वार्थ कर्तव्य के पवित्र बन्धनसे बाँधकर रखनेपर ही मनुष्यको अपने भीतर स्वभावसे भरी हुई दैवी सम्पत्तिरूपी सत्यके दर्शन हुआ करते हैं। इस सम्बन्धको अटूट रखनेके लिए प्रत्येक मनुष्यके मनमें स्वभावसे कल्याणमयी वृत्तियाँ रहती हैं। जब कोई समाज अपनी सामूहिक शक्तिसे उन कल्याणमयी वृत्तियोंकी रक्षा करने लगता है तबही वह समाज मनुष्यसमाज कहलानेके योग्य होता है।

कर्तव्यका सम्बन्ध देहके साथ नहीं है। इसलिये अपने देहको किसी काममें लगाने या न लगाने मात्रसे मनुष्यका कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। किन्तु उसका कर्त्तव्य अपनी मानसिक विदेहावस्था-की रक्षा करनेसे ही पूरा होता है। मानसिक विदेहावस्थाकी रक्षा करना ही सच्चा कर्त्तव्य होता है। मनुष्यको विवशतामें आकर जो कुछ करना या करनेसे बचना पड़ता है वह कर्त्तव्य नहीं होता। सत्यासत्यको विचार करके उसे जो सत्य समझमें आता हो उसे करना कर्त्तव्य होता है तथा जो असत्य प्रतीत हो तो उसे न करना भी 'कर्त्तव्य' होता है। जिन जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि निद्रा इत्यादि

क्रियाओंमें मनुष्यकी इच्छा या अनिच्छाका कोई अवसर नहीं होता वे कर्तव्याकर्तव्य निर्णय करनेके अवसर नहीं होते । जिन कामोंमें मनुष्यको विचार करनेका अवसर मिला करता है, करें ? या न करें ? इस प्रकार सोचकर दोनोंमेंसे एक बातपर दृढ हो जाना आवश्यक होता है वे काम ही कर्तव्य अकर्तव्य निर्णय करनेके अवसर माने जाते हैं ।

जो काम हमारी इच्छाके बिना कार्य रूपमें प्रकट नहीं हो सकते उन स्वाधीन कामोंमें कल्याण अकल्याणका विचार करके, कल्याणका हो तो करना और अकल्याणका हो तो छोड़ देना 'कर्तव्य' होता है। अकल्याणको कल्याण समझकर कर डालना या कल्याणको अकल्याण समझकर न करना 'अकर्तव्य' होता है। अपनी कल्याणबुद्धि और अकल्याणबुद्धिका ठीक-ठीक उपयोग करना ही दैवी सम्पत्तिकी रक्षा कर लेना कहाता है। अपने कामोंमें अपने कल्याण अकल्याणकी कोई भी अपेक्षा न करना और अन्धे होकर कामोंमें जुट पड़ना आसुरी संपत्ति या मनुष्यका नपुन्सकपनका प्रदर्शन है। इन्द्रियोंमें आसक्त हो जाना, उनकी आज्ञा पाते ही दासोंके समान किसी भी काममें अपने आपको झोक देना नपुंसकता है। इन्द्रियोंकी आज्ञाको न टाल सकना 'नपुंसकपन' है। इन्द्रियोंपर विजय पाये रहना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थकी रक्षा करना ही जीवनकी सफलता है। इसीको कर्तव्यपालन करना भी कहते हैं। जीवनकी सफलता आँखोंसे नहीं दीखती। वह आँखोंसे दीखने योग्य स्थूल अवस्था नहीं है। लोग धन सम्पत्ति या मान यशका अधिकारी बन जानेको सफलता समझते हैं, परन्तु इनके साथ सफलताका कोई सम्बन्ध नहीं है। सफलता तो मनुष्यके मनकी शांत अवस्था है। मनकी अवस्था शांत होनेसे ही उसमें कर्तव्यबुद्धि पैदा होती है और कर्तव्यपालन करनेसे उस शांत अवस्थाकी रक्षा होती है।

अपने शरीरको किसी काममें लगाने या न लगानेके साथ शांति-का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह देह प्रकृतिसे ही बना है। इसे प्रकृति

में ही रहना पड़ता है। प्रकृतिसे बने हुए इस देहको प्रकृति ही काममें लगाती है। इसे काममें लगाना या कामसे बचाए रखना मनुष्यके बसका काम नहीं है। संसारके समस्त कर्म प्राकृतिक व्यवस्थाके अधीन होते हैं। कर्म प्रकृतिके अनुकूलतासे ही होते हैं नहीं तो मनुष्यके लाख सिर पटकनेपर भी नहीं हो पाते। मनुष्य हाथ मल मलकर रह जाता है और उसके कर्म अपूर्ण अकृत असफल पड़े रह जाते हैं। निश्चय ही कर्म प्राकृतिक व्यवस्थाका अधिकार क्षेत्र है। जब तक मनुष्यमें जीवन शक्ति बनी रहती है तबतक प्रकृति ही इसे काममें लगाये रहती है। यह देह सृष्टिका ही एक भाग है। सृष्टि इसे अपने किसी न किसी काममें अवश्य लगाये रहती है। इसे उसका दिया हुआ काम करना ही पड़ता है। कर्मके सम्बन्धमें इस पराधीन स्थितिमें देहीका केवल यह काम है कि वह प्रकृतिकी इस लीलामें अनासक्त होकर द्रष्टा बनकर रहने लगे। वह देहाभिमानमें न आ जाय। वह यह न मान बैठे कि मैं देह हूँ। वह ऐसा इसलिए न मान बैठे कि देहाभिमानी मनुष्य अभागा होता है। वह संसारलीलाका द्रष्टा न रहकर दृश्य हो जाता है। उसे प्रकृतिकी खेली हुई लीला नहीं दीखती। वह अपनी दैहिक और ऐन्द्रियक लीला करनेमें इतना उलझ जाता है कि अपने चारों ओर दिनरात होते रहनेवाली घटनाओंकी ओर ध्यान नहीं दे पाता कि वे मेरे आस पास क्यों हो रही हैं? और उन्हें कौन कर रहा है? वह उनका रहस्य नहीं समझ पाता। जब कोई देही देहाभिमानके वशमें आकर अपनी इच्छासे इस देहको काममें लगानेवाला बनता है, तभी मायाके जालमें फँसकर सुख-दुःखके अधीन हो जाता है। ज्ञानियोंने इस सचाईको अनन्त बार अपनी आँखोंसे देखा है कि इस संसारमें इस देहीके लिए ऐसी कोई भौतिक स्थिति नहीं है कि जिसे पाना जीवनकी सफलता या जिसे न पाना जीवनकी असफलता कहा जा सकता हो। इस देहीके पास सफलता कहलाने योग्य केवल यह अवस्था है कि वह भौतिक सफलता और

असफलतासे अतीत होकर रहने लगा हो। चाहे तो उसे भौतिक सफलता मिले या न मिले वह दोनोंकी ओर उपेक्षाबुद्धि बनाये रक्खे। वह इन दोनोंको दिन रातके समान पर्यायसे घूमनेवाली घटना माना करे और उदास मनसे इनके साथ बर्त्ताव करे। यही इस देहीकी सच्ची निष्काम आसक्तिरहित और आनन्दमयी अवस्था है। जब तक मनुष्यके देहमें जीवनीशक्ति काम कर रही है तबतक सुख दुःखसे अतीत बने रहना ही जीवनधारण करनेका भद्रजनानुमोदित उद्देश्य है।

शरीरकी रक्षा भी प्रकृतिके हाथमें है और शरीरको किसी काममें लगाना भी प्रकृतिके बसकी बात है। इस देहधारीने शरीरकी रक्षा करनेके बदलेमें किसी कामको करनेका ठेका लेकर जन्म धारण नहीं किया है। यह देह चाहे कोई काम करे या करनेसे बचे जितने दिन इस शरीरको रहना है यह देह उतने दिन प्रकृतिके प्रबन्धसे ही रहता है। इस शरीरको किस प्रकार रक्खा जायगा और किस प्रकार नहीं रहने दिया जायगा देहीको यह सोचनेका कोई अधिकार और उसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है। देहीका तो केवल एक काम है कि जबतक यह देह रहे तबतक इससे अपनी विदेहावस्था की रक्षा करता रहे। प्रकृति माता इसे जिस किसी काममें लगाये उसीमें अपनी निर्विकार मानसिक अवस्थाकी रक्षा करते रहना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है।

अपने लिये किसी शारीरिक कर्मको चुनना या किसीको मनाकर देना मनुष्यके बस या अधिकारकी बात नहीं है। कौनसी शारीरिक क्रिया मनुष्यकी प्रतीक्षा कर रही है? मनुष्यसे क्या कराना चाहा जा रहा है? यह मनुष्यकी बुद्धिकी पहुँचसे बाहरकी बात है। समक्ष उपस्थित कामोंसे ही ईश्वरेच्छा पहचानी जाती है। मनुष्यसे जब जो काम कराना होता है तब वह काम मनुष्यके सामने अचिन्त्य रूपसे आकर खड़ा होता और मनुष्यसे कहता है कि लो मैं तुम्हारे करनेके लिये आया हूँ। तुम सावधान होकर मुझे करो और

में ही रहना पड़ता है। प्रकृतिसे बने हुए इस देहको प्रकृति ही काममें लगाती है। इसे काममें लगाना या कामसे बचाए रखना मनुष्यके बसका काम नहीं है। संसारके समस्त कर्म प्राकृतिक व्यवस्थाके अधीन होते हैं। कर्म प्रकृतिके अनुकूलतासे ही होते हैं नहीं तो मनुष्यके लाख सिर पटकनेपर भी नहीं हो पाते। मनुष्य हाथ मल मलकर रह जाता है और उसके कर्म अपूर्ण अकृत असफल पड़े रह जाते हैं। निश्चय ही कर्म प्राकृतिक व्यवस्थाका अधिकार क्षेत्र है। जब तक मनुष्यमें जीवन शक्ति बनी रहती है तबतक प्रकृति ही इसे काममें लगाये रहती है। यह देह सृष्टिका ही एक भाग है। सृष्टि इसे अपने किसी न किसी काममें अवश्य लगाये रहती है। इसे उसका दिया हुआ काम करना ही पड़ता है। कर्मके सम्बन्धमें इस पराधीन स्थितिमें देहीका केवल यह काम है कि वह प्रकृतिकी इस लीलामें अनासक्त होकर द्रष्टा बनकर रहने लगे। वह देहाभिमानमें न आ जाय। वह यह न मान बैठे कि मैं देह हूं। वह ऐसा इसलिए न मान बैठे कि देहाभिमानी मनुष्य अभागा होता है। वह संसारलीलाका द्रष्टा न रहकर दृश्य हो जाता है। उसे प्रकृतिकी खेली हुई लीला नहीं दीखती। वह अपनी दैहिक और ऐन्द्रियक लीला करनेमें इतना उलझ जाता है कि अपने चारों ओर दिनरात होते रहनेवाली घटनाओंकी ओर ध्यान नहीं दे पाता कि वे मेरे आस पास क्यों हो रही हैं? और उन्हें कौन कर रहा है? वह उनका रहस्य नहीं समझ पाता। जब कोई देही देहाभिमानके वशमें आकर अपनी इच्छासे इस देहको काममें लगानेवाला बनता है, तभी मायाके जालमें फँसकर सुख-दुःखके अधीन हो जाता है। ज्ञानियोंने इस सचाईको अनन्त बार अपनी आँखोंसे देखा है कि इस संसारमें इस देहीके लिए ऐसी कोई भौतिक स्थिति नहीं है कि जिसे पाना जीवनकी सफलता या जिसे न पाना जीवनकी असफलता कहा जा सकता हो। इस देहीके पास सफलता कहलाने योग्य केवल यह अवस्था है कि वह भौतिक सफलता और

असफलतासे अतीत होकर रहने लगा हो। चाहे तो उसे भौतिक सफलता मिले या न मिले वह दोनोंकी ओर उपेक्षाबुद्धि बनाये रक्खे। वह इन दोनोंको दिन रातके समान पर्यायसे घूमनेवाली घटना माना करे और उदास मनसे इनके साथ बर्त्ताव करे। यही इस देहीकी सच्ची निष्काम आसक्तिरहित और आनन्दमयी अवस्था है। जब तक मनुष्यके देहमें जीवनीशक्ति काम कर रही है तबतक सुख दुःखसे अतीत बने रहना ही जीवनधारण करनेका भद्रजनानुमोदित उद्देश्य है।

शरीरकी रक्षा भी प्रकृतिके हाथमें है और शरीरको किसी काममें लगाना भी प्रकृतिके बसकी बात है। इस देहधारीने शरीरकी रक्षा करनेके बदलेमें किसी कामको करनेका ठेका लेकर जन्म धारण नहीं किया है। यह देह चाहे कोई काम करे या करनेसे बचे जितने दिन इस शरीरको रहना है यह देह उतने दिन प्रकृतिके प्रबन्धसे ही रहता है। इस शरीरको किस प्रकार रक्खा जायगा और किस प्रकार नहीं रहने दिया जायगा देहीको यह सोचनेका कोई अधिकार और उसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है। देहीका तो केवल एक काम है कि जबतक यह देह रहे तबतक इससे अपनी विदेहावस्था की रक्षा करता रहे। प्रकृति माता इसे जिस किसी काममें लगाये उसीमें अपनी निर्विकार मानसिक अवस्थाकी रक्षा करते रहना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य है।

अपने लिये किसी शारीरिक कर्मको चुनना या किसीको मनाकर देना मनुष्यके वस या अधिकारकी बात नहीं है। कौनसी शारीरिक क्रिया मनुष्यकी प्रतीक्षा कर रही है? मनुष्यसे क्या कराना चाहा जा रहा है? यह मनुष्यकी बुद्धिकी पहुँचसे बाहरकी बात है। समक्ष उपस्थित कामोंसे ही ईश्वरेच्छा पहचानी जाती है। मनुष्यसे जब जो काम कराना होता है तब वह काम मनुष्यके सामने अचिन्त्य रूपसे आकर खड़ा होता और मनुष्यसे कहता है कि लो मैं तुम्हारे करनेके लिये आया हूँ। तुम सावधान होकर मुझे करो और

अपनेको धन्य करो। मनुष्य इस संसारमें कर्म करनेके विषयमें ऐसी ही परवश परिस्थितिमें रह रहा है कि उसे न चाहनेपर भी अनिश्चित कामोंमें कूदना और मर मिटना तक पड़ता है। प्रश्न उठता है कि ऐसी अचिन्त्य परिस्थितिमें मनुष्यका क्या कर्तव्य रह जाता है? इस प्रश्नका यही उत्तर है कि मनुष्यका कर्त्तव्य केवल अपनी मानसिक स्थितिकी पवित्रताकी रक्षा करना होता है। मानसिक स्थिति ही शरीरका नियन्त्रण करनेवाली शरीरकी अधिष्ठात्रीदेवी होती है। वह मानसिक स्थितिही परमात्मा है। जैसे परमात्मा किसीका बन्धन नहीं मानता उसी प्रकार पवित्र मानसिक स्थिति भी प्राकृतिक बन्धन नहीं मानती। वह अपनी पवित्रतापर संकट आता देखते ही अपनी सारी सांसारिक परिस्थितिको तिलाञ्जलि दे बैठती है। प्रकृतिके बन्धनमें न रहना ही परमात्मा हो जाना है। प्रकृति परमात्माकी अनुचारिणी शक्ति है। यदि इस मानसिक स्थितिकी रक्षा होती रहे तो देहीके सामने सदा सुकर्म करनेका ही अवसर आता रहता है। ऐसा सुकर्म आनेपर उससे चाहे तो देहका नाश हो जाय, चाहे देहकी रक्षा हो जाय, दोनों हीमें शरीरका सदुपयोग होता है। यदि मनुष्य इस मानसिक स्थितिकी रक्षा नहीं कर पाता तो मनुष्यको दुष्कर्म ही करना पड़ता है। जहाँ दुष्कर्म देखा जाता हो, वहाँ समझ लो कि मानसिक स्थितिकी रक्षा नहीं की गयी। अरक्षित मानसिक अवस्थामें सुकर्म होना असम्भव है तथा सुरक्षित मानसिक अवस्थामें दुष्कर्म होना असम्भव है। अरक्षित अवस्थामें सुकर्मके रूपमें जो कुछ किया जाता है वह सब दुष्कर्म होता है। अपनी मानसिक स्थितिको अरक्षित रखकर किये गये सुकर्म समझे जानेवाले कामोंसे अपना या औरोंका कुछ पार्थिव लाभ हो जानेपर भी इतनी सी तुच्छ बातके कारण उस दुष्कर्मको सुकर्म मान बैठनेका कोई उचित कारण नहीं है? भौतिक लाभ या अलाभ सुकर्म और दुष्कर्मकी कसौटी नहीं हैं। मनुष्यका कल्याण या अकल्याण उसकी मानसिक स्थितिमें ही रहा करता है। मानसिक स्थिति दुष्ट होनेपर उससे अकल्याणकारी

कर्म ही होते रहते हैं। इस दृष्टिसे मानसिक स्थितिकी रक्षा करना ही मनुष्यका एकमात्र कर्तव्य रह जाता है। मानसिक स्थितिकी रक्षा करना ही सब कर्तव्योंका राजा है। ऊपर कही हुई वह मानसिक स्थिति किसी बाह्य परिस्थिति या किसी बाह्य साधनकी अपेक्षा नहीं करती। अपनी मानसिक स्थितिकी रक्षा करना मनुष्यके अपने वश की बात है। मनुष्य इसकी रक्षा करनेमें स्वतन्त्र भी है और अनन्त शक्तिमान् भी है। इसलिये जब कभी तुम्हारे सामने कर्तव्यपालनका अवसर आया करे तब तुम अपनी शरीर शक्तिकी सीमाके साथ बँध-कर मत रहा करो। तब तुम दूसरे साथियोंकी प्रतीक्षा मत किया करो। तब तुम अपनी सम्पूर्ण शक्तिसे अपना कर्तव्य-पालन किया करो। तुम ऐसा करने पर ही अपनी मानसिक स्थितिकी रक्षा कर सकोगे। यदि तुम कर्तव्यकी अवहेलना करोगे तो मानसिक स्थितिसे च्युत हो जाओगे।

तुम्हें अपने जिस कामका परिणाम भौतिक लाभ दीखता हो परन्तु मानसिक कल्याण या तो अनिश्चित लगता हो या असंभव प्रतीत होता हो तो उसे 'अकर्तव्य' समझ लो। मानसिक कल्याणका अभि-प्राय मनकी निर्विकार स्थितिकी रक्षा करना है। तुम्हारे जिस कामका परिणाम मानसिक कल्याण तो निश्चित प्रतीत होता हो और भौतिक लाभ अनिश्चित या असंभव प्रतीत होता हो तो उसे कर्तव्य समझा करो। यों निर्विकार मानसिक स्थितिको ही कर्तव्या-कर्तव्यकी कसौटी जानकर और उसे निश्चित रूपसे प्रत्यक्ष करके ही कर्तव्यको स्वीकार किया करो। भौतिक लाभालाभ सदा ही अनिश्चित और सदा ही अस्थायी होते हैं। उन (भौतिक लाभालाभों) पर दृष्टि रक्खें तो ऐसे कर्तव्य अकर्तव्यका का वह शुद्ध निर्णय नहीं किया जा सकता जिससे मनुष्यका मन एक शान्त और स्थिर स्थितिमें पहुँचा करता है। यदि तुम भौतिक लाभालाभोंको देखकर ही किसी कामको कर्तव्य मानकर उसपर टूट पड़ोगे तो यह जुआ खेलना होगा। उदाहरणके रूपमें किसी भौतिक

सुख बढ़ानेवाले लाभको ही स्वराज्य समझना तथा उसके लिये किये गये प्रयत्नका नाम स्वराज्यसंग्राम रखकर कुछ करना जुआ खेलना है। हमें आर्य संस्कृतिका यह रहस्य समझना चाहिये कि स्वराज्य भौतिक अवस्था नहीं है आर्य संस्कृतिके अनुसार स्वराज्य तो मानसिक स्थिति है। वह तो सब अवस्थाओंमें संपूर्ण दृढताके साथ रक्षा करने योग्य स्थिति है। जब किसीको स्वराज्यनामक मानसिक स्थिति प्राप्त हो जाती है तब सब भौतिक पदार्थ उस मानसिक स्थितिके आज्ञाकारी बनकर ही उसके जीवनमें उपयुक्त होने लगते हैं ? रक्षित मानसिक स्थितिवालोंके मन भौतिक पदार्थों अर्थात् सुख ऐश्वर्य आदिके पीछे कभी नहीं दौड़ा करते। मनुष्य ऐसी मानसिक स्थिति हो जानेपरही स्वराज्यको प्राप्त कर चुका माना जाता है। इस सच्चे स्वराज्यभोगी मनुष्यके मनमें रहनेवाले स्वराज्यकी सीमामें स्वतन्त्रताका विरोध कर सकनेवाली तथा सुख ऐश्वर्य देनेवाली किसीभी भौतिक स्थितिको स्थान नहीं मिल सकता। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि स्वराज्य समझी हुई भौतिक स्थिति इस सच्चे स्वराज्यका विरोध करनेवाली होती है। इसलिये तुम भौतिक सुख सम्पत्तिवाले स्वराज्यके मोहको त्याग दो तथा पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र बन कर इस वास्तविक स्वराज्य नामक मानसिक स्थितिकी रक्षा करते रहो। यह समझलो कि भौतिक लाभ हानियोंका स्वराज्य नामकी पवित्र मनोदशाके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इस दृष्टिसे स्वराज्यसंग्राम स्वतन्त्र व्यक्तिका नित्य निरन्तर अनुष्ठेय आवश्यक कर्तव्य है। स्वतन्त्र व्यक्तिको देशपर परदेशवासियों या स्वदेशवासियोंका किसीका भी भौतिक अधिकार होनेपर दोनों अवस्थाओंमें 'स्वराज्य संग्राम' लड़ना पड़ता रहता है। यदि तुम अपने उस नित्य निरन्तर योद्धव्य स्वराज्य संग्रामको किसी विशेष समय या परिस्थितिके लिये अर्थात् देशकी तैयारी या औरोंके साथ संबबद्ध होने आदि किन्हीं भी भौतिक बातोंकी प्रतीक्षामें टालोगे तो यह तुम्हारा पराधीनताको ही चिरकालके लिये स्वीकार कर बैठना रूपी अकर्तव्य

करना होगा। या यह तुम्हारा मनुष्यतासे गिर जाना होगा। समझ लेना चाहिये कि स्वतन्त्रता कुछ मनुष्योंके सम्मिलित उद्योगसे प्राप्त करने योग्यवस्तु नहीं है। स्वतन्त्रता तो अकेले-अकेले व्यक्तिका व्यक्तिगत धर्म है। जो वस्तु सम्मिलित शक्ति होनेपर मिले और न होनेपर न मिलती हो उसे कुछ दुर्बल पुरुषार्थहीन नपुंसक व्यक्तियोंकी सम्मिलित शक्तिपर निर्भर रहनेवाली दुर्बलता परनिर्भरता, पुरुषार्थहीनता या नपुंसकता आदि अनुदार नामोंसे स्मरण किया जायगा। स्वतन्त्रता उस पुरुषश्रेष्ठकी आत्मशक्ति है जो साथियोंके न होनेकी कोई अपेक्षा न करके दूसरोंकी शक्तिका थोड़ा सा भी सहारा न तक कर, अकेला केवल अपने आत्मविश्वाससे विजयी बना रहता है। स्वतन्त्रता उस पुरुषधौरेयकी आत्मशक्ति है जो भौतिक दृष्टिमें हारता दीखनेपर भी अपने मनमें विजयी बना हुआ है। मनमें विजयी रहना ही विजयी बनना है। समूहकी शक्तिपर निर्भर रहनेपर तो मनुष्यको समूहकी दासता करनी पड़ती है। एक किसी दासतासे नहीं किन्तु संसारमें जितनी प्रकारकी दासता हो सकती हैं अपनेको उन सबसे छुड़ा लेना स्वतन्त्रता है। यहाँ तक कि अन्तमें अपनेको देहकी दासतासे छुड़ाकर देही रूपमें सतत निवासका अधिकारोपार्जन कर लेना स्वतन्त्रताका अन्तिम रूप है। जो मनुष्य अपने समझे हुए समूहकी भी दासता करता है उसमें यह दासता उसकी भौतिक सुखेच्छाकी उत्पन्नकी हुई होती है। वह स्वराज्यका स्वाभिमानपूर्ण नाम लेकर कुछ भौतिक सुविधायें चाहता है। समूहके पीछे चलना और समूहको अपने पीछे चलाना दोनों परनिर्भर होना रूपी एकसी दास मनोवृत्ति है। सत्यके पीछे चलना ही स्वतन्त्रता है। समूहकी दासताका भाव यह होता है कि जब अपनी भौतिक सुखेच्छा अपने सीमित शक्ति रखनेवाले पाँचभौतिक देहसे पूरी होती नहीं देखती, तब उस भौतिक सुखेच्छाको दूसरे देहोंकी सहायता लेकर पूरा करना चाहा जाता है। ऐसी दुर्बल मनोवृत्तिको पराधीनता, पुरुषार्थहीनता या नपुंसकता आदि

कहना उचित है। इस दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होगा कि स्वतन्त्रता स्वतन्त्र व्यक्तियोंका व्यक्तिगत धर्म है। स्वतन्त्र व्यक्तियोंमें असत्यको सदा दबाते रहनेवाली एक असत्यासहिष्णु मनोदशा होती है। उनकी उसी असत्यद्वेषी मनोदशाको स्वतन्त्रता कहा जाता है। इस दृष्टिसे स्वतन्त्र व्यक्तियोंका यही कर्तव्य होता है कि वे स्वतन्त्रताकी रक्षाके लिए कभी भौतिक देहोंके झुण्डोंपर निर्भर हो जानेकी भूल न करें। कहनेका तात्पर्य यही है कि स्वतन्त्र निर्विकार मानसिक स्थिति ही मनुष्यके लिये सब अवस्थामें अवश्य रक्षा करने योग्य पदार्थ है। इस दृष्टिसे सत्यारूढ व्यक्तिका सदा और अवश्य करने योग्य एक यही काम है कि वह संसारमें आकर अपनी मानसिक स्थितिकी रक्षा करता रहे। सत्यारूढ व्यक्तिको अपने कर्तव्य अकर्तव्यका विचार किसी विशेष समय या किसी अनुकूल परिस्थितिके साथ सम्बन्ध रखते हुए नहीं करना है।

जब किसी कर्तव्यके सम्बन्धमें करें? या न करें? ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ करे तब निम्न कसौटीको सामने रखकर कर्तव्यका निर्धारण करना चाहिए—कर्तव्य वही होगा जिसे न करनेसे निश्चितरूपमें हानि तथा करनेसे निश्चितरूपमें लाभ होगा। हानि लाभका स्वरूप यही समझना चाहिए कि जिस बातसे मन शुद्ध रहता हो वह लाभ और जिससे मनकी गिरावट होती हो वह हानि है। संसारका कोई भी काम बिना हानि लाभका नहीं हो सकना असंभव है। जिस काममें हानि न दीखती हो उसमें लाभ निश्चित समझ लो। जिस काममें लाभ न दीखता हो उसमें हानि निश्चित जान लो। जिस काममें अपने समयका लाभदायक उपयोग होता हो वही 'कर्तव्य' है। जिस कामसे समय नष्ट होता हो वही 'अकर्तव्य' है। जिस कार्यको न करनेसे कोई हानि न दीखती हो तथा करनेसे हानि हो सकती हो उसे कभी न करना चाहिए। ऐसे कार्य वृथा कार्य होते हैं। ऐसे कामोंको करनेसे मनुष्यका कर्तव्यभ्रष्ट हो जाना निश्चित होता है। ऐसे कामोंको न करनेमें निश्चित कल्याण और करनेमें निश्चित अक-

ल्याण जान लेना चाहिये । उदाहरणके रूपमें—परचर्चा, व्यर्थ बातें, या व्यर्थ विवाद न करनेसे मनुष्यकी कोई हानि नहीं होती और करनेसे कोई लाभ नहीं होता । ऐसे कामोंसे मनुष्यका निश्चित मानसिक अकल्याण होता है । जब ऐसे काम न करनेसे अपना स्वभाव परचर्चा या विवाद न करनेका बन जायगा और जब मनुष्यके मनमें अपने समयका सदुपयोग करनेका विचार जाग उठेगा, तब कहीं जाकर ऐसे कामोंके अकर्तव्य होनेकी बात अपने आप स्पष्ट रूपमें समझमें आयगी । जिन कामोंके करनेसे निश्चित अकल्याण हो उनको न करना 'कर्तव्य' और करना 'अकर्तव्य' होता है ।

जिस कार्यको करें तो कोई हानि नहीं और न करें तो कोई लाभ नहीं । ऐसे कार्य मनुष्यको अवश्य करने चाहिए और करने योग्य मानने चाहिएँ । ऐसे कार्योंको न करनेसे निश्चित अकल्याण समझ लेना चाहिए । उदाहरणके रूपमें—अवकाशके समय कातनेसे या दोनों समय अपने परिवार या आश्रमकी सामूहिक प्रार्थनामें संमिलित होनेसे कोई हानि नहीं होती और न कातें या प्रार्थनामें सम्मिलित न हों तो कोई लाभ नहीं होता । ऐसे अवसरपर जब मनमें हम क्यों कातें ? हम सामूहिक प्रार्थनामें क्यों सम्मिलित हों ? जैसे प्रश्न उठें तो समझ लेना चाहिए कि प्रश्नकर्ताकी उल्टी बुद्धि अपना कर्तव्यपालन न करनेके लिए मनको गिरावटकी ओर ले जा रही है । उस समय उस कुबुद्धिको मनमें न जमने देकर अवकाशके समय कातनेको और दोनों समय सामूहिक प्रार्थना करनेको अपना कर्तव्य समझ लेना चाहिए ।

यह कैसी दुखद परिस्थिति है कि जब मनुष्य अकर्तव्यमें हाथ डालता है तब तो कुछ भी विचार नहीं करता । यदि वह उस समय मनसे करें या न करें ? या क्यों करें ? इस ढंगके प्रश्न किया करें तो उससे भूल होना असम्भव हो जाय । परन्तु देखते हैं कि भूल करनेवालोंका मन, कर्तव्य सामने आनेपर ही उसे न करने या टालनेके कारण ढूँढनेके प्रश्न करके उसे टालना चाहा करता है ।

अच्छे कामोंकी अच्छाईका यही पर्याप्त कारण होता है कि उन्हें करनेसे कभी कोई हानि नहीं होती और न करनेसे कभी कोई लाभ नहीं होता। मनुष्य आलस्याधीन होकर अपनी ज्ञानचक्षु मूँद लेता है और ऐसे कामोंको न करनेके बहाने बनाया करता है। इस बातका रहस्य अच्छे काम कर लेनेपर ही समझमें आया करता है कि उन्हें न करें तो निश्चित हानि और करें तो निश्चित लाभ होता है। उदाहरणार्थ रोगी पुरुष औषधि पीकर ही उसका महत्व समझ सकता है। मीठा खानेपर ही मिठासका अनुभव होता है। यदि कोई पहले मिठासका अनुभव करके पीछेसे मीठा खानेका आग्रह करे तो उसे मिठाससे वंचित रह जाना पड़ेगा। ऐसा आग्रह मिठाससे वंचित रह जानेके लिए ही होगा। तात्पर्य यही है कि अच्छे कामका महत्व अच्छा काम करके ही ज्ञात हुआ करता है। अच्छे कामको करनेसे प्रथम उसके महत्वको समझ लेनेका हठ अनुचित और हानिकारक होता है। यदि तुम किसीको अच्छा काम करनेसे पहले उसका महत्व न समझ लेने तक उसे न करनेके बहाने बनाता देखो तो समझ लो कि वह बुरा काम करनेके मोहमें फँस रहा है और अपने समयका दुरुपयोग करके कर्तव्यसे भ्रष्ट होकर आत्मवंचना कर रहा है।

किसी भी कामके विषयमें अमुक काम कर्तव्य है या अकर्तव्य है इस प्रकारका कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। जिससे मनोदशा निर्मल रहे वह 'कर्तव्य' तथा जिससे वह निर्मल न रह सके वह 'अकर्तव्य' होता है। मनोदशा ही कर्तव्या-कर्तव्यकी कसौटी होती है। मनोदशापर निर्भर होनेके कारण कर्तव्याकर्तव्यका कोई भी निश्चित बाह्यरूप नहीं बताया जा सकता। कर्तव्याकर्तव्य बदलती मनोदशाके अनुसार सदा ही बदलते रहते हैं।

मनोदशा कर्तव्यका सहारा लेकर ही सुरक्षित रह सकती है। कर्तव्य देहसे पाला जानेवाला धर्म नहीं है। कर्तव्य मनसे पाला जाने वाला धर्म है। उदाहरणके रूपमें भूख देहका धर्म है तथा सुख दुःख

भय आदि मानसिक विकारोंसे रहित आनन्दमयी अवस्था मनका धर्म है। मनके इस धर्मकी रक्षा करते रहना ही मनुष्यका सदा पालने योग्य 'कर्तव्य' है। मनके सुख दुःख भय आदि विकारोंको मनका अधर्म समझना चाहिये। मनको इन अधर्मोंसे आक्रान्त होने देनेपर अधर्माचरण या अकर्तव्य हुए बिना नहीं रहता। मनकी सुख दुःख भय आदि प्रभावोंसे रहित आनन्दमयी अवस्थाको उसकी अप्रभावित अवस्था कहा जाता है। मनकी इस अवस्थाको सुरक्षित रखनेके लिए कभी भोजन और कभी अभोजन जैसी विरुद्ध दीख पड़नेवाली शारीरिक क्रियायें भी, परिस्थितिके अनुसार कभी कर्तव्य हो सकती हैं और कभी अकर्तव्य बन सकती हैं। भूख मिटानेके भौतिक साधन तो भोज्य पदार्थ ही होते हैं। परन्तु उनको पेटमें डालना मनुष्यकी इच्छापर निर्भर होता है। यदि भोजनकी इच्छा मनकी अप्रभावित स्थितिको तोड़ डाले और वह भौतिक सुखेच्छा रूपी प्रभावित अवस्था बन जाय, तो इस अवस्थामें इस इच्छाको पूरा करनेके लिये किया गया भोजन या भोजन के लिये उद्योग निश्चित रूपसे अकर्तव्य होगा। यदि किसीका मन भोजन न मिलनेसे चंचल हो उठता हो और वह ऐसी चित्तचंचलता रूपी प्रभावित मनोदशाका दास बनकर जो कुछ करता कहता या सोचता हो तो वह सब अकर्तव्यकी श्रेणीमें चला जाता है। जैसे चित्तकी प्रभावित स्थितिका कहना मानकर भोजनके लिये किया गया समस्त व्यापार अकर्तव्य होता है, उसी प्रकार मनुष्य चित्तकी चंचलताके वशमें आकर जो भी उपवास आदि करता है वह भी सब अकर्तव्य होता है। इस दृष्टिसे दूसरोंको प्रभावित करके उनकी किसी प्रकारकी दुर्बलतासे लाभ उठाना चाहकर, उनसे अपनी इच्छा पूरी करानेके लिए भोजनत्याग आदि उपायोंका सहारा लेना, विकार-ग्रस्त दुर्बल हृदयकी प्रभावित स्थितिका परिचय देना है। यह आचरण कर्तव्यभ्रष्टताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। हमें तो भोजन और अभोजन दोनोंको ही अप्रभावित मनोदशाको सुरक्षित

रखनेवाले भौतिक साधनके रूपमें ही स्वीकार करना चाहिए। भोजन या अभोजन कोई भी मनुष्यका लक्ष्य नहीं है। इनमेंसे किसीको भी लक्ष्य मानकर दूसरे शब्दोंमें जीवित रहजाने या मर जानेको ही अपना उद्देश्य बनाकर भोजन करना और न करना दोनों अकर्तव्य हो जाते हैं। कर्तव्य तो केवल एक है कि मनुष्य अपने जीवनमें सत्यस्वरूप मानसिक निर्विकार स्थितिकी रक्षा करता रहे और वह इस कर्तव्यका अंग बनाकर ही या तो भोजन ग्रहण करे या भोजनको त्यागकर स्थिरचित्त बना रहे। कर्तव्यका विचार करते-करते अन्तमें मनुष्यको इसी निश्चयपर पहुँचना पड़ता है कि उसे कोई काम करना या त्यागना पड़े उसका दोनोंसे अपने मनको निर्विकार रख लेना सच्चा कर्तव्य होता है। ऐसे कर्तव्यको पाल लेना अपनी अप्रभावित मनोदशाकी रक्षा करना होता है। इस प्रसंगमें यह बात समझ लेनी चाहिए कि भोजनकी इच्छा होना मनकी प्रभावित अवस्था नहीं है, किन्तु भोजन न मिलनेपर भूखके मारे चंचल होना मनकी प्रभावित अवस्था है। इसी प्रकार किसी मनोविकारके वशमें होकर भोजनको त्याग देना भी मनकी प्रभावित अवस्था है और भोजन करना भी मनकी प्रभावित अवस्था है। बात यह है कि मनुष्यके सामने जितने भी अवसर आते हैं वे सब मनोदशाको अरक्षित या सुरक्षित बना देनेके लिए ही आते हैं और वे सब मनुष्यके विधाताकी मनुष्यकी परीक्षा लेनेकी इच्छासे आते हैं। अरक्षित मानसिक स्थिति सदा अरक्षित बनी रहती है। सुरक्षित मानसिक स्थिति सदा सुरक्षित बनी रहती है। कहनेका भाव यह है कि अरक्षित मानसिक स्थिति तो अपने पास आनेवाले अवसरका उपयोग अपनी अरक्षामें किया करती है और सुरक्षित मानसिक स्थिति अपने पास आनेवाले अवसरका उपयोग अपनी सुरक्षामें किया करती है। सुरक्षित रहना ही सुरक्षित मानसिक स्थितिका स्वभाव होता है। सुरक्षित मानसिक स्थितिका यह स्वभाव ही उसकी रक्षा करता रहकर अपना कर्तव्य पूरा करता रहता है। नीचोड़ यही है

कि प्रत्येक मनुष्यको अपनी मनोदशाको सुरक्षित रख सकनेसे ही क्या करें ? क्या न करें ? इन महाप्रश्नोंका सहज उत्तर प्रत्येक समय मिलता रहता है। यदि कोई अपनी मनोदशाको सुरक्षित रखना सीख ले तो उसे क्या करूँ क्या न करूँका सहज उत्तर प्रत्येक समय अपने ही भीतरसे मिलने लगे।

कैसे बोलें ?

वाणीका प्रयोग या तो अपने सत्यदर्शनको दूसरोंपर प्रकट करनेके लिये अथवा दूसरोंके सत्यदर्शनका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही होना चाहिए। नहीं तो मनुष्यको दृढतासे चुप रहना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि वचनके द्वारा या तो हम किसीसे कुछ सीखें या अपनी सूनृत तपस्विनी वाणीके द्वारा दूसरोंको अपने सत्यज्ञानसे परिचित होनेका अवसर दें। यही बोलनेकी सनातनी आर्य्य पद्धति है।

वाक्-शक्तिका सदुपयोग करना ही सत्य बोलना है। सदुपयोग-का भाव यही है कि वाणीको सत्यकी रक्षाके लिए ही काममें लाया जाय। सत्य मनुष्यके लिए अगम्य या अज्ञेय नहीं है। मनुष्यके मनकी निर्विकार अप्रभावित स्थिति ही सत्य है। किस अवसरपर किस ढंगकी बातें करनी चाहिए ? और कब मौन रहना चाहिए इस विद्याको अप्रभावित मन ही जान सकता है। प्रभावित मन प्रभावा-धीन होनेके कारण अवसरके बिना अनावश्यक और बिना सिर पैरकी बातें कहने लगता तथा अवसरोचित बात कहनेसे चूक जाता है। अप्रभावित मनवाले मनुष्यको दूसरोंकी बात सुनते ही अपने अप्रभा-वित मनकी सहायतासे उनके मनकी स्थिति और उनके वचनका अभिप्राय कांच पात्रमें रक्खे पदार्थके समान स्पष्ट रूपसे समझमें आ जाता है। वह उसीके अनुसार अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका विचार करके, अपनी वाणीका समयोचित सदुपयोग किया करता है। इस दृष्टिसे सत्यका जिह्वासे सम्बन्ध नहीं रहता अर्थात् सत्य जिह्वासे पाला जानेवाला धर्म नहीं है, किन्तु मनसे पालने योग्य धर्म सिद्ध होता है। जैसे मनकी निर्विकार स्थितिकी रक्षा करनेके लिए शरीरसे

किसी कर्मको करना या उसे त्याग देना कर्तव्य या सत्कर्म होता है, ठीक वैसेही मनकी निर्विकार अप्रभावित स्थितिकी रक्षा करनेके लिए, सत्य असत्यका विचार करके जब जैसा उचित प्रतीत हो तब वैसा बोलना भी सत्य वचनकी परिभाषामें आता है और मौन रहना भी सत्य वचनकी ही परिभाषामें आता है। सत्य वचन यही कहाता है कि मनुष्य विचारशीलताको साथ रखकर सत्यकी रक्षाके लिए वाणी का सदुपयोग करे। इसके विपरीत विचार छोड़कर, जहाँ जो बात, घटना या विषय जैसा देखा या सुना हो, वैसाका वैसा, जहाँ तहाँ, जिस किसीके सामने, जब तब कह बैठना, स्थूल दृष्टिमें सत्य वचन दीखनेपर भी व्यर्थका बड़बड़ाना या मिथ्या-भाषण है। इसलिए मनुष्यको कुछ बोलनेसे पहले अपनी वक्ष्यमाण वाणीके सत्य होनेका निश्चय कर लेनेके लिए उसे निम्न कसौटीपर कस लेना चाहिए :—

अपने वचनोंपर पहरा रखकर, सत्यनारायणसे बोलनेकी स्वीकृति लेकर बोलना चाहिए।

वक्ष्यमाण वाणीमें मनके सत्य भावोंकी प्रतिध्वनि होनी चाहिए।

मनमें अशुद्ध और असत्य बात आये तो उसे जीभपर नहीं लाना चाहिए।

शुद्ध और सत्य वचन बोलकर उससे अपने मनकी शुद्धताकी रक्षा करनी चाहिए। शुद्ध तथा सत्य वचन ही शुद्ध मनकी पहचान है।

जब हम बोल चुकते हैं तब उस बोली हुई वाणीके ऊपर हमारा कोई अधिकार नहीं रहता। तब वह दूसरोंकी आलोचना प्रत्यालोचनाकी वस्तु बन जाती है। इसलिए हमें देखना चाहिए कि हमारी वक्ष्यमाण वाणी अशुद्ध या असत्य तो नहीं है। यदि वह अशुद्ध या असत्य होगी तो उससे हमारी अपार हानि होगी। उस बोली हुई वाणीसे हमारी आत्मशक्ति घटेगी। हमें अपने शक्तिह्रासका दुःखदायी परिणाम किसी न किसी रूपमें भोगना ही पड़ेगा। इसलिए

बोलनेसे पहले गंभीर परीक्षा कर लेनी चाहिए कि हम जो बात कहने लगे हैं, वह 'शुद्ध' भी है और 'सत्य' भी है।

हमें अपनी विवक्षित बातमें आत्मकल्याण तथा लोककल्याण दोनों बातोंका पूरा विचार रखकर बात मुँहसे निकालनी चाहिए। जो वक्ता सत्य समझकर कुछ बोलते समय आत्मकल्याण या लोक-कल्याणका विचार नहीं रखता और सत्यभाषीपनेके वृथाभिमानका कहना मानकर या सत्यभाषीपनका यश कमानेके लिए किसी देखी या सुनी बातको ज्योंकी त्यों कह देता है उसका समझा सत्य, सत्य नहीं होता; किन्तु मिथ्याभाषण होता है। सत्य तभी सत्य होता है जब उसके साथ आत्मकल्याण या लोककल्याण दोनों बातोंका विचार रक्खा जाता है।

आवश्यक बात कहनेसे नहीं रुकना चाहिए तथा व्यर्थ बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिए। ऐसा करना ही 'वाणीको वशमें कर लेना' है। जो बात बिना सोचे विचारे कह दी जाती है वह 'व्यर्थ बात' होती है।

बात करनेसे पहले सोच लो कि—हम किसीका जी दुःखानेके लिए या किसीका विरोध करनेके लिए तो कोई बात नहीं कहने लगे हैं? अपनी बड़ाई करनेके लिए तो कुछ नहीं कह रहे हैं? किसीकी झूठी प्रशंसा तो नहीं कर रहे हैं?

अपने किसी स्वार्थसे किसीका अनुनय- विनय (खुशामद) तो नहीं कर रहे हैं?

किसीका प्यारा बननेके लिये मीठी-मीठी बातें तो नहीं बना रहे हैं?

सुननेवालेके मनमें आकर्षण पैदा करनेके लिये अथवा अपने विषयको सिद्ध करनेके मोहसे बातको बढ़ाकर तो नहीं कह रहे हैं?

समय वितानेके लिये तो बातें नहीं छेड़ रहे हैं?

किसीकी हँसी उड़ानेके लिये किसीसे बहस और वितण्डा करनेके लिये तो कुछ नहीं कहने लगे हैं?

किसीको सन्मार्गसे निरुत्साहित करनेके लिये तो कुछ नहीं कहने लगे हैं?

औरोंकी चर्चा तो नहीं कर रहे हैं?

बिना पूछे किसीको उपदेश देनेके लिये तो नहीं कह रहे हैं।

किसीकी शिकायत तो नहीं कर रहे हैं?

किसीके क्रोधका उत्तर क्रोधसे तो नहीं दे रहे हैं?

बिना अधिकारके तो किसीसे कुछ नहीं पूछ रहे हैं?

किसीकी बातका उत्तर देनेसे पहले सोचलो कि—

पूछनेवालेको हमसे उत्तर लेनेका अधिकार भी है या नहीं? यदि नहीं है तो उत्तर मत दो।

हमारे उत्तर देनेसे पूछनेवालेका आत्मकल्याण होगा या नहीं? यदि उसे यह लाभ न होता देखो तो उत्तर देना आवश्यक नहीं है। ऐसे समय चुप रहनेमें ही दोनोंका कल्याण है।

हमारे प्रश्नकर्त्ता हमारे उत्तरसे कोई अनुचित लाभ उठाना तो नहीं चाहते? यदि ऐसी शंका हो तो उत्तर देना ठीक नहीं है। इससे भी दोनोंका कल्याण होगा।

हमारे प्रश्नकर्त्ता हमें धोखा देकर कोई ऐसी बात जानना तो नहीं चाहते जो हमें उनको नहीं बतानी चाहिये? यदि ऐसा लगे तो उत्तर न दो।

समयको बितानेके लिये हमसे व्यर्थ बातें तो नहीं पूछी जा रही हैं? यदि ऐसा हो तो उत्तर न दो।

हमारे उत्तर देनेसे किसी दूसरेका अकल्याण तो नहीं होगा? यदि ऐसा लगे तो मौन रहो।

हमारे उत्तर देनेसे किसी असत्यको सहायता तो नहीं मिल जायगी! यदि ऐसा प्रतीत हो तो भी उत्तर न दो।

हम उत्तर देकर किसीकी निन्दामें सम्मिलित तो नहीं हो जायंगे? ऐसा होनेपर भी उत्तर न दो।

हम उत्तर देकर प्रश्नकर्त्ताको और बहुतसे प्रश्न करनेका अवसर तो नहीं दे देंगे ? ऐसा होनेपर कोई उत्तर न देना श्रेष्ठ नीति है।

निरर्थक प्रश्नोंका उत्तर देना निरर्थक बातोंमें सम्मिलित होना है। व्यर्थ बातें करना जितना सिद्धान्तविरुद्ध है, व्यर्थ बातोंका उत्तर देना भी उतना ही सिद्धान्तविरुद्ध है। मनुष्यको जानना चाहिए कि सबको सबसे सब प्रश्नोंका उत्तर लेनेका अधिकार नहीं होता। प्रश्नके सामने आते ही सबसे पहले प्रश्नकर्त्ताके उत्तर लेनेके अधिकारपर विचार करना चाहिए यदि प्रश्नकर्त्ताको उत्तर लेनेका अधिकार न हो अथवा उसे उत्तर देना हानिकारक लगे तो या तो गूँगा बहरा बनकर चुप हो जाना चाहिए या ऐसा उत्तर देना चाहिए कि उसका प्रश्न करनेका उत्साह जाता रहे और वह यह समझ जाय कि यहाँसे मनचाहा उत्तर नहीं मिल सकेगा। थोड़ा सा उत्तर देनेसे दूसरे दूसरे प्रश्नोंको अवसर मिल जाता है और अन्तमें मनुष्यको चुप होना पड़ता है। उससे अच्छा यही है कि मनुष्य पहले ही चुप रहकर दूसरे दूसरे प्रश्नोंका अवसर ही नष्ट कर दे ?

बोलनेकी कुशलता इसी में है कि हम ठीक बात कहें, ठीक समय पर कहें, और योग्य मनुष्यसे कहें। जहाँ इन तीनों बातोंमेंसे एककी भी न्यूनता हो वहाँ चुप रह जाना बोलनेसे अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता है। जब विचार लेनेपर हमें कुछ न बोलनेका निर्णय करना पड़ता है, तब उससे हमारे भीतर अमोघ शक्ति उत्पन्न होती है। ऐसे समय न बोलनेसे मनुष्यके मनमें अमृत पैदा हो जाता है।

जब कोई हमें बोलनेके लिए विवश या उत्तेजित कर रहा हो तब यदि विचार करनेपर हमें न बोलना कर्तव्य प्रतीत हो तो इस न बोलनेकी बहुत बड़ी महिमा है। विचार किये बिना कुछ बोल पड़नेमें कोई शक्ति या प्रभाव नहीं है, किन्तु इससे एक तो मनुष्यकी विचारहीनता प्रकट होती है, दूसरे उसकी विचारोत्पा

दकशक्तिका अपव्यय होता है, तीसरे उसका इस शक्ति परसे नियन्त्रण भी उठ जाता है।

वाक्शक्ति हमारे पास है, केवल इसीलिए प्रत्येक बातमें नहीं बोल पड़ना चाहिए। तत्क्षण उत्तर देनेमें कोई महत्व नहीं है। आदिसे अन्त तक पूरा विचारकर थोड़ेसे थोड़े अक्षरोंवाली सत्यसे लदी हुई बात मुँहसे निकालनेमें ही महत्व है। वाणी के महत्वको अनुभव करके ही मुँहसे कोई बात निकालनी चाहिए। बोलनेकी कुशलता इसीमें है कि मनुष्य बोलने या चुप रहनेके अवसरको तुरन्त पहचान ले।

वाणीमें दो विरुद्ध शक्ति हैं—इससे वातावरणको शांत भी किया जा सकता है अथवा वातावरणमें आग भी लगाई जा सकती है। बोलना हो तो वातावरणको शांत करनेके लियेही बोलो। नहीं तो धीरतासे चुप रहो। वाणीका दुरुपयोग करके वातावरणमें आग मत लगाओ।

वाणी हमारी अपनी सम्पत्ति है, इसे प्यारसे सुरक्षित रक्खो। इसका अपव्ययीके समान उत्तरदायित्वहीन होकर जहाँ-तहाँ प्रयोग मत किया करो। मितव्ययीकी भाँति लाभ-अलाभका पूरा निर्णय करके ही इसका प्रयोग किया करो।

संसारके साथ हमारा प्रेमका सम्बन्ध है। वह संबंध वाणीसे ही सुरक्षित और वाणीसे ही विच्छिन्न हो जाता है। इसलिये वाणीका प्रयोग प्रेमसे ही करना चाहिये। नहीं तो हमारा संसारसे प्रेमका संबंध टूट जायगा और तब हमें दुःख भोगना पड़ेगा।

यदि तुम अपना सुधार चाहते हो तो पहले वाणीसे सुधार प्रारंभ करो। वह वाणी जिस मनमेंसे बाहर निकलकर आयी है, उसे शुद्धता की परीक्षाके लिये उसीके पास लौटा दो। जब तुम्हारा मन उसकी शुद्धताको प्रमाणित कर दे तब ही उसको बोलनेके लिये बाहर निक-लने दो। जब तुम इसी प्रकार मनसे वाणीकी परीक्षा कराते रहोगे और उससे शुद्ध करा-कराकर ही उसे बाहर निकाला करोगे तब

क्रोध आदि समस्त शत्रुओंके प्रकट होनेका अवसर नष्ट हो जायगा। वे शत्रु मन और वचनका सहारा न मिलनेसे नष्ट हो जायँगे।

वाणीपर विजय प्राप्त करनेके पश्चात् मनुष्यको मानवीय समस्त विकारोंपर विजय प्राप्त करनेकी कला हाथ आ जाती है। फिर वह वाग्विजयी मनुष्य जीवन-संग्रामका सिद्धहस्त योद्धा बन जाता है।

जो बात तुम किसी मनुष्यके सामने कर्तव्य समझकर न कह सको वह बात कर्तव्यबुद्धिके बिना उस मनुष्यके पीछे भी मत कहो।

पहले बातको पूरा सुन लो, फिर अधिकारकी मर्यादामें न रहकर उत्तर दो।

ऊँचे शब्दसे प्रतिपक्षीके शब्दको दबानेका प्रयत्न मत करो।

व्यक्तिगत आक्रमण मत करो। ऐसा आक्रमण बदला लेनेकी भावनासे होता है। यह क्रोधका एक रूप है। यह अच्छी भावना नहीं है। इससे परस्परका प्रेमका सम्बन्ध टूट जाता है।

दूसरे मनुष्योंकी सहायतासे किसी सत्य बातका पता लगाना मात्र बोलनेका अभिप्राय है। किसीको नीचा दिखाना उसका अभिप्राय नहीं है। परापमान वाणीका अभिप्राय कदापि नहीं है। यदि तुम पराजय करनेकी भावनासे ही बोलने लगे हो तो चुप रहो। ऐसे अवसरपर चुप रह जाना बहुत महत्व रखता है। इससे अपनी शक्तिका अपव्यय रुक जाता है।

जो बात सचमुच तुम्हारे मनमें न हो, जो बात तुम्हें करनी ही न हो, उसे तुम कभी मुँह पर मत लाओ।

जिस वचनको पूरा करना तुम्हारी शक्तिके बाहर हो किसीको वैसा वचन मत दो।

प्रत्येक वचन (वादे) के साथ मनुष्यकी पराधीनताका द्योतक—ईश्वरेच्छा हुई तो अथवा कोई विघ्न न आया तो ऐसा कोई वाक्य अवश्य लगाना चाहिये। ईश्वरीय प्रबन्धाधीन मनुष्यको किसीसे स्वतंत्र प्रतिज्ञा करनेका अधिकार नहीं है। मनुष्य नहीं जान सकता कि पलमें क्या हो जानेवाला है।

तुमको जिस विषयका स्पष्ट अनुभव अथवा पूर्ण विश्वास हो केवल उस पर बोलो। तुम जिस बातका पूर्ण समर्थन न कर सको, उसे मत कहो।

उल्टे सीधे दो अर्थोंकी बात मत कहो।

किसीके बिचौलियासे मत बोलो, किसीको बिचौलिया बनाकर मत बोलो, किसीके बिचौलिया बनकर भी मत बोलो। इस मध्यस्थता में बड़े क्लेश निकलते हैं।

कमसे कम शब्द बोलकर अपना वक्तव्य समाप्त कर दिया करो।

अच्छे मनुष्योंसे बातें किया करो। इससे तुम्हारे ज्ञानकी वृद्धि होगी।

अनजान मनुष्यसे बात मत छेड़ो।

अनजान मनुष्यसे छेड़ी हुई बातमें सम्मिलित मत होओ। यह तुम्हारे लिये विपत्ति बन सकती है।

हँसी उड़ाते हुए बात मत किया करो।

दूसरोंकी उचित प्रेरणाके बिना उनकी बातमें सम्मिलित मत होओ।

यदि कोई अनधिकारी तुम्हारी बातमें सम्मिलित होने लगे तो उस चर्चाको आगे मत बढ़ने दो।

बोलनेमें इतने गुण होने चाहिये--शान्तियुक्त हो, शीघ्रतावाला तथा कपट मिश्रित न हो, महत्वपूर्ण हो, विषयसे सम्बद्ध हो, परिणाम निकालनेवाला हो, उद्देश्यपूर्ण हो तथा निःशंक हो।

व्यक्तियोंकी तुलना या किसी भी प्रकारकी व्यक्तिगत चर्चा मत किया करो।

कर्मके समय वचनको बन्द रक्खो। इससे कर्मशक्ति नष्ट होनेसे बचेगी।

भीतरके आनन्दको बाहर दूसरोंपर प्रकट करनेका प्रयत्न कभी मत करो। क्योंकि यह काम असंभव है। अपने आनन्दको बाहर प्रकट करनेकी इच्छा करते ही देखोगे कि तुम्हारा आनन्द जाता रहा।

बात यह है कि बातोंसे आनन्द प्रकट नहीं हो सकता। निरर्थक बात करनेसे मनुष्यकी शक्तिका व्यर्थ क्षय हो जाता है, आनन्द भाग जाता है तथा अशान्ति उत्पन्न हो जाती है। व्यर्थ वचनका ही दूसरा नाम प्रलाप (बकवाद) है। व्यर्थ वचन मनुष्यका परम शत्रु है।

जहाँ तक हो निजनिन्दा, अभियोग तथा द्वेषपूर्ण बर्तावका उत्तर स्वयं सत्यनिष्ठ रहकर दो। जहाँतक हो अपनी वाणीसे अपने-को सच्चा सिद्ध करनेका प्रमाद न करो। तुम यह जानो कि अपने निन्दकोंको समझाना या उन्हें सन्तुष्ट करना तुम्हारा कर्तव्य नहीं है। तुम्हारा सच्चा होना और सच्चा रहना ही तुम्हारा कर्तव्य है और यही तुम्हारा अपनेको सच्चा सिद्ध करना है। तुम ऐसा मानकर कि मेरे गुण मेरे ही संतोषके लिये हैं अपने गुणोंके विषयमें सदा ही चुप रहो। दूसरोंके सामने ख्याति कमानेके लिये कुछ भी मत बोलो। ख्यातिका लोभ न करो। ख्यातिकी इच्छाको दबाकर स्वतन्त्रताका दर्शन करो। ख्यातिका लोभ उदरस्थ कृमिके समान मनुष्यको खा जाता है। ख्याति चाहना मानसिक निर्बलता है।

अपरिचित या परिचित किसीकी भी अनावश्यक बातका उत्तर मत दो। विचारशील प्रत्येक मनुष्यका सम्बन्ध परमात्मासे जुड़ा रहना चाहिए। अर्थात् चिन्ताशील लोग सब समय शुभचिन्तनमें डूबे रहने चाहियें। वे किसी भी समय खाली या बेकार नहीं रहने चाहियें। किसीको भी उनसे व्यर्थ बातें छेड़कर उनका शुभविचार-स्वरूप ईश्वरसे सम्बन्ध तोड़नेका अधिकार नहीं है। मनुष्यकी समग्र चिन्ताधारा तथा उसकी समग्र शक्तियाँ ईश्वरसे सदा सम्बन्ध बनाये रखने रूपी इसी सत्यकी रक्षामें प्रवाहित होनी चाहिए। अपना पीछा छुड़ानेकी निर्बल भावनामें बहकर किसी अपरिचित या परिचितकी अनावश्यक बातका उत्तर देना ठीक नहीं है।

जो वाक्य मनकी अप्रभावित स्थितिकी रक्षा करते हुए बोला जाता है, वही सत्य वचन कहाता है। तुम यह जानो कि तुम जो कोई वाक्य बोलोगे उसका प्रेरक कारण तुम्हारा कोई न कोई विशेष

मानसिक भाव होगा। वही तुम्हें बोलने की प्रेरणा दे रहा होगा। इसलिए तुम्हें बोलनेसे प्रथम यह देख लेना चाहिए कि मुझे कौनसा भाव बुलवा रहा है? वह भाव यदि ठीक हो, अर्थात् यदि वह भाव तुम्हारी मनुष्यतामें सहायक हो तो ही तुम्हें बोलना चाहिए नहीं तो गम्भीरतासे चुप रहकर अपनी मनुष्यताकी रक्षा करनी चाहिए। तुम्हें भावहीन या भावदुष्ट बात कभी न बोलनी चाहिए। ऐसी बात बोलनेसे शक्तिका अपव्यय होता है। ऐसी बातें करना अकर्त्तव्य करना है। मनुष्य जितने समय ऐसी बातें करता है उतने समय कर्तव्य छोड़कर असंयममें रहता है। व्यर्थ बातें करना कर्तव्य छोड़-कर अकर्तव्य और असंयम करना है।

किसीको उपदेश देनेके लिए कुछ मत बोलो। हम दूसरोंको उपदेश देनेके लिए नहीं बने। हम केवल सत्यदर्शन करनेके लिए बने हैं। हमें जो सत्यदर्शन हुआ है वह सत्य यद्यपि सार्वजनिक संपत्ति है, इसलिए उसपर केवल हमारा अधिकार नहीं है, उसे जो कोई चाहे वही ले सकता है और हमसे भी ले सकता है। इस दृष्टिसे जो भी कोई हमारे सत्यज्ञानको जानना चाहे उसे बता देना हमारा कर्तव्य होता है। परन्तु प्रश्न करनेपर उत्तर रूपमें ज्ञानका दान करना ईश्वरीयमार्ग है। उपदेश झाड़ना ज्ञानसंक्रमणका द्वार नहीं है। उपदेशक नामधारीको जिन बातोंसे मोह होता है, जो बातें उसे रुचती हैं, वह उनहींको जहाँ तहाँ उपदेशरूपमें कहता फिरता है। इस सामने बैठे मानवकी शान्तिको कौन सा अज्ञान हर रहा है? यह बात प्रश्नकी भाषा और प्रश्नकर्ताकी भावभंगीसे ही प्रतीत हो सकती है। जैसे चिकित्सक रोगीको प्रत्यक्ष देखे बिना उसकी कोई उचित चिकित्सा नहीं कर सकता, इसी प्रकार अज्ञानाभिभूत रोगी-का प्रश्न सुने बिना उसके हेय अज्ञानको नहीं पहचाना जा सकता और उसका उपाय भी नहीं बताया जा सकता।

प्रश्न किये जानेपर उत्तर रूपमें अज्ञानवधका उपाय बता देनेसे ही प्रश्नकर्त्ताकी ज्ञानसेवा होती है। उपदेश ऊषरवपन है।

प्रश्नोत्तर क्षेत्रवपनके समान अव्यर्थ उपाय है। उपदेशमें लम्बा-चौड़ा व्यर्थ बोलना पड़ता है। प्रश्नोत्तरमें दो चार शब्दोंमें सार्थक वक्तव्य समाप्त हो जाता है। इसलिये तुम्हारे पास जब कभी ज्ञानदान के लिये बोलनेका अवसर उपस्थित हो तब जहाँ तक हो सके प्रश्नके उत्तर रूपमें ही बोलो। उपदेशकके घमंडी आसन पर बैठकर निरर्थक अरण्यरोदन मत करो। तुम यह निश्चय जानो कि प्रश्न न करनेवाले श्रोताने तुम्हारा कोई भी उपदेश गाँठमें नहीं बांधना है।

मनुष्य वाणीके प्रयोगके इन नियमोंको तबही तोड़ता है जब वह बोलनेके महत्वपूर्ण उद्देश्यको भूला होता है। मनुष्यको जानना चाहिये कि बोलनेका एकमात्र उद्देश्य आत्म-कल्याण है। उसे आत्म-कल्याणके लिये ही बोलना चाहिये। यदि उसे आत्म-कल्याण होता न दीखता हो तो धीरतासे चुप रहना चाहिये। तब उसे अपनी विवक्षाको रोक देना चाहिये। मनुष्यके बोलनेका यह उद्देश कदापि नहीं है कि वह मनकी क्रोध मोह मद मत्सर आदि नीच प्रवृत्तियोंको प्रकट रूप धारण करनेका अवसर दे।

यह समझना मनुष्यको भूल है कि मनके शुद्ध होनेसे आत्म-कल्याण होता है। मनुष्यको समझना है कि मनका शुद्ध हो जाना स्वयं ही आत्म-कल्याण है। आत्म-कल्याण मनकी शुद्धिसे अलग नहीं है। मनकी शुद्धता ही सत्य है। मनकी शुद्धताकी रक्षा करनेसे ही सत्यकी सेवा होती है। मनुष्यका आराध्य परमात्मा इस हमारे शुद्धमनरूपी सत्यके अतिरिक्त नहीं है। जिस दिन परमात्मा मनुष्य-पर पसीजेंगे उस दिन मनुष्य देखेगा कि उसका मन परम शुद्ध अवस्थामें है। मन शुद्ध होने पर मनुष्यकी परमात्माकी ढूँढ समाप्त हो जायगी। तब उसे दीखेगा कि हमारे मनकी शुद्धता ही परमात्मा है। अपने इस परमात्माका दर्शन कर लेनेके लिये ही वाणीका प्रयोग होना चाहिये। केवल ऐसी वाणी बोलनी चाहिये जो मनकी शुद्धताकी रक्षा कर सके। जो वाणी मनकी शुद्धताकी रक्षा न कर सकती हो उसे साहसके साथ रोक देना चाहिये।

बोलनेका एकमात्र उद्देश्य कर्तव्य, अकर्तव्य, सत्य असत्यका विचार करके मनकी निर्विकार अप्रभावित स्थितिकी रक्षा कर लेना है। जब किसीसे बोलना कर्तव्य प्रतीत हो जाय और हम बोलें तब उससे बोलना हमारा अनिवार्य कर्तव्य हो गया है ऐसा निर्णय करके ही बोलें। जब किसीसे बोलना कर्तव्य प्रतीत हो जाय और हम बोलें तब उसमें सत्यका सुनिश्चित दर्शन करते रहें। जब हम किसीसे बोलें तब सत्य-तत्वका या सत्य कर्तव्यका पता चला लेनेके लिये ही बोलें। अर्थात् सत्यका दर्शन करनेके लिये ही बात छेड़ें और सत्यका दर्शन कर लेनेके लिये ही बातको चालू रक्खें। अपना कर्तव्य निर्णय करना ही वाणीका लक्ष्य होना चाहिये।

दूसरोंका कर्तव्य क्या है ? दूसरे क्या कर रहे हैं ? वे क्या कर चुके हैं ? और क्या करेंगे ? इस ढंगकी बातोंमें अपनी वाणी व्यय करना लक्ष्यसे भ्रष्ट हो जाना है। यह बोलनेके उद्देश्यको भूल जाना है। जैसे मलिन मन शरीरको मलिन कामोंमें लगाता है वैसे ही वह वाणीको भी नीच उपयोगमें लाता है। यदि मनुष्य वाणीको पूर्ण संयममें रक्खे तो पोषण न मिलनेसे मनका गन्दगी चखनेका स्वभाव नष्ट हो जाय। जो मनुष्य वाणीको संयममें नहीं रखता वह बाहरके अशुद्ध वातावरणसे मैल इकट्ठा करके उससे वातावरणको मलिन बनाता रहता है। गन्दी वाणीसे ही प्रसन्न रहनेवाले मनुष्यसे, सत्संग और सच्चर्चा सहन नहीं होती। वह ऐसे वातावरणसे घबड़ा जाता है। वहाँ उसका दम घुटने लगता है और उसे उस स्थानको छोड़कर गन्दीवाणी बकने और सुननेके लिये अशुद्ध वातावरणमें जाना पड़ता है। उसे वहाँ जाकर ही ठंडा सांस आता है और वह वहीं सुख मानता है। क्योंकि उसे वहीं गन्दगी उगलने और गन्दगी निगलनेका अवसर मिलता है। अपने वातावरणमें शुद्धवाणीकी रक्षा कर लेनेपर वहाँसे असत्याचारी असत्यप्रलापी मनुष्योंको भाग जाना पड़ता है। यों शुद्धवाणीकी रक्षा करनेसे असत्संगसे भी

बचाव हो जाता है और वातावरणकी शुद्धता भी भंग नहीं होती। यदि मनुष्यको अपने वातावरणमें सदाके लिये सत्य तथा सत्संगके विमल आनन्दको मूर्त्तिमान करके रखना हो तो वह वाणीको संयममें रखे।

कर्म करते समय वाणीको संयत रखना उचित है। ऐसा करनेसे कर्ममें विघ्न नहीं आता। मनुष्यको अपने साथियोंके साथ इकट्ठे होनेके अवसरपर तथा विशेष रूपसे भोजन या विश्राम आदिके समय एक शब्द भी व्यर्थ न बोलते हुए, नियत समयके भीतर मनकी स्थिरता और गम्भीरता दोनोंको सुरक्षित रखते हुए, इन सब पवित्र कर्त्तव्योंको समाप्त कर लेना चाहिये। यदि ऐसा नहीं किया जायेगा, तो व्यर्थ गप्पें मारने और समयकी उपेक्षा करने आदि बहुतसे दुर्गुण उत्पन्न होकर वातावरणको दूषित कर डालेंगे। यदि तुम्हारा वातावरण दूषित हो जायगा तो तुम्हारे परिवार या समाजमें महापुरुषोंके उद्भूत होनेका अवसर जाता रहेगा। तुम्हारे वातावरणका दूषण संसारव्यापी कुपरिणाम पैदा करेगा। क्योंकि तुम संसारके साथ अभेद भावसे बँधे हुए हो। तुम्हारी प्रत्येक भावना संसार भरपर बुरे-भले प्रभाव पैदा किये बिना नहीं मानेगी। मनुष्यको इस अपने महान् उत्तरदायित्वको पहचानकर अपना वातावरण पवित्र रखना चाहिये। वाणीपर शासन रखना ही व्यक्ति और समाजके मनकी गन्दगीको दूर करनेका सर्वोत्तम उपाय है। क्रोध लोभ मद मात्सर्य आदि रिपु परचर्चासे ही पलते हैं। परचर्चा ही इन रिपुओंका भोजन होता है।

परचर्चाका अवसर न मिलनेपर कामादि रिपुओंको उपवास करने पड़ते हैं। आलसियोंकी बैठक या चौपाल व्यर्थ बातोंसे ही गुंजारा करती है। व्यर्थ बातोंका पेट परचर्चासे ही भरा करता है। निकम्मे जीवन परचर्चाके सहारेसे ही अपने निकम्मेपनको स्थायी बनाया करते हैं। निकम्मा जीवन परचर्चाको अपना समय काटनेका साधन बनाकर ही पनपा करता है। सत्यारूढ और कर्तव्यमय जीवन बिता-

नेवाले लोग जहाँ वाणीका प्रयोग करना चाहिये, वहाँ करके, तथा जहाँ न करना चाहिये वहाँ उसे कृपणकी भाँति रोककर, परमार्थके अमर फलके अधिकारी बननेके लिये, अपने वातावरणमेंसे परचर्चाकी प्रवृत्तिको, विषवृक्षकी भाँति मूलसे उखाड़कर फेंक देते हैं। समस्त व्यक्तिगत स्तुति निन्दाकी चर्चाओंके मूलमें जिसकी चर्चाकी जाती है उस किसी पर क्रोध, उस किसीका लोभ या उस किसीसे ईर्ष्या आदि कोई न कोई कारण रहता है। व्यक्तिगत चर्चाओंमें या तो किसी विषयीके विषय भोगोंकी या किसी धनीके आलसी विलासी जीवनकी या किसी धूर्तकी धूर्तताकी चर्चा अथवा किसी चरित्रहीनकी चरित्रहीनताकी समालोचना रहा करती है। जो इन सब प्रकारकी चर्चाओंमें भाग लेता है, निश्चय ही वह स्वयं भी भोगलोलुप आलसी धूर्त और पतित मनोवृत्तिवाला है। मनुष्यताके किसी भी प्रेमीको इन सब चर्चाओंको क्षणमात्रके लिये भी, अपने वातावरणको दूषित करनेका अवसर नहीं देना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह सब समय या तो विषयवैराग्यका या आलस्यरहित होकर कर्तव्य-परायणताका या सरलताका अथवा पवित्रताके माहात्म्यका कीर्तन करता रहे तथा अपने जीवनमें शुद्ध वाणी और शुद्ध मन दोनोंको एक रखनेके लिये ही, अर्थात् जो बात शुद्ध मनमें होनी चाहिये, उसीको शुद्ध वाणीमें ले आनेके लिये ही, वाणीका प्रयोग किया करे। इन सब दृष्टियोंसे मनुष्यको बात करनेमें कठोर संयम रखना चाहिये। क्रोध आदि रिपु कितने भिन्न भिन्न रूप ले लेकर मनुष्य पर आक्रमण करते हैं, सो सब मनुष्यको समझना चाहिये। बदला लेनेकी इच्छा, किसीको चतुराईकी दो बात सुना देनेका अवसर आते ही वेष बदलकर मनुष्य पर आक्रमण करती और कहती है कि तुम ज्ञानी हो, वीर हो, अनुभवी हो और परोपकारी हो। बोलकर अपने इन गुणोंको प्रकट करनेका यह सुवर्ण सुयोग तुम्हारे पास आया है। सो अब तुम लोगोंके सामने अपने स्वरूपको प्रकट करो और यश उपार्जन करो। जब मनुष्य इस ढंगसे शत्रुके वशमें आ जाता है, तब लोगोंके सामने

अपना झूठा रूप प्रकट करने लगता है। तब जो वह नहीं है वही लोगोंको दिखाने लगता है। इस सबका परिणाम कड़वा होता है। वह उसके लिये पश्चात्तापका रूप धरकर उसे दुःखी किया करता है। इसलिये इस प्रकारके स्वयं नौता देकर बुलाये दुःखोंसे बचनेके लिये मनुष्यको दूसरोंकी चर्चा नहीं करनी चाहिये। ऐसे अवसरपर मौन रहने में ही आत्मकल्याण है।

दूसरोंके साथ विवाद और वितण्डा करनेके अवसरसे वचते रहो। विवाद करनेके लिये कोई बात कभी मत करो। कभी किसीके साथ बातें करनेका अवसर आये तो उसे अपना विरोधी समझकर उससे वाग्युद्ध मत करने लगा करो। तुम यह जानो कि संसारमें तुम्हारी किसी व्यक्तिसे कोई लड़ाई नहीं है। हाँ, तुम्हारी सत्यारूढ स्थितिकी असत्यके साथ लड़ाई छिड़ी हुई है। यह लड़ाई लड़ाई नहीं है। यह तो तुम्हारे जीवनका सदाका पवित्र व्रत है। इसे लड़ाई न समझकर पवित्र व्रत समझना चाहिये। तुम्हें इस लड़ाईको किसी याज्ञिकके यज्ञकालिक अक्रोधआदि व्रतोंके समान पवित्रतासे निभाना चाहिये। स्मरण रक्खो कि यह लड़ाई बातोंसे जीती जाने-वाली लड़ाई नहीं हैं। जब तुम सत्यानुष्ठानके व्रती होकर सत्य आच-रण करोगे तब ही असत्य पर विजय पा सकोगे। यह युद्ध बिना दृढ निश्चय तथा बिना आत्मसंयमके नहीं जीता जा सकता। तीक्ष्ण बातोंको ही तीक्ष्ण हथियार समझ लेना और उनका दूसरों पर प्रहार करने लगना निकम्मे मनुष्योंका स्वभाव है। कर्म-शूर मनुष्यके पास उसकी विश्वासभूमि सत्याचरण ही असत्य पर विजय पानेवाला अचूक महास्त्र रहता है। इसलिये तुम वीरता का कार्य करके ही वीरताके आनन्दको प्राप्त करो। बोलकर वीरता का आनन्द पानेकी मोघ आशा कभी मत करो। स्मरण रक्खो कि करनेसे डरते रहना तो कायरता है और न करनेके बहाने ढूँढते रहना वागाडम्बर है। इस दृष्टिको रखकर दूसरोंके साथ विवाद करनेके अवसरसे बचनेका यही उपाय है कि तुम उस अवसरपर भी अपने

हाथका काम करते रहो। उसे मत छोड़ो। यदि तुम्हारे बात न करनेसे दूसरे लोग तुम्हें अज्ञानी, घमंडी या भ्रांत मानलें तो इससे तुम्हारी कोई हानि नहीं है। तुममें जितनी भ्रांति है, वह तुम्हारे बोलनेपर भी है और न बोलनेपर भी है। जब कभी तुम्हारे मनमें जो कुछ तुम नहीं हो वैसा औरोंके सामने बननेकी इच्छा आती हो तब समझ लिया करो कि तुम शत्रुके वशमें आ गये हो। तब समझो कि तुम्हारा वचन तुम्हारे शत्रुका साथ देने लगा है। यदि तुम इस वचनको रोक लोगे तो तुम्हारा शत्रु सहायकहीन होकर कुचल डाला जायगा। तुम्हारा अपने वचनको रोकना और शत्रुको कुचल डालना एक ही बात होगी। तात्पर्य यही है कि मनुष्य अपनी वाणीको अपनी कर्मशक्ति बाहर निकाल फेंकनेका साधन न बनावे।

जो अपनी कर्मशक्तिसे कुछ करना नहीं चाहता वही बढ़-बढ़कर बातें बनाया करता है। जैसे वाष्पयन्त्र वाष्पको भीतर रोक रखनेसे ही आगे चलता है वैसे ही यदि किसीको अपनी कर्मशक्तिसे कोई काम लेना हो तो उसे बचाकर रखना चाहिये। उसे वाणीरूपी नाली खोलकर व्यर्थ नहीं बहा देना चाहिये। मनुष्य कर्मशक्तिको वाणीसे बाहर निकालकर कुछ न करके ही कर चुकनेका यश लेनेके लालचमें न फँसे। व्यर्थ बातोंसे मनुष्यमें शक्तिहीनता आती है। यदि मनुष्य बोलना अकर्तव्य होनेपर भी बोल उठता है तो उससे मनुष्यकी कर्तव्य करनेकी शक्ति नष्ट हो जाती है।

बिना पूछे किसीसे कुछ मत कहने लगो। प्रश्न न करनेपर किसीको अपनी ओरसे कुछ बात सुनानेका भाव यही है, कि मनुष्य उसके ध्यानको भी उसके कर्तव्यसे हटा रहा है तथा अपने ध्यानको भी अपने उस समयके कर्तव्यसे पृथक् रख रहा है। यह अवस्था आत्मकल्याणको नष्ट करनेवाली है। इसलिये कुछ बातें सुनानेके रोगी बनकर किसीके पास मत जाओ। बिना पूछे किसीसे कुछ मत कहने लगो। ऐसा करनेसे जननारायणके कानोंको कष्ट पहुँचेगा। क्योंकि वह तुम्हारी बातें सुननेको उद्यत नहीं हैं। ऐसा

करनेसे तुम उतने समय जो कोई अपना कल्याणकारी काम या सेवा करते रह सकते थे, उसे त्याग बैठोगे।

जबतक कोई सत्यान्वेषी जिज्ञासु बनकर तुम्हारी सेवा स्वीकार न करे, तबतक किसीकी बात मत काटो। तुम्हारे कानोंमें किसीकी बात पड़ रही है, और तुम उससे सहमत नहीं हो, तो भी अपनी ओरसे उसका विरोध मत करो। ऐसा करनेसे तुम्हारा लेशमात्र भी कल्याण न होगा। इससे तुममें संयमका अभाव और विवाद करनेकी रुचि प्रकट होगी। ऐसे समय मौन रहकर देखो कि उससे तुम्हें कितनी बड़ी शान्ति मिलती है।

यदि कोई आकर तुम्हारी इच्छाके बिना तुम्हें कुछ बातें सुनाने लगे, तो उसकी बातोंका विरोध मत करो। ऐसे समय उसका विरोध न करना ही तुम्हारा एकमात्र कर्तव्य है। वह यदि प्रतिवाद करने योग्य बात भी सुनाये, तब भी तुम्हें इसका प्रतिवाद करनेकी कुछ आवश्यकता नहीं है। इसका कारण यह है कि वह तुमको सुनाने ही सुनाने आया है। वह तुमसे अपना प्रतिवाद कराने नहीं आया। जो जिस सेवाको कराने आया हो उसकी वही सेवा करनी चाहिये। क्योंकि तुमको उसके मतामतकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये उसका प्रतिवाद न करना अत्यन्त आवश्यक है। यदि वह तुम्हारे विरोध न करनेसे अपनेको विजयी समझकर उल्लासमें भरकर लौट जाय, तब भी प्रतिवाद मत करो। तुम सोचो कि उस समय तुमने जिस निर्विकार मानसिक स्थितिकी रक्षाकी है, तुमको विजयी बनाना उसीका काम है।

जब ईश्वर तुम्हें बोलनेका अवसर दे तब चुप मत रहो। जब बोलना ईश्वरका दिया हुआ स्वाभाविक कर्तव्य बनकर सामने आ खड़ा हो, तब तुम्हारी बातका कुछ प्रभाव हो या न हो, तुम्हें अपना बोलनेका कर्तव्य परिणामका विचार किये बिना ही, अपनी संपूर्ण शक्तिसे पूरा कर डालना चाहिये।

यदि तुम जिससे बात कही जा रही है वह तुम्हारा कहना नहीं मानता या वह उसपर ध्यान नहीं देता, इस बहानेको लेकर न बोलने

या चुप रह जानेकी इच्छा करोगे, तो तुम भूल करोगे। क्योंकि तब तुम फलाकांक्षी या दुःखी जीवनवाले हो जाओगे। यह अवस्था सेवाका विरोध करनेवाली मनोदशा होगी। जब-जब सेवाका अवसर आये तब-तब मन वचन और कर्मसे, फलकांक्षासे हीन होकर, सेवा करते रहना चाहिये। जानलेना चाहिये, कि सेवा ही सेवाका फल है। सेवाका सेवासे दूसरा कोई फल नहीं है। कोई ध्यान दे या न दे, सेवाधर्मकी प्रेरणा मिलनेपर मनुष्यको बोलना ही चाहिये। अग्रगामी मनुष्य सेवाधर्मसे प्रेरित होकर ही बोलनेवाला बने।

किसी बातको कहनेसे प्रथम तीन बार सोच लेना चाहिये कि इस बातको कहना आवश्यक है या नहीं? अथवा इस बातको कहे बिना मेरा काम चल सकता है या नहीं? इस बातको न कहनेसे मेरे कर्तव्यमें कुछ रुकावट आती है या नहीं? ऐसा सोचनेपर बहुधा देखेंगे कि बोलना आवश्यक नहीं है। तीन बार विचार करते ही बनावटी बातें उड़ जाया करेंगी। मनुष्यको जानना चाहिये कि आवश्यक बातें संसारमें बहुत कम होती हैं।

कोई अन्यायपूर्वक तुमपर क्रोध करे तो उत्तर मत दो और मौन रहकर अपनी निर्विकार मानसिक स्थितिकी रक्षा अंकस्थ प्रिय शिशुके समान करते रहो। अन्यायपूर्वक क्रोध करनेवालेकी बातका उत्तर देना उसकी निरर्थक बात कहनेकी प्रवृत्तिको उत्साहित करके, बातको लम्बा करना है। ऐसे समय मौन रहकर निर्विकार मानसिक स्थितिकी रक्षा करते रहनेमें ही मनुष्यका आत्मकल्याण है। मनुष्यके लिये उसके इस क्रोधका इससे उत्तम और कोई उपयोग नहीं हो सकता। उस समय मनुष्यको यह समझना चाहिये कि मेरे जीवनसार और इस जगन्नाटकके सूत्रधार, प्रभुने इस क्रोधी पात्रको मेरे पास मुझसे धीरताका अभिनय करानेके लिये ही भेजा है। स्मरण रखनेकी बात है कि संसारकी परीक्षा बातोंमें ही होती है। मनपर बातोंसे जैसे-जैसे प्रभाव पड़ते हैं उन प्रभावोंसे ही मनुष्यकी

उच्चता या नीचता नपती है। उच्चताका अनन्त भण्डार बाहरकी परिस्थितिसे अप्रभावित रहनेमें ही है।

मनुष्य बिना विचारे किसीको कोई सम्मति न दे। किसी विषय-पर तुम्हारी सम्मति माँगी जानेपर विचार किये बिना तत्काल सम्मति देने लगना ठीक नहीं है। उससे तुम्हारे आत्मकल्याणमें बाधा पड़ेगी। कोई तुमसे व्यर्थ बात करने लगे तो उसे मत रोको। जब तुमसे कोई व्यर्थ बात छेड़ने लगे, तब तुम उसकी व्यर्थ बातको रोकनेके लिये भी मत बोलो। व्यर्थ बातके उत्तरमें जो कुछ कहा जाता है चाहे वह उसे रोकनेके लिये ही कहा जाता हो, वह भी व्यर्थ होता है। व्यर्थ बात कहनेवाला, तुम्हें तुम्हारे धीरजसे हटानेके लिये, जो प्रयत्न करे उसका अभिप्राय यह समझना चाहिये और अधिकाधिक धीर बन जाना चाहिये कि प्रभु ही मुझे इस उत्तेजकके रूपमें धीरजका सुख देनेके लिये आये हैं। मुझे इनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। मौन कर लेना ही इनकी बातका सच्चा उत्तर है, और मौन रह जानेमें ही इनका सच्चा सत्कार है।

यदि कोई तुमपर दोषारोपण करे तो तुम अपनेको बातोंसे निर्दोष सिद्ध करना मत चाहो। ऐसा करना व्यर्थता है। निर्दोष रहना ही अपनेको निर्दोष सिद्ध करनेका सर्वोत्तम उपाय है। निर्दो-षता ही निर्दोषताका सर्वोत्तम प्रमाणपत्र है। दोषारोपणके उत्तरमें कुछ वाक्य बोलने लगना निर्दोष सिद्ध करनेका प्रशंसनीय उपाय नहीं है। अपनेको अपनी जिह्वासे कभी निर्दोष सिद्ध मत करो। यह एक प्रकारकी लघुता है।

किसीकी निन्दा मत करो। किसीकी निन्दा करनेमें औरोंको श्रेष्ठपना न देनेकी तथा श्रेष्ठपनका ठेका केवल अपने पास रखनेकी इच्छा काम करती रहती है। दूसरोंकी निन्दा अपनी प्रशंसाका कपट रूप होता है। जो औरोंको अपनेसे ऊँचा देखना दुखदायी मानता है और अपनी नीचताको भी भले प्रकार जानता है, वह औरोंकी निन्दा करके अपने दोषोंको औरोंमें भी देख-देखकर कुछ सन्तोष

पाना चाहता है कि संसारमें और भी तो ऐसे बहुत हैं। निन्दा करने वाला मनुष्य सर्वत्र अपने दोषोंके समर्थकोंको देखना चाहता है।

तुम्हें जिस विषयपर सन्तोष हो चुका हो उसीपर बोलो। जिस-विषयपर तुम्हें सन्तोष न हुआ हो उसपर न बोलना ही वाणीका शिष्टाचार है। मनुष्य को अपने सहमत विषयपर केवल अपना संतोष प्रकट करनेका अधिकार है। उसे अपने विमत विषयपर अपना असन्तोष प्रकट नहीं करना चाहिये। सहमतका मण्डन करना चाहिये, विमतका खण्डन नहीं करना चाहिये। सहमतका मण्डन इतना अनुभवानुमोदित होना चाहिये कि उसीसे विमतका तेजोवध हो जाय और उसके खण्डनकी आवश्यकता न रहे।

तुमने जिस विषयकी सेवा करके आत्मसंतोष लाभ किया हो उस अपने आत्मसंतोषको ही लोगोंके समक्ष रक्खा करो। उस आत्मसंतोषके सहारेसे ही अपने वक्तव्यका समर्थन किया करो। तुम्हारा आत्मसंतोष ही लोगोंको आकृष्ट कर सकता है। ऐसा करोगे तो देखोगे कि सत्य अपनी शक्तिसे ही प्रतिष्ठित हो जायगा। तब किसी विरुद्ध बातका खण्डन करनेकी आवश्यकता न रहेगी।

अनावश्यक बात न बोलो। अनावश्यक बात करनेसे कोई लाभ नहीं होता। प्रत्युत इन बातोंसे समय और शक्ति दोनोंका दुरुपयोग होता है। अनावश्यक बातें करनेसे मन बहिर्मुख होता और दम्भ प्रकट होता है। वागाडम्बर, असत्यभाषण, परचर्चा, परदोषान्वेषण, आत्मप्रचार आदि सब अनावश्यक बातें हैं। जब अनावश्यक बात की जाती है तब जिह्वासे बिना पूछे तथा बिना कारण औरोंके मनको कष्ट पहुँचानेवाले वाक्य अज्ञात रूपसे निकला करते हैं। इस प्रकारकी बातें कभी व्यर्थ नहीं जातीं। ये बातें दूसरोंको साँपके समान डसती हैं। पीछेसे ऐसी बातोंका प्रतिकार करना शक्तिसे बाहर हो जाता है। ऐसी बातें बोलनेवालोंको सदा दुख दिया करती हैं। इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर सदा बात न करनेकी ओर प्रयत्न रखना चाहिये। सुनते रहना ही बुद्धिमत्ता है। सुननेवाला

सीखता है और बोलनेवाला सुनने तथा सीखनेसे वंचित रह जाता है।

दूसरोंको अहंकारी समझकर उत्तरमें अहंकारपूर्ण होकर मत बोलो। बोलना आवश्यक हो तो अहंकारियोंके साथ भी नम्र होकर बोलो। नम्र होकर बोलनेमें ही तुम्हारा आत्मकल्याण है। तुम दूसरोंको अहंकारी समझनेकी निज मनोवृत्तिका विश्लेषण करके देखो कि उसमें कितने निर्बल भाव हैं? दूसरोंको निर्बल समझनेका कहीं यह भाव तो नहीं है कि वे तुम्हारी प्रतिष्ठा नहीं करते, वे तुम्हें कोई महत्त्व नहीं देते या वे तुम्हारी किसी आकांक्षापर चोट मारते हैं। यदि वे तुम्हें महत्त्व दिया करें, वे तुम्हारी प्रतिष्ठा कर दिया करें तो क्या तब भी तुम उन्हें अहंकारी कहोगे? ऐसे स्वार्थमूलक कारणोंसे दूसरोंको अहंकारी समझनेकी तुम्हारी इस मनोवृत्तिका भाव यह हुआ कि तुम स्वयं ही अहंकारी हो। जब तुम अपने इस दुष्ट अहंकारको हटा चुकोगे तब देखोगे कि तुम्हारा ध्यान दूसरोंके अहंकारकी ओर अर्थात् दूसरोंकी भलाई-बुराईकी ओर नहीं बँटा करेगा। जब तुम दूसरोंके मनोभावोंको अपने मनपर अपना प्रभाव डाल लेने देते हो तब इसका यही अभिप्राय निकलता है कि तुमने अभीतक ऐसे मनोभावोंका उपार्जन नहीं किया जो तुम्हें संतोष दे सकते। जब कोई बुराई तुम्हारा ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती दीखे तब समझ लिया करो कि अभीतक तुम्हारी बुरी मनोवृत्ति नहीं मरी। सदा ध्यान रक्खो कि तुम्हारे ऊपर अपने ही मनको निर्दोष निर्विकार तथा अप्रभावित रखनेका उत्तरदायित्व है। तुम्हें दूसरोंके मनोंको पवित्र रखनेका कोई अधिकार नहीं है। तुम्हारे ऊपर ऐसा कोई उत्तरदायित्व नहीं है। दूसरोंके दोष देखते फिरना अपने अधिकारसे बाहर जाना और दूसरोंके अधिकारपर हाथ डालना है। इस मनोवृत्तिका आत्मकल्याणके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीसे यह मनोवृत्ति त्याग देने योग्य है। मनुष्यको दूसरों-के गुण-दोषोंके विषयमें उदास रहना चाहिए। यदि दूसरा अहंकारमें

भरकर तुमसे कुछ कहता हो और उसे उत्तर देना आवश्यक हो तब तुम्हें क्रोधमें भरकर उत्तर देनेकी आवश्यकता नहीं है। यह समय क्रोधपर विजय पानेका समय है। ऐसे समय नम्र होकर केवल उसकी बातका उत्तर देना चाहिये। तुम्हें उसके अहंकारका कोई उत्तर न देना चाहिये। यदि तुम इस नीतिसे काम लोगे तो बहुधा देखोगे कि उसका अहंकार तुम्हारी नम्रता में छिप जायगा। तुम्हारा नम्र व्यवहार उसके और तुम्हारे दोनोंके भेदके भ्रमको नष्टकर डालेगा। उसका तुम्हारे साथ जो अज्ञानावृत शाश्वत ऐक्य है और उस ऐक्यके ज्ञानमें जो दिव्य सुख है तुम्हारे नम्र व्यवहारसे उसके दर्शन उसे और तुम्हें दोनोंको मिलेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि वह अपनी अन्तःप्रेरणासे तुम्हारे साथ नम्र व्यवहार करनेके लिये विवश हो जायगा। ऐसे समय यह देखनेको मिलेगा कि अहंकारीको अहंकारहीन उत्तर देनेसे अपने आत्मकल्याणके साथ उस अहंकारीकी भी सेवा होगी।

जहाँ तक हो मत बोलो। इसका कारण यह है कि बात बोलते रहनेसे समाप्त नहीं होती। बात चुप रहनेसे ही समाप्त होती है। सदा स्मरण रक्खो कि तुम्हारी बात न सुननेसे संसारकी कोई हानि नहीं हो रही है। संसारका कोई आवश्यक काम तुम्हारे बोले विना रुक नहीं रहा है। संसारका कोई व्यक्ति तुमसे बोलनेकी प्रार्थना नहीं कर रहा है। तुम्हें स्वयं ही बोलनेकी कण्डूति उठी है। वार्ताके व्यसनी तुम्हारी बात सुननेसे ही संसारकी कोई हानि हो सकती है। न बोलनेसे नहीं। जब तुम मुँहसे कोई बात निकाल बैठोगे तो देखोगे कि तुम्हारी बातोंका सहारा ले लेकर कभी समाप्त न होनेवाली बातें बनानेके बहुतसे साधन आसपाससे मिलते जा रहे हैं। इसलिये जहाँ तक हो मौन रहना और न्यूनसे न्यून बोलना वाक्शक्तिका सर्वोत्तम उपयोग है।

कैसे सोचें ?

जैसे मिट्टीसे मकान बनता है, ठीक इसी प्रकार विचारोंसे मनुष्य जीवन बनता है। जैसी मिट्टी होती है वैसाही मकान बनता है। हम जैसे विचार करते रहते हैं हमारा जीवन वैसा ही हो जाता है। एक घरमें उत्पन्न हुए, एक समान पाले-पोषे दो बालकोंमेंसे एक इसीलिए महात्मा हो जाता है कि वह सदा अच्छे विचार करता रहा है और दूसरा इसीलिये पापात्मा हो जाता है कि वह सदा बुरे विचारोंमें डूबा रहा है। मनुष्यका भलापन या बुरापन केवल इस बात पर निर्भर है, कि उसके विचार कैसे हैं?

निर्मितिमें आनेवाली प्रत्येक वस्तु अपने निर्माणसे पहले शिल्पीके मनमें आया करती है। वह जो कुछ बनाता है उससे पहले अपने मन में उसका मानस आकर बना लेता या उसकी रूप-रेखाकी कल्पनाकर लिया करता है। फिर वह उस अपने मानस आकारको बाह्य पार्थिव रूप देनेके लिये प्रत्येक क्षण ईंटों पत्थरों पर अपने औजारोंसे खुट-खुट करता रहता है। अन्तमें उसके प्रयत्नसे एक विशाल सुन्दर भवन बनकर प्रस्तुत हो जाता है। हम भी अपने जीवनके शिल्पी हैं। हमारे पास भी ईश्वरीय रचना-कौशलसे प्रत्येक समय हमारे जीवन-निर्माणके साधन आ रहे हैं। यदि हम इन साधनोंके प्रति अपना कर्तव्य पालन करें तो हम भी उन साधनोंका पूर्ण सफल उपयोग कर लेनेसे सफल जीवन नामका एक दिव्य भवन बनाकर प्रस्तुत कर सकते हैं। मनुष्य यह भली प्रकार समझ ले कि उसे कुछ दिनके लिये मिले हुए इन उपकरणोंको एक न एक दिन यहीं पड़ा छोड़कर चला जाना पड़ेगा। इसलिये उसे इन वियोगशील पदार्थोंके मोहमें न बँधकर इनका उत्तम से उत्तम उपयोग कर लेनेके लिये सतत चिन्ताशील हो जाना चाहिये तथा इन सब साधनोंका सदुपयोग करते करते सत्य-

मयी जीवनधाराको सत्याभिमुख प्रवाहित करते करते अपनेको सत्यमें विलीन कर डालनेके लिये सन्नद्ध हो जाना चाहिये। मनुष्यका यह जीवनरूपी भवन जिन ईंटोंसे बनता है, वे ईंटें हमारे पास एक एक करके आनेवाले क्षण हैं। इन क्षणोंका सदुपयोग करते रहनेसे ही विशाल जीवन स्वर्गीय जीवन, या दिव्य जीवन नामका दिव्य भवन बनकर प्रस्तुत हो जाता है। जो कोई अपने पास आये क्षणोंका सदु-पयोग करता है वही दिव्य जीवनरूपी भवन बनाकर प्रस्तुत कर देता है। इस दिव्यजीवनभवनमेंसे मनुष्य निकल जाता है और इसमें परमात्मा घुस बैठता है। वही इस भवनका प्रतिपालक संरक्षक तथा संचालक हो जाता है। वे लोग धन्य हैं जो इस प्रकार अपना दिव्य जीवन बनाकर उसका नेतृत्व परमात्माको सौंप देते हैं और स्वयं संसारकी मोह ममताकी संभालसे गंगा नहा जाते हैं।

जीवन बनानेमें विचारोंका जो महत्वपूर्ण स्थान है, या जीवन बनानेमें विचारोंकी जो महिमा है, उसे जाननेके लिये भृङ्गी नामके कीड़ेका दृष्टान्त अत्युपयोगी है। यह कीड़ा मिट्टीका छोटसा घर बनाता है और किसी भी जातिके कीड़ेको पकड़कर उसे अपनी ही जातिका बना डालनेके लिये अपने मिट्टीके घरमें बन्द कर देता है। बन्द करनेके पश्चात् उसके ऊपर बैठकर उसे अपनी गुंजार सुनाता है। वह अपनी इस गुंजारके द्वारा इसे अपनी ही जातिका हो जानेकी विधि या मन्त्र सिखा देता है। उसकी गुंजार उस नन्हें कीड़ेके मनमें बस जाती है और उसकी विचार-धाराको बदल डालती है। उससे उसके शरीरका आकार और मन दोनों बदल जाते हैं। कुछ दिनमें उसकी उस गुंजारका यह प्रभाव पड़ता है कि वह अपनी पहली जाति छोड़कर उसीकी जातिका हो जाता है। जब वह मिट्टीके उस घरमेंसे बाहर निकलता है, तब बड़े आश्चर्यसे देखते हैं कि वह गोल और भूमिपर रेंगनेवाला कीड़ा आज पंख और डंकवाला आकाशचारी कीड़ा बनकर बाहर निकला है। इसके हाथ-पैर मुँह आदि सब कुछ उस भृंगी जैसे हो गये हैं। अब उसके भृंगी बन जानेमें कोई शंका

नहीं रह गई है। यह इतना भारी आश्चर्यकारी परिवर्तन इस कीड़ेकी उस चिन्ताका परिणाम है जो उसने कभी इस छोटेसे घरमें बन्दी (कैदी) बनाकर रखनेवाले कीड़े गुरुसे सीखी थी। हमें इस कीड़ेसे विचारशक्तिकी महिमाका ज्ञान प्राप्त करना है कि वह बड़ेसे बड़े, यहाँतक कि असंभव समझे जानेवाले परिवर्तन भी कर सकती है। वह मनुष्यको कुछका कुछ बना सकती है। नरको नारायण बना देना विचारशक्तिके बाँयें हाथका खेल है। विचारशक्तिने संसारमें आज तक कोटि-कोटि मनुष्योंका निस्तार किया है। उन्हें मनुष्यकोटिसे निकालकर देवकोटिमें बैठाया है। इसने दुखीको सुखी और अज्ञानीको ज्ञानी बनाया है। इस उदाहरणसे यह बात समझमें आती है कि अपने जीवनोंको चाहे जैसा बना डालनेवाली, उनमें संभव असंभव चाहे जैसा परिवर्तन कर सकनेवाली चिन्ताशक्तिको साधारण-सा पदार्थ समझकर उसकी उपेक्षा करना, उससे महत्वपूर्ण काम न लेना कितनी भारी भूल है। हमें यह समझ रखना चाहिये कि हमारी चिन्ता ही हमारे सफल या असफल जीवनोंको ढालनेका ऐसा स्वाधीन साँचा है जिसे चाहे जैसा रूप देना हमारे ही अधिकारमें है।

मनुष्यकी चिन्तामें ही मनुष्योंके वे भले-बुरे तथा सुखी दुःखी जीवन बीज रूपमें छिपे रहते हैं, जो अनुकूलता पाते ही बाहर प्रकट हो जाते हैं। मनुष्य अपनी चिन्तासे ही पुण्यात्मा या पापात्मा, सुखी या दुःखी हो जाता है। पुण्य या पाप भी मनुष्यकी चिन्ता है, सुख या दुःख भी मनुष्यकी चिन्ता है, धन या दारिद्रय भी मनुष्यकी चिन्ता है। ये सब मानवीय चिन्ताके ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। चिन्ता एक ही समयकी एक ही घटनासे एकको सुखी और दूसरेको दुःखी बना डालती है। दो सगे भाइयोंका पितृ-वियोग होनेपर उनमेंसे एक तो समझता है कि हमारा जीवन नीरस और नष्ट हो गया, हमारा जीवनावलम्ब जाता रहा, हम अनाथ हो गये। वह यह समझकर दुःखी हो जाता है। उसीका दूसरा भाई समझता है, कि हमारे पिताकी मृत्यु संसारकी अटल व्यवस्थाका एक भाग है। हमारा

शरीर भी इसी मृत्युनियमके अधीन है, जिसके अधीन अभी हमारे पिताका शरीर हुआ है। शरीरके उत्पन्न होते ही जब पहले अनित्यता उसे अपनी गोदमें ले चुकती है तब पीछे उसे माताकी गोद मिलती है। वह इस प्रकार पितृवियोगकी घटनासे सब स्थूल पदार्थों-की अनित्यताको समझकर अमर आनन्दको ढूँढनेमें लग जाता और शांतिको प्राप्त कर लेता है। वह समझ जाता है कि किसी वस्तु या व्यक्तिका अभाव हो जानेसे हमारी शक्तिका अन्त या अभाव नहीं हो गया। वह जान जाता है कि अब मुझे प्रकृति माताने स्वावलम्बी बनानेका पाठ सिखानेके लिये मेरे सामने पितृवियोगकी घटना उपस्थितकी है। वह समझता है हमें सच्ची शक्ति देनेवाला अमर शक्तिमान् हमारा ही आत्मा है जो इन सब मरनेवालोंसे पृथक् और इन सब मरने जीनेवालोंका एक ही आत्मा है। उसकी वह सच्ची शक्ति हमारे ही भीतर है। वह पितृवियोग होनेपर भी ऐसा सोचकर उत्साहपूर्ण होकर जीवनविजयके लिए अकेला ही कटिबद्ध हो जाता है। बात यह है कि घटनाओंमें स्वयं न तो अच्छापन है और न बुरापन है किन्तु उन घटनाओंके पश्चात् मनमें बहनेवाली नवीन चिन्ताधारामें ही अच्छापन या बुरापन रहता है। उस घटनाका सामना करनेवाली चिन्ताधारा अच्छी हो तो उस घटनासे लाभ होता है, बुरी हो तो उससे हानि उठानी पड़ती है। जीवनमें चिन्ताधाराकी इस महत्व पूर्ण स्थितिके कारण हमें अपनी चिन्ताधाराको नियन्त्रित करना चाहिये। हमें अपनी चिन्ताधाराके द्वारा अनुकूल प्रतिकूल प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति और घटनासे सुख ही सुख प्राप्त करनेकी कला सीख लेनी चाहिये। मनुष्यको जानना चाहिये कि यह संसाररूपी पाठशाला उसी कलाको सिखानेके लिये खोली गई है। हमें इस कलाको सीखनेके लिये अपने विचारोंपर कठोर नियन्त्रण रखना चाहिये। प्रत्येक समय अपने मनोमन्दिरको पवित्र, निर्मल, शुद्ध रखना चाहिये तथा उसमें आघुसनेवाली समस्त अनावश्यक दूषित भावनाओंको 'दूर हट' करते रहना चाहिये। संसारमें ऐसी कोई भलाई या बुराई

नहीं है, जिसकी जड़ मनुष्यकी चिन्तामें न हो। मनुष्य इस बाह्य संसारमें कोई भी भलाई या बुराई करनेसे पहले अपने मनमें उसे बाह्यरूप देनेवाली भली या बुरी चिन्ता कर लेता है। वह चिन्तन ही मनुष्यका वास्तविक स्वरूप होता है। मनुष्यका वास्तविक रूप हाडमांसके देहसे पृथक् रहता है। मनुष्य सच या झूठ जैसा कुछ सोचता है, वैसा ही हो जाता है। यो यच्छ्रद्धः स एव सः। यह मनुष्य दो देहोंका प्राणी है-एक तो इसका अमर चिन्मय देह (पवित्र मन) है, दूसरा इसका पार्थिव (भौतिक) देह है। ये दोनों देह इसके चिन्तनसे बनते और उसीके अनुसार काममें आते रहते हैं। शुभ चिन्तनों से चिन्मय देहकी रक्षा होती रहती है पार्थिव देह भी चिन्तनसे ही भले या बुरे कामोंमें लगता है। चिन्ता ही देहका सारथित्व या संचालन करती रहती है। देह स्वसंचालिका भावनाके विना कभी नहीं रहता। देहको चलानेवाली भावना देहोंके साथ ही साथ रहती है। चिन्मय देह अशुभ चिन्तनोंसे नाशवान् मृण्मय देहके बन्धनमें फँस जाता है और स्वरूपको भूल जाता है। चिन्मय देह स्वरूपको भूलते ही अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले कष्ट पाने लगता है। जब कोई मनुष्य इस पार्थिव देहके लालन-पालनको ही जीवनका लक्ष्य मान लेता है, तब यह सृष्टि उसे मनुष्यत्वसे गिरा देनेके काम आने लगती है। यह सृष्टि हमें मनुष्यत्वसे गिरानेके काम न आने लगे, इस सतर्कताके लिये चिन्ताको ठीक मार्ग-पर रखनेकी बहुत बड़ी आवश्यकता है।

चिन्ताको ठीक मार्गपर रखनेकी विधिपर विचार करनेसे प्रथम चिन्ताके स्वरूपका विचार कर लेना चाहिये कि वह क्या वस्तु है? और क्यों होती है?

प्रिय वस्तुके न मिलनेतक उसका जो ध्यान बना रहता है, वही चिन्ताका स्वरूप है। चिन्ता और ढूँढ एक ही बात है। किसी विषय की चिन्ता होनेपर मनुष्यको उस प्रिय वस्तुके अतिरिक्त सब कुछ सूना लगता है। मनुष्यको अपनी प्रिय वस्तु ढूँढनेमें अपनी सारी शक्ति

लगा देनी पड़ती है। उसे न पा लेने तक मनमें एक प्रकारका सन्ताप बना रहता है। मनुष्य सततचिन्ताशील प्राणी है। सोकर उठते ही उसकी चिन्ता प्रारम्भ हो जाती है और नींद आनेतक दिनभर पहरेदारकी भाँति मनुष्यसे चिपटी रहती है। मनुष्यका मन प्रत्येक समय किसी न किसी चिन्तामें डूबा ही रहता है। इसकी इस सतत चिन्ताका यही अभिप्राय है कि इसकी कोई अत्यन्त प्यारी वस्तु खो गई है जिसके लिये यह निरन्तर भटक रहा है। यह प्रत्येकसमय किसी ऐसी वस्तुके अन्वेषणमें लगा हुआ है जो कभी इसके पास रही तो है, परंतु अब वह किसी अज्ञात कारणवश उसके आनन्दसे वंचित हो गया है। इसके मनमें अबभी उसीको पानेकी धुन लगी हुई है। उसे उसके वियोगमें यह सारा संसार सूनासा लग रहा है। यह उसके ढूँढनेमें सारे संसारकी धूल छानता फिर रहा है। जैसे पानी-से बाहर निकाली हुई मछलीको पानीके अतिरिक्त कुछ नहीं सूझता इसी प्रकार इसका मन उसी प्यारी वस्तुको ढूँढनेमें लगा हुआ है। यह उसके अतिरिक्त कहीं बंध कर नहीं रहता। यह अपनी उसी खोई हुई प्यारी वस्तुको ढूँढनेके लिए कभी नयनाभिराम, कभी श्रवणमनोहारी, कभी स्पर्शसुखद, कभी स्वादु और कभी सुगन्ध पदार्थोंको लेना चाहता है और कभी धन यशके पीछे पड़ जाता है। जबतक ये पदार्थ इसे नहीं मिलते, तबतक तो यह इनकी प्राप्तिकी आशामें दिन काट देता है। यह पदार्थोंके मिल जानेपर उनमें अपनी प्यारी वस्तुको देखना चाहता है कि इनमें मेरी अभीष्ट वस्तु है या नहीं? इसे इन पदार्थोंकी चिन्ता और नाशका भय भी साथ ही साथ चुभता रहता है। कोई भी वस्तु किसीके पास सदा रहनेको नहीं आती। ये वस्तुएँ प्राकृतिक नियमके अनुसार कुछ क्षणके पश्चात् इसे छोड़कर चली जाती हैं। यह तब भी दुखी होता है। तब यह इनकी स्थानपूर्तिके लिये ऐसी ही दूसरी वस्तुओंके पीछे दौड़ लगाने लगता है; परन्तु इस लम्बी दौड़में उसकी खोई हुई प्यारी वस्तु उसे कहीं भी प्राप्त नहीं होती। इसकी चिन्ता इन वस्तुओंके मिल-

नेपर भी बन्द नहीं होती और न मिलनेपर भी विराम नहीं करती। इससे एक ही परिणाम निकलता है, कि इसे अबतक जो पदार्थ मिलते रहे इसे उनमें किसीकी भी चिन्ता नहीं थी। यदि इसे उन पदार्थोंकी चिन्ता होती, तो उन्हें पा लेनेपर इसकी चिन्ताधाराको बन्द हो जाना चाहिये था। इससे यह सिद्ध होता है, कि इस मनुष्य-की यह जो अविश्रान्त चिन्ता है, यह किसी असाधारण प्रिय पदार्थ-की ओर दौड़ी चली जा रही है। अब देखना यह है कि इसकी इस अविश्रान्त चिन्ताका लक्ष्य क्या है?

प्रत्येक मनुष्यका अनुभव इस महाप्रश्नका उत्तर प्रत्येकको दे रहा है कि उसकी प्रत्येक चिन्ता सदा रहनेवाले सुखकी ओर दौड़ी जा रही है कि कहीं मुझे सदातन सुख हाथ आ जाय। मनुष्यकी यह चिन्ता तब तक बन्द नहीं होगी, जबतक कि इसे सनातन सुख नहीं दीख जायगा और उससे पूरी पूरी शान्ति नहीं मिल जायगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्णशान्ति या सच्चे सुखको पा लेना ही मनुष्य की इस अविश्रान्त चिन्ताका एकमात्र लक्ष्य है। इस दृष्टिसे देखनेपर चिन्ता सचमुच जीवनका एक बहुमूल्य पदार्थ प्रतीत होता है। चिन्ता मनुष्यको ईश्वरकी सर्वोपरि देन है, जो कोई भी सुतवत्सल पिता सुतवात्सल्यसे अपने प्रिय पुत्रको दे सकता है। यदि विधाताने मनुष्यको चिन्ताशक्ति न दी होती, तो संसारमें शान्तिको ढूँढ निका-लनेका कोई भी द्वार न रहता, आवश्यकता केवल इस बातकी है, कि मनुष्य इस ईश्वरदत्त चिन्ताशक्तिका अच्छेसे अच्छा उपयोग करके अपने लक्ष्य, पूर्ण शान्ति या सनातन सुखको पा ले।

हमें इसके लिये अपनी चिन्ताशक्तिका परिचालन दो प्रकारसे करना चाहिये कि एकतो शांति हमारी आँखोंके सामनेसे हटनेवाली वस्तु न रह जाय और दूसरे शान्तिका विरोध कर सकनेवाली कोई भी वस्तु हमारी चिन्ताका विषय न बना करे।

ऊपर जिस शांतिको पानेके लिये चिन्ताशक्तिको संयममें रखने की आवश्यकता सिद्ध की गई उस शांतिका निज-निज हृदयमें

अंकनीय स्वरूप यही है कि हमें अपनेमें किसी भी प्रकारका अभाववोध न होने देना चाहिये। अर्थात् हममें यह भावना आनी सर्वथा बन्द हो जानी चाहिये कि "हमारे पास अमुक अमुक पदार्थ नहीं हैं। हमारा जीवन अमुक अमुक पदार्थोंके बिना अपूर्ण है" हमारे मनोंमें किसी भी पदार्थके वियुक्त हो जानेका डर कदापि उपस्थित न होना चाहिए। हमें जिन पदार्थोंको न पानेपर अपना आपा अधूरा प्रतीत हुआ करता है, तथा जिन वस्तुओंको पानेपर उनके वियोग का भय चुभने लगता है, वे सब पदार्थ शांतिका विरोध करनेवाले होते हैं। ऐसे किसी भी पदार्थकी कामना करना अशांति मोल ले लेना है। इसको स्पष्ट करके कहें, तो अपने मनमें बरसाती घास फूँसकी भाँति धन, मान, सुंदर वस्तु, मीठे शब्द, स्वादु रस, मनोहारि गन्ध, किंवा स्पर्शसुखदायी पदार्थोंकी इच्छाको उत्पन्न होने देना, उसे पालते रहना, उससे प्रेरित होते रहना, उसे पुष्ट करते रहना ही मनुष्यकी अशांतिका स्वरूप है।

सत्यसुखार्थी मनुष्यको अपनी आत्मशक्तिके ऊपर इस प्रकारका सुदृढ विश्वास होना ही शुभचिन्तनका मूल है कि जिस वस्तुकी सचमुच आवश्यकता होती है, उस वस्तुको प्राप्त करनेकी शक्ति भी हमारे पास अवश्य रहती है। ईश्वरका नियम यह है कि यदि हम पर किसी अभिलषित वस्तुको पानेकी शक्ति नहीं है तो उसे हमारे आवश्यक समझने पर भी हमें उस वस्तुकी वास्तवमें कोई आवश्यकता नहीं होती। शक्ति ही मनुष्यकी आवश्यकताके सच्चे होनेकी कसौटी और सीमा है। संसार बननेसे लेकर अब तक आवश्यकता और शक्ति साथ साथ रहती चली आ रही है। शक्ति और आवश्यकता ऐसी सहेली हैं जो कभी अलगाव नहीं सहतीं। इसलिये मनुष्यको यह संकटमोचक महासूत्र कण्ठस्थ कर लेना चाहिये कि हमारी शक्तिके बाहर केवल वे ही वस्तुयें होती हैं, जिनकी हमें कोई सच्ची आवश्यकता नहीं होती। बाहरके नास्तिक संसारकी दृष्टिमें इन वस्तुओंका चाहे जितना मूल्य लगाया जाय

परंतु एक आस्तिककी दृष्टिमें अपनी शक्तिसे अप्राप्य समस्त वस्तुएँ निकम्मी और उपेक्षणीय माननी चाहियें। निकम्मी अनावश्यक या निज शक्तिसे अप्राप्य वस्तुओंको प्राप्त करनेके उद्योगको ही असंभवको पानेका उद्योग मानना चाहिये। अपनी चिन्तानदीको ऐसी असंभव बातोंके पीछे बहाकर या बहने देकर प्रत्येक समय अशांतिका दर्शन करते रहना ही अशुभ चिन्तन है। संसारके समस्त अशुभ चिन्तन इस मुख्य अशुभ चिंतनकी ही शाखा प्रशाखामात्र हैं। यह अशुभ चिंतन ही सम्पूर्ण दुःखोंका मूल कारण है। इन अशुभ चिन्तनोंका जन्म उस समय होता है जब हम अपनी विचारधारा पर कोई नियन्त्रण न रखकर अपनेको बाह्य जगत्‌की उत्तेजनाओं और सम्मतियोंसे प्रभावित हो लेने देते हैं। जब हम हमारे लिये हितकारी मार्ग किंवा करने योग्य काम कौन सा है? इस बातका निर्णय स्वयं न करके, बाह्य जगत्‌की सम्मति लेनेके लिये दीन मुखसे उसकी ओर ताकने लगते हैं और स्वयं अपने हानिलाभका कोई विचार न करके, दूसरोंके रुचिकर मार्ग पर चलना स्वीकार कर लेते हैं, तब ही हमारा मन अशुभ चिन्तनोंका घर बन कर, हमें दुःखी किया करता है। जब हमारे लाभालाभका निर्णय दूसरोंके आधीन हो जाता है, तब हमारी सफलता और असफलता भी दूसरों की ही विचारशक्ति पर निर्भर हो जाती है। जब हम दूसरों की बतायी सफलताके पीछे जाकर अपने लिये असंभवको प्राप्त करनेके निरर्थक उद्योगमें कूदते और असफल होते हैं तब अपनेको झूठ मूठ शक्तिहीन मान लेते हैं। सोचिये तो सही कि दूसरोंकी सम्मतियों पर निर्भर होकर झूठ मूठ शक्तिहीन बन जानेवाला जीवन बिताना मनुष्यके मनकी कैसी दयनीय दशा है?

देहधारणके अभिप्रायका पूर्ण परिचय ही मानव जीवनको सुपथ पर रख सकता है। जब यह मनुष्य देहधारण करनेके अभिप्रायको भूल जाता है, तब ही अपनेमें रहनेवाली ईश्वरकी देन चिन्ता धाराको सन्मार्गसे हटाता है और उसे असन्मार्ग पर डाल देता है।

लगा देता है। ओ मानव ! तू यह जान कि इस देहका देही कोई क्षुद्र सत्ता नहीं है, वह साक्षात् त्रिलोकीका नाथ परमात्मा है। इसमें रहनेवाली चिन्ताशक्ति कोई क्षुद्र शक्ति नहीं है। वह अनन्त ब्रह्माण्डव्यापी है। वह अनन्त शक्तिका प्रतीक है। वह परमात्माकी ही शक्ति है। वह नरको नारायण बनानेका महासामर्थ्य रखनेवाली आद्या जगन्माताका अंश है। मनुष्यका वास्तविक स्वरूप या शुद्धतम रूप ही परमात्मा है। मनुष्य अपने स्वरूपकी स्मृति करते ही परमात्मपदपर जा विराजता है। इस मनुष्यकी चिन्ताशक्ति ही उसकी आत्मशक्ति है। वही इसके मानव जन्ममें इसे चिन्तानदी बनकर मिली है। यही वह शक्ति है, जिसके सहारेसे यह मनुष्य इस सम्पूर्ण नाशवान् जगत्की उपेक्षा करके आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहनेकी वह अनन्त शक्ति पा लेता है जिसे पाने ही के लिये वह इस संसारमें आया है।

समग्र संसारलीला करनेवाला वही परमात्मा इस मृण्मय देहमें पेटकी अग्निके रूपमें जलता रहकर सुपथ्य भोजन ग्रहण करके इस देहको कार्यसमर्थ बनाता रहता है और वही परमात्मा चिन्मय देहमें ज्ञानाग्निके रूपमें सुलगता रहकर, कर्ममय जीवनमेंसे अशुभ-चिन्तनोंको भस्म करके, शुभ चिन्तनोंको जीवित और जाग्रत रख रखकर, मनको पूर्णानन्दमय बनाये रखता है। अपने मनको पूर्णानन्दमय बनाये रखना ही मनुष्यके देहधारणका अभिप्राय है। यद्यपि मनुष्यके कर्म करनेका साधन मृण्मय देह है परन्तु इस मृण्मय देहका सारथी या संचालक तो वह चिन्मय देह ही है। मृण्मय देह नहीं जानता कि मुझे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। उसके लिये ये सब बात उसके चिन्मय देह या मनको निर्धारित करनी पड़ती है। चिन्ताशक्तिका यही अभिप्राय है कि देहके साथ देही के स्वाभाविक सम्बन्धको न टूटने दिया जाय तथा देहके साथ देही को अस्वाभाविक सम्बन्ध न जोड़ने दिया जाय। जैसे कुपथ्यभोजन करनेसे मृण्मय देह रोगी हो जाता है, वैसे ही कुचिन्ता करनेसे मन

या चिन्मय देह रोगी हो जाता है। जैसे इस मृण्मय देहका भोजन स्थूल भौतिक पदार्थोंमेंसे लिया जाता है इसी प्रकार मनुष्यका चिन्मय देह अपना भोजन अपनी विचारशक्तिके द्वारा अपने भीतर अपने हार्दिकआकाशमें भरे हुए चित्सागरकी चिन्तालहरीमेंसे बटोरा करता है।

चिन्मय देह इस भोजनको पाकर ही स्वस्थ और पुष्ट बनता है। विचारशक्ति न होनेपर सदसत् तथा त्याज्य-ग्राह्यके सम्बन्धमें विचारहीनता आये विना नहीं रहती। जब इस चिन्मय देहको सुपथ्य खाना नहीं मिलता, तब यह दुष्टचिन्तारूपी हालाहलका पान करने लगता है और कामक्रोधादि रोगोंका रोगी हो जाता है। तब यह इस नाशवान् मृण्मय देहके बंधनमें फँसकर अपने स्वरूपको भूल जाता है तथा अज्ञानमयी नरक-यन्त्रणाओंसे क्लेश पाता रहता है। उसकी चिन्ताशक्तिका दुरुपयोग इसलिये होता है कि चिन्मय देहके लिये जहाँसे आवश्यक पुष्टिकारक पथ्य मिल सकता है, वहाँसे उसे न लेकर भौतिक जगत्के कंगले स्थानोंसे, जहाँ वह नहीं है, वहींसे पथ्यके धोकेमें कुपथ्यसंग्रह कर लिया जाता है।

जब मनुष्य यह विवेचना नहीं करता कि मेरी सच्ची आवश्यकता क्या है? कितनी है? मेरे आत्मिक कल्याणके साधन क्या हैं? जब वह आत्मराज्यपर दृष्टि नहीं रखता, जब वह चित्सागरमेंसे पथ्य नहीं लेता, तब अनात्मजगत्पर सतृष्ण दृष्टि फेंकता है और तब ही उसे विचारभ्रांति होती है। मनुष्य विचारभ्रान्ति ही के कारण भीतरकी ओर दृष्टि न डालकर बाहरकी ओर आँखें फाड-फाडकर देखा करता है कि संसारने हमारे लिये कौन-सा स्थान नियत कर रक्खा है? और हमें बाहरके संसारने कौनसे काममें लगाकर हमारे जीवनकी सफलताका प्रमाणपत्र देनेका निश्चय कर रक्खा है? इस प्रकारका हीन विचार आ जानेपर, इसकी हीनताका गंभीर विचार किये विना, किंवा आगा-पीछा न देखकर बाह्य लोकमतके प्रभावमें आकर अपनेको भेड़ाचालकी भाँति लोकमतके पीछे चल

पड़नेके लिये विवश पाता है। प्रत्येक विचारशीलको लोकमतसे पूर्ण सावधान रहना चाहिये। लोकमत सदा ही अंधा परम्परागत अनुकरणमात्र होता है। लोकमत सोचकर अपनाया नहीं जाता। लोकमत इन्द्रियोंकी आसक्तिमें फँसा रहनेके कारण सदा ही विवेकहीन होता है। विवेकी मनुष्य जिस दिन इस भूमि पर उतरता और जब तक रहता है, तबसे तबतक देखता रहता है कि बाहरी संसारने एक लोकमत नामका अति विस्तृत षड्यंत्र बना रक्खा है। यह लोकमत साधारण मनुष्यको जीवनभर बाँध रखनेवाला अति विस्तीर्ण बंधनजाल है। विवेकी देखता है कि पिता-माता, भ्राता, भगिनी, मित्र, कुटुम्ब, गुरु, नेता आदि सब मोहक चोला पहनकर ऊपरसे कहनेको मनुष्यके हितू बन बनकर बंधन बने हुए हैं। सबके सब अपनी अपनी बंधनस्थितिको इतना प्यार करते हैं कि ये उसीको अटूट बनाये रखनेकी चिन्तामें डूबे रहते हैं। इनमेंसे कोई यह नहीं चाहता कि इनके परिवारका कोई सदस्य इनके बंधनसे छूट जाये या ये किसीके बंधनसे मुक्त हो जायें। ये अपनेसे सम्बन्ध रखनेवालोंके साथ एक दूसरेको बन्धनमुक्त न होने देनेवाला वर्ताव करते हैं। ये समझते हैं कि यदि हमने कहीं इन बन्धनोंको छोड़ दिया तो मुक्ति यमराज बन कर हमको फाड़ खायेगी। ये लोग जीवनमुक्तिको यमराज मानकर उससे अपनेको बचाये रखनेके लिये भौतिक सुख देनेवाले साधनों और सब प्रकारके बंधनोंमें उलझे रहते हैं। इस बंधनजालमें फँसनेवालोंकी आँखोंके सामने सदा ही सांसारिक सुख, भोग, ऐश्वर्य, मान, यश, आमोद, प्रमोद और विलास वैभवोंका चित्तविमोहक चित्र टँगा रहता है। ये लोग उस काल्पनिक चित्रको अपनी आँखोंके सामनेसे कभी नहीं हटने देते। संसार-यात्रा प्रारंभ करनेवाले मनुष्ययात्रीको सोचना चाहिये कि इन लोगोंने नारायण बननेका उत्तरदायित्व और क्षमता लेकर आनेवाले मानवजीवनको कैसा तुच्छ काम सौंप दिया है ?

जैसे पतंग आगके आपातमनोरम आकर्षणमें आकर उसमें कूद

पड़ता है और राख हो जाता है, इसी प्रकार अमृतका पुत्र यह मनुष्य इस संसारकी मायामरीचिकाके भुलावेमें आकर भोगलिप्त नारकीय जीवन रूपी मौतको स्वीकार कर लेता है। मनुष्यको समझना चाहिये कि बाहरका संसार, सारे संसारको फँसानेके लिये मकड़ीके समान केवल अज्ञानका जाल पूरनेमें लगा हुआ है और आठों पहर इसी चिंतामें व्यग्र है कि किसी प्रकार औरोंको अपने बन्धनजालमें फाँसूं। यदि कोई मनुष्य अपनेको संसारके जालमें बँध जाने या बहावमें बह लेने देगा, तो क्या वह कभी भी बन्धनको छोड़ कर मुक्तिका विमल उत्कृष्ट आनन्द पा सकेगा? वह प्रत्येक बंधनमें बँधेगा, प्रत्येक बहावके साथ बहेगा, और प्रत्येक झोकेके साथ उड़ेगा! ऐसे अस्थिर तथा परप्रत्ययनेयबुद्धि मनुष्यके लिए बाहरके संसारने जिस प्रकारकी सफलताकी कल्पनाकर रक्खी है, विचारदरिद्र मनुष्य उसीके पीछे पीछे हो लेता है। यदि वह ऐसा न करके क्षणभरके लिए खड़ा हो जाय और अपने आपसे यह प्रश्न करे, कि हे हमारे स्वरूप! हमें बताओ कि हमारी शांति किसमें है? हमारे जीवनधारण का अभिप्राय क्या है? तो उसका आत्मकल्याण हुआ रक्खा है। यदि हम अपने वास्तविक स्वरूप चिन्मय देहके लिए अनात्मसंसारमेंसे रुचिकर आहार ढूँढनेकी भूल न करें और उस आहारको अपने भीतर अपने ही आत्मलोकमेंसे ढूँढनेका निश्चय कर लें तो हमें अमृत मय ज्ञानालोकका दर्शन अवश्य हो जाय। फिर हमारी आँख बन्द-करके प्रवाहोंके साथ बह निकलनेवाली अवस्थाका सदाके लिए अन्त हो जाय और हमें अपने ही भीतर नृसिंहपनेका दर्शन होकर किसीका साथ या अनुगमन करनेकी अवस्था शेष न रहे। तब हम अकेले ही सिंहके समान अपने कल्याणमार्गपर आरूढ होकर ज्ञाना-लोकके दिखाये स्वतंत्र मार्गपर धैर्य और दृढता से विचरण करने लगें।

अपना मार्ग स्वयं निर्णय न कर सकना मनुष्यके मनकी दयनीय अवस्था है। स्वयं स्वमार्ग निर्णय न कर सकना ही परतंत्रता या

बन्धन है। स्वमार्गनिर्धारण न कर सकना ही मनुष्यके सब दुःखोंका मूल कारण है। ऐसी स्थितिसे विचारपूर्वक बचकर रहना ही विचारकी कुशलता है। विचारकी यह कुशलता तब ही सदा बनी रह सकती है, जब हम सुखके स्वरूपको भले प्रकार समझ चुके हों। सुखके स्वरूपको पहलेसे समझे बिना विचारकी कुशलता रह ही नहीं सकती। परन्तु इसीके साथ सुखका यह सुसमाचार मनुष्यके लिए बड़ा ही उत्साहप्रद है कि हमारे आसपासकी परिस्थितिमें सुख और शांतिका महासागर मनुष्यकी प्रतीक्षा में भरा खड़ा है। सुख या शांति सर्वव्यापक तत्त्व है। आवश्यकता सुख-शांतिके इस विराट भंडारको खोज निकालनेवाली आँखोंकी है। हमें इस संसाररूपी पाठशालामें आकर यही सीखना है, कि हम इस सर्वव्यापक सुख किंवा सर्वव्यापक शांतिको कैसे अपनायें? मनुष्य शुभ-चिन्तनसे ही सर्वव्यापी सुख और शान्तिको अपनासकता है। जैसे ध्वनिसंग्राहक यंत्र आकाशव्यापी सूक्ष्म शब्दोंको पकड़ता और उसे श्राव्य रूप दे देता है इसीप्रकार सर्वव्यापी सुखशान्ति शुभचिन्तनसे ही मनुष्यकी पकड़में आती और उसका भोग्य बनती है। हमारे आस-पास भरे हुए इस शाश्वत सुख तथा शान्तिको वे ही लोग ग्रहण कर सकते हैं, जिन्हें सदा प्रसन्न रहनेकी कला हाथ आ जाती है। इस कलाको सीखनेके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम यही है, कि हम अपने हाथमें आये हुए वर्तमान साधनोंका ठीक ठीक और पूर्ण उपयोग कर लें। कहीं ऐसा न हो कि हम भविष्यके अप्राप्त और अनावश्यक साधनोंकी ओर निहारते रह जायँ और इसी झगड़ेमें अपने प्राप्त साधनोंका पूरा पूरा उपयोग न कर सकें। भविष्य साधनोंकी प्रतीक्षा न करके वर्तमान साधनोंके उचित तथा पूर्ण उपयोगमें ही मनुष्यजीवनकी सफलता है। इस सफलताको प्राप्त करानेकी शक्ति शुभचिन्तनमें ही है। बाह्य जगतकी समस्त प्रतिकूल उत्तेजनायें इस शुभचिन्तनके ऊपर प्रत्येक समय आक्रमण करती रहती हैं। हमारे सामने मार्गसे गिर जानेके बहुतसे प्रतिकूल प्रलोभन और सम्मति

आती रहती हैं। परन्तु प्रसन्नताकी बात यही है कि हमारे भीतर इन सारी उत्तेजनाओंको अपने आत्मबलसे परास्त कर देने और अपनेको उन सबके विरुद्ध अविचलित रखनेकी अनन्तशक्ति भरी पड़ी है। यह ऐसी शक्ति है कि कभी किसीसे हार नहीं मानती। आवश्यकता केवल इस बातकी है, और सौभाग्य भी इसीमें है कि हम इस शक्तिसे काम लेना सीखें। यदि हम इस शक्तिसे काम लेना सीख लें तो हमें बाहरके प्रलोभन मार्गसे विचलित न कर सकें। प्रत्येक समय अपनी इस शक्तिका दर्शन करते रहना ही विचारकी कुशलता है। अपनी इस अन्तर्निहित अनन्त शक्ति या महाशक्तिका दर्शन कर लेना ही मनुष्यजीवनका लक्ष्य है। यह लक्ष्य स्थिर हो जानेपर हम स्वभावसे सदा बहती रहनेवाली चिन्ताधारा को अपने जीवनका एक अत्यंत उपयोगी भाग बना सकेंगे। यदि हम अपने भीतर भरी हुई इस शक्तिको नहीं समझ पायेंगे तो हमारा जीवन मेलेकी भीड़में भरमाये कुत्तेके समान किसी भी चिन्ताके साथ बह निकलनेवाला एक निरुपयोगी जीवन हो जायगा।

हम सबको अपने जीवनको सार्थक करनेके लिये यह समझ जाना चाहिये कि हम इस संसारमें यहाँके इन मनोहर पदार्थोंसे संबन्ध स्थापित करने या इनमेंसे कुछको अपनाते रहनेके लिये नहीं आये। हमारे यहाँ आनेका केवल एक अभिप्राय है कि हम अपने मनोंको बहकानेवाले इन मनोहर पदार्थोंके धोकोंको पहचानें तथा इनसे किसी भी प्रकारका स्नेह संबन्ध न जोड़ें, किन्तु हमारा संबन्ध जिस पदार्थके साथ स्वाभाविक रूपसे जुड़ा हुआ है, उसका दर्शन कर लें।

प्रश्न होता है कि फिर ये भोग्य पदार्थ क्यों बनाये गये? हम इन पदार्थोंका उपयोग किस प्रकार करें? इसका उत्तर यही है कि जैसे हमारे लिये रोगोंका यही उपयोग है कि हम स्वास्थ्यके नियमों को पाल कर निरोगताका आनंद लेते रहें, जैसे पहले स्वास्थ्यके

नियमोंका भंग करके रोगी होकर पहले रोगका और फिर उसकी चिकित्साका अनुभव लेते रहना रोगका सदुपयोग नहीं है और यह कोई बुद्धिमत्ता भी नहीं है। इस प्रकार हमें इन मोहक पदार्थोंका केवल यह उपयोग करना चाहिये कि हम अपने मनको शुभचिंतनों के सहारेसे जगत्के मोहक पदार्थोंसे मोहित होनेसे बचाते रहें। हम अपने मनको इनसे कदापि अशांत न होने दें और शांतिके सच्चे अधिकारी बने रहें। यदि कोई मनुष्य आत्मरक्षाके साधन खड्ग आदिसे आत्मघात कर बैठे तो कहना होगा, कि उसने उसे साधन रूपसे उपयोगमें न लाकर उसका विपरीत उपयोग किया और मृत्युको बुला लिया। इसी प्रकार ये सब धन माल आदि पदार्थ त्याग के साधनके रूपमें प्रयोग करनेके लिये बने हैं। भोग ही संसारका एकमात्र मार्ग नहीं है। त्याग भी जीवनका एक प्रशस्ततम मार्ग है। त्याग भोगसे बहुत ऊँचा मार्ग है। त्याग भी संसारका भोग जितना ही पुराना मार्ग है। भेद केवल इतना है कि भोग निम्न श्रेणीके लोगोंका अपनाया हुआ मार्ग है जब कि त्याग देव-श्रेणीके लोगोंका अपनाया सम्मानित मार्ग है। भोग कष्टपूर्ण मार्ग है, जब कि त्याग महासुखदायी सुंदर मार्ग है। भोग अस्वाभाविक अतृप्तिजनक अशान्त्युत्पादक मार्ग है जब कि त्याग स्वाभाविक शान्तिदायक तथा तृप्तिकारक है। इसलिये हमें सांसारिक पदार्थों को त्यागके काममें लाना चाहिये। उदाहरणके रूपमें सांपके हमारे सामने आनेपर हम उससे अपनेको कटवा भी सकते हैं और उससे बच कर भी जा सकते हैं। इसी प्रकार पदार्थोंके हमारे सामने आने पर वे भोगे भी जा सकते हैं और त्यागे भी जा सकते हैं। हमारे सामने ऐसी कोई विवशता नहीं है कि हम उन पदार्थोंको भोगें ही भोगें और उन्हें त्याग न सकें। जैसे सांप आदिसे न बचना केवल सुपनेके संसारमें ही संभव है, इसी प्रकार विषयविषसे न बच पाना अज्ञानकी अवस्थामें ही संभव है। मनुष्य अज्ञानावस्थामें ही विषयोंको भोगनेकी विवशतामें फँसता है। सचेत मनुष्यको इनके

त्यागनेसे ही शांतिके दर्शन मिलते हैं। विषयत्यागसे दूसरा शांति के दर्शन करनेका कोई मार्ग नहीं है।

जब हम इन पदार्थोंका त्यागमें उपयोग न करके इनको भोगोंके काममें लाने लगते हैं, तब हम अपनी बड़ी हानि करते हैं। तब हम अपने लक्ष्य शान्तिको खो बैठते हैं। यह कहा जा चुका है, कि हमारे हृदयकी सबसे अन्तिम सबसे गंभीर ज्ञानपूर्ण मांग अभाव-शून्य पूर्ण अवस्थाको पाना है। संसारके सबके सब भोग्य पदार्थ उस पूर्ण अवस्थाको प्राप्त करानेके लिये ही बनाये गये हैं। वह इस प्रकार कि यह अभावशून्य पूर्ण अवस्था इन पदार्थोंके गर्भमें निहित नहीं है, क्योंकि यह अवस्था इन पदार्थोंके भोगसे प्राप्त होनी असम्भव है। इस अवस्थाको पानेका केवल यह उपाय है कि मनुष्य विषयभोगकी संभावनाके आते ही धीरजसे काम ले और इन पदार्थोंकी पूरी पूरी उपेक्षा करे। इसलिये करे कि विषयों की पूर्णोपेक्षाही शान्तिकी माता है। अभावशून्य पूण अवस्था सांसारिक पदार्थों की उपेक्षासे ही पाई जा सकती है। पूर्ण अवस्था प्राप्त करानेमें इन पदार्थों का यही उपयोग है कि इन अभावबोधक भोग्य विषयोंको त्याग त्यागकर पूर्णताको पाया करे। मनुष्यको इन पदार्थोंके त्याग देनेसे जो शान्त अवस्था प्राप्त होगी भोग से वह उसे लाख सिर पटकनेपर भी कभी नहीं मिलेगी। भोगोंको अपनाते रहनेसे तो हमें उसी शान्त अवस्थासे वंचित रह जाना पड़ेगा जिसे हम पाना चाहते हैं और जिसे पानेके ही लिए यहाँ आये हैं।

यदि मनुष्य नयनसुन्दर वस्तुको देखकर मुग्ध हो जायगा तो वह अपनी महती हानि कर बैठेगा। उसे उस मिल सकनेवाली शांतिसे हाथ धो लेना पड़ेगा जिसे भोगनेके लिए ही वह इस संसार में आया है। यदि वह मुग्ध न होकर धीरज धारण करेगा तो उसे एक अपूर्व अद्भुत शान्ति मिलेगी। संसार भरके सुन्दर रूप ईश्वरके प्रबन्धानुसार हमें उसी शान्तिका अनुभव करानेके लिए शान्तिके विरोधी साधन बन बनकर हमारे सामने आते हैं। सुन्दर रूप हमारे सामने

इसलिए नहीं आते, कि हम सुन्दर रूपके मोहमें फँस जाँय और अपनी मानवोचित शान्तिको खोकर अशान्त हो जाँय।

संसार के भयंकर पदार्थ हमारे सामने इसलिये नहीं आते कि हम उनसे डर जायँ और अपनी निर्भयता नामक शान्ति को तिलांजलि दे बैठें, किन्तु इसलिये आते हैं कि तब हम अपने चित्त को भयसे व्याकुल न होने देकर निर्भयता नामवाली पूर्णताका आनन्द लें।

ललचानेवाले पदार्थ हमारे सामने इसलिये नहीं आते कि हम उनके फँदेमें फँस कर निर्लोभतारूपी शान्तिसे वंचित हो जायँ किन्तु इसलिये आते हैं कि हम उनके लालचके वश न होकर निर्लोभता नामकी पूर्णताके विमल आनन्दको भोगें।

क्रोध दिलानेवाली घटना हमारे सामने इसलिये नहीं आती, कि हम क्रोधके वशमें आकर अपने विचार और शक्ति दोनों खोकर कर्तव्यभ्रष्ट हो जायँ। किन्तु इसलिये आती है कि हम ऐसी उत्तेजनाके अवसरपर अक्रोध रहकर अपने विचार और शक्ति दोनोंका ठीक-ठीक उपयोग करके कर्तव्यपरायणतारूपी पूर्णतामें रहते हुए सन्तोषलाभ कर सकें।

यशके अवसर हमारे सामने इसलिये उपस्थित नहीं होते कि हम दूसरोंकी निन्दा-स्तुतिके क्रीत दास (गुलाम) बनकर अपने लक्ष्यको भूल जायँ और अपनी स्वतन्त्रता खो बैठें। किन्तु इसलिये आते हैं—हम निरभिमान और निरपेक्ष होकर अपने लक्ष्यपर स्थिर रहना सीखें।

सारांश यही है कि भोग्य पदार्थ प्रलोभनोंसे बचनेका पाठ पढ़ानेके लिये, घटनायें उत्तेजनामें न आकर शान्त रहनेकी कला सिखानेके लिये, ऐश्वर्य अपने प्रलोभनसे बचे रहनेका कौशल सिखानेके लिये, सर्प अपना भय छुड़ानेके लिये, रूपवान पदार्थ अपनी आसक्तिका त्याग करानेके लिये बने हैं और ये सब इसी कामके लिये हमारे सामने आते हैं। इस ढंगके और भी जितने पदार्थ मान-

वेन्द्रियोंके सामने आ रहे हैं, वे सबके सब उसे शान्तिका जीवित पाठ सिखानेके लिये ही दिनरात आ रहे हैं।

ये सबके सब पदार्थ हमारी आँख, नाक, कान और मन आदि इन्द्रियोंको उत्तेजित कर करके हमारा आह्वान किया करते हैं कि हे मनुष्य ! यदि तू सच्ची शान्तिका प्यासा हो तो हमें त्यागकर शान्तिका विमल आनन्द ले। त्यागमें ही संसारके पदार्थोंका सदुपयोग होता है। शान्तिका यही सनातन नियम है कि वह भोग्य पदार्थोंको भोगना त्यागनेसे ही मिला करती है। जैसे सीडीके डण्डोंपर पैर रख-रखकर उन्हें त्याग त्यागकर ही ऊपर चढ़ा जा सकता है, जैसे सीडीके डण्डोंको पकड़े रहकर ऊपर चढना असंभव होता है, इसी प्रकार हमारी आँखोंके सामने संसारके पदार्थ आनेपर हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम उन्हें अपने मनमें न बैठने दें, किन्तु उन्हें त्यागें और त्यागकर त्यागलभ्य पुरस्कारके स्वरूपमें सत्यका सम्पूर्ण दर्शन करें। तब ही हमें हमारा शान्तिरूपी लक्ष्य मिल सकता है। यदि हम इन पदार्थोंसे चिपटे रह जायँगे तो अपने प्रियतम इस शान्तिरूपी लक्ष्य तक कदापि नहीं पहुँच सकेंगे, जिसके लिये हम यह जीवनयात्रा कर रहे हैं, तथा जो हमारी चिन्ताका मुख्य लक्ष्य है। शान्तिको पा लेना ही हमारी चिन्ताका लक्ष्य है। परन्तु ध्यान रहे कि पदार्थोंसे दूर हटकर रहना ही उन्हें त्यागना नहीं है, किन्तु उनसे अकर्तव्यका सम्बन्ध त्यागकर कर्तव्य या सदुपयोगका संबन्ध जोड़े रखना ही उनको त्यागनेका तात्पर्य है।

अपने मनमें मनोमोहक और विचलित कर देनेवाले पदार्थोंको स्थान दे देना ही अशुभ चिन्तन कहता है। अपने आपको इन अशुभ चिन्तनोंके आक्रमणोंसे बचाये रखनेका एकमात्र उपाय शुभचिन्तन ही है। शुभ चिन्तनका स्वरूप पहले बताया जा चुका है कि मेरे पास अमुक अमुक पदार्थ नहीं है, इस प्रकारके अभावबोधको कभी अपने पास न आने दिया जाय और शान्तिका अखण्ड दर्शन किया जाय। अपने मनमें प्रत्येक समय इस भावनाको स्थिर

रक्खा जाय कि हमारे पाने योग्य पदार्थ हमारे पास प्रत्येक समय विद्यमान हैं। जो पदार्थ हमारी जीवनयात्राके लिए आवश्यक हैं, वे हमारे पाससे कभी हट ही नहीं सकते। हमारे पाससे केवल वे पदार्थ हटते हैं, जिनकी हमें कोई आवश्यकता नहीं होती। जो पदार्थ हमारे पास नहीं हैं, वे ईश्वरीय प्रबन्धसे ही नहीं हैं। हमारे विधाताकी दृष्टिमें उन पदार्थोंके हमारे पास न होनेमें हमारी कोई भलाई है। जो पदार्थ हमारे पाससे हटते हैं, वे भी ईश्वरीय प्रबन्धसे ही हटते हैं। हमारे प्रयोजनके सब पदार्थोंकी व्यवस्था हमारे जन्मसे पहले मातृस्तनमें दुग्ध आदिके रूपमें कर दी जाती है। जल, वायु आदि जीवनोपयोगी पदार्थ विधाताके विधानसे हमारे पास आ ही रहे हैं और आते रहते हैं। हमारे सुखी जीवन बितानेका एकमात्र उपाय यही है कि हमें ईश्वरीय प्रबन्धके दिये पदार्थोंके अतिरिक्त जिन पदार्थोंकी ईच्छा होती हो हम उन सब को अनावश्यक समझ लें। हमें यह सचाई दीख जानी चाहिये कि हमारे चारों ओर फैली हुई ईश्वरकी अनन्त शक्ति हमें जिन पदार्थोंकी आवश्यकता होती है, उनको ला-ला कर हमारे पास इकट्ठा करती रहती है और वही शक्ति उन पदार्थोंको हमारे पाससे हटा ले जाती या हटाती रहती है।

यदि हम ईश्वरकी इस प्रबन्धपद्धतिको पहचान सकें तो हम संसारके सब दुखों से त्राण पा जायँ। तब हमें शान्तिका अखण्ड दर्शन होने लगे। जिन पदार्थोंकी प्राप्तिमें अभावबोध होता रहता है और जिन पदार्थोंकी प्राप्ति हो जानेपर वियोगका भय चुभने लगता है, वे सब पदार्थ असत्य माने जाते हैं। असत्यकी प्राप्तिमें अपना बुद्धिबल व्यय कर डालना मनुष्यके विचारकी शून्यता है।

हम यह जानें कि अपने लक्ष्यपर स्थिर रहनेकी अडिग शक्ति प्राप्त हो जाना ही इस जीवनमें पाने योग्य केवल एक वस्तु है। हमें इस शक्तिकी प्राप्तिके लिए विचारोंको शुभ रखना पड़ेगा और अपने चिन्मय सत्य देहकी रक्षा करते रहना पड़ेगा। हमें प्रत्येक समय

पवित्रताका श्वास लेते रहना होगा। प्रत्येक समय पवित्रताका श्वास लेते रहनेसे ही हमारे चिन्मय सत्य देहकी रक्षा होती है। यही मनुष्यकी पूर्णताकी अवस्था है। मनुष्य पूर्णताकी इस अवस्थाको प्राप्त कर चुकनेपर अनन्त जीवन प्राप्त कर लेता है। तब उसका नित्य रूपमें अवस्थान हो जाता है। अपने अनित्य दैहिक रूपमेंसे बाहर निकलकर उस नित्य रूपको प्राप्त कर लेना ही मनुष्यताका अन्तिम लक्ष्य है। यही जीवनका तथ्य है। यही अमरत्व है। यही निर्भयताकी अवस्था है। यही शान्ति है। यही कामनाशून्यता है। यही समस्त मानवीय आशाओंकी पूर्ति है। यही उत्थान है, यही सफलता है। यही शक्ति है। उसीका नाम सत्य, आत्मा, या परमात्मा है। इस उदार लक्ष्यको इस मांस देहसे सम्बन्धको अस्वीकार करके नाहं देहःकी रट लगाकर ही प्राप्त किया जा सकता है। अशुभचिन्तन मनुष्यको सदाही दैहिक बन्धनोंके साथ बाँधे रखता है, इस मांसमय देहको अपनानेवाला अशुभचिन्तन तो हमारा विनाशी रूप है। हमारा अनुभव इस बातका साक्षी है कि यह देह प्रत्येक क्षण नष्ट हो रहा है। इसकी प्रत्येक क्षण मौत हो रही है। इसका रहना ही मूर्तिमती मृत्यु है। अशुभचिन्तनका ही नाम भय है। इसीका नाम अशान्ति है। इसीका नाम कामना है। इसीका नाम नैराश्य है। इसीका नाम पतन है। अशुभ चिन्ता ही अकृतकार्यता है और अशुभ चिन्ता ही दुर्बलता है। अशुभचिन्ता ही भूत पिशाच और शैतान है। अशुभ चिन्ताके साथ पूरा पूरा असहयोग करना ही पूर्ण स्वतंत्रता कहाती है। अन्तमें कभी न कभी प्रत्येक मनुष्यको यही स्वतंत्रता अपनानी पड़नी है। इसे अपनाये बिना मनुष्यका निस्तारा नहीं होना है। इसलिए प्रत्येक विचारशीलका अशुभचिन्ताके साथ युद्ध ठन जाना चाहिए। हमें इस पूर्ण स्वतंत्रताको पाने अर्थात् अशुभ चिन्तासे स्वतंत्र होनेके लिये यह समझ लेना चाहिए कि जो सत्य है, वह तो हमारे पास ही है। हममें उसका तो कभी अभाव हो ही नहीं सकता। जो मनुष्य इस प्रकारकी विचारशक्तिको अक्षुण्ण

बनाये रखता है, वही शक्तिमान है। जिस पुरुषमेंसे यह विचार-शक्ति लुप्त हो जाती है, उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह दुर्बल हो जाता है। मनमें इस प्रकारकी दुर्बलता आने देना ही अशुभ चिन्तनका मूल है। विचारोंकी हीनता ही अशुभचिन्तन है। यही अशुभचिन्तनोंका एकमात्र अभिप्राय है। असत्को सत् समझ लेना और उसमें फँस जाना विचारोंकी हीनता है।

इस जगत्के कृपालु विधाताने हमें असत्को सत् समझ लेनेकी इस भ्रान्तिसे आत्मरक्षा करना सिखानेके लिए दो साधन दिये हैं—एक तो उसने हमें विचार करनेकी शक्ति दी है दूसरे उसने हमें भ्रान्तिसे बचानेके लिए साधनके रूपमें यह अद्भुत रचनाचातुरीवाला देह नामका क्षणभंगुर असत् पदार्थ दिया है। यह देह प्रत्येक क्षण विनष्ट होता चला जा रहा है। इसपर प्रत्येक क्षण चारों ओरसे विनाशके घातक प्रहार हो रहे हैं। यह जब बढ़ता दिखाई देता है तब भी विनाश की ओर चलता जाता है। इसमें आनेवाले परिवर्तनों को स्वास्थ्य, यौवन या जरा कुछ भी कहो, परन्तु यह निश्चित है, कि देहकी गति ध्वंसकी ओर है। यह मूर्तिमान् असत्य है। इतना सब होनेपर भी देहका मानव जीवनमें महत्वपूर्ण स्थान है। देह ही मनुष्यको सत्यका पाठ सिखानेवाला ज्ञानग्रन्थ है। यह सम्पूर्ण सृष्टि हमें त्यागका पाठ पढ़ा देनेके लिये बनाई हुई एक बड़ी लम्बी चौड़ी पुस्तक है। यह हमारा देह उसी बड़ी पुस्तकका एक छोटा संस्करण (जेबी गुटका) है। इस शरीरका निर्माण ऐसे अद्भुत ढंगसे हुआ है कि संसारमें जितने मुख्य-मुख्य पदार्थ विस्ताररूपसे हैं, वे सबके सब चुन चुनकर इस शरीरमें संक्षिप्त रूप दे देकर रक्खे हुए हैं। संसारमें सूरज है तो इस देहमें आँख है। संसारमें वायु है तो इस देहमें प्राण है इत्यादि। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश नामक पंचभूत तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द नामक जो गुण संसारमें अपना अपना विशाल रूप ले लेकर रह रहे हैं, वे सब इस देहमें संक्षिप्त रूपोंमें हैं। क्षुद्रकाय मनुष्यके लिए

संसाररूपी बृहत् पुस्तकमेंसे त्यागका पाठ पढ़ लेना असम्भव था। यह मानव देह उसे उसी कठिनतासे बचा देनेके लिए अद्भुत कौशलके साथ बनाया गया है। हमें त्यागका जो पाठ सारे संसारमेंसे पढ़ना था, वह सब हम इस क्षुद्र देहमेंसे पढ़ सकते हैं और चमत्कार यह होता है कि हमारा देहमें पढ़ा त्यागका पाठ सारे संसारमें लागू हो जाता है। जैसे कोठरी में बैठकर पढ़ाया गया दिशाओंका पाठ सारे संसारमें लागू हो जाता है, इसी प्रकार देहमें पढ़ा हुआ त्यागका पाठ सारे संसारमें लागू हो जाता है। हम जिन नियमोंको इस देह-पर लागू कर लेते हैं, वे सब नियम सारे संसारमें लागू हो जाते हैं। यह देह हमें हमारे शुभचिन्तनोंके साधनके रूपमें मिला है। हमें जिस त्यागको संसारभरपर लागू करना है उसे हम देहपर लागू कर लें। वह हमारा दैहिक त्याग ही संसार भरका त्याग बन जानेवाला है। इस देहके क्षणभंगुर रूपको अपने विचारमें लाते रहनेसे ही इस देहका सच्चा उपयोग होता है और देहकी क्षणभंगुरताके ध्यानसे ही संसारकी क्षणभंगुरता भी हमारे ध्यानमें अनायास आ जाती है।

यदि हम इस शरीररूपी साधनका ठीक-ठीक उपयोग कर लें, तो हम संसारके रूप, रस आदि सब पदार्थोंका दुरुपयोग करनेसे स्वयमेव बच जायें। यदि हम इस अनित्य देहसे अपना मोहात्मक सम्बन्ध तोड़ लें, तो हमारे शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त भोग्य पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध स्वयमेव टूट जाय। बाह्य पदार्थ हमको तब ही प्रभावित कर सकते हैं, जब कि हम इस देहको सत्य तथा हमसे कभी वियुक्त न होनेवाला पदार्थ मान लेते हैं। यदि हम इस देहको सत्य मानना छोड़ दें तो संसारका कोई भी पदार्थ हमें प्रभावित न कर सके। देहको असत्य मानते ही संसारके पदार्थोंसे हमारा सम्बन्ध स्वयमेव टूट जाता है। भाव यही है कि इस देहरूपी गुटकेमें त्यागका सम्पूर्ण निचोड़ सन्निहित है। हम देहमें त्यागका पाठ पढ़ लेनेपर देखेंगे कि यह विश्वरूपी साराका सारा ज्ञानग्रंथ हमने पढ़ डाला। फिर हम साश्चर्य देखेंगे कि संसारका कोई भी

पदार्थ हमारा अनधीत नहीं रहा और हम पूर्ण पंडित हो गये ।

इस प्रसंगमें यह कदापि अभीष्ट नहीं है कि इस शरीरको अनित्य समझकर इसकी उपेक्षा की जाय या इसे नष्ट होने दिया जाय। जैसे हम पुस्तक फाड़कर पाठ सीखनेसे वंचित रह जाते हैं, इसी प्रकार हम अपने देहकी उपेक्षा या दुरुपयोग करके (अर्थात् इस देहको संसारी धन मान और भोग आदिका साधन बन जाने देकर इसे निकम्मा बनाकर) अपने आपको ज्ञान प्राप्त करनेसे वंचित कर लेते हैं। यह शरीर त्यागरूपी स्वर्ग तक पहुँचनेके लिए सीढ़ीके रूपमें हमारे पास ईश्वरकी धरोहर है। यह हमारे पास भोगके कीड़े शैतानकी थाती नहीं है। अतः इस शरीररूपी सीढ़ीको पुष्ट तथा कार्यक्षम रखना भी हमारा परम कर्तव्य है। हमें यह नहीं भूलना है कि विदेह होकर देहको काममें लाते रहनाही सेवा है और ऐसी सेवाके लिए इस शरीरको सेवा करनेके योग्य बनाये रखना भी सेवा हीके अन्तर्गत है। हमें इस शरीरको ईश्वरकी दी हुई धरोहर समझकर इसे स्वस्थ रखना है और स्वस्थ रखते हुए ही त्यागका पाठ पूरा पूरा पढ़ना है। इस कामके लिये हमें अपनी चिन्ताधराको इस प्रकार बहाना है कि हम सत्यका दर्शन करानेवाले इस शरीररूपी साधनका सदुपयोग करके प्रत्येक क्षण विदेह अवस्थामें अटल रह सकें। चिन्ता करनेका मुख्य अर्थ यही है कि हम अपनेको निष्कंटक करके अपना संताप दूर हटा दें। कंटकोंके रहने तक कंटक लगनेसे संताप होता ही रहता है। उस संतापको हटानेके लिये चिन्ता स्वभावसे होती है और होनी ही चाहिये। जब कि मनुष्य चिन्ता नामकी इस ईश्वरीय देनको साथ लेकर ही जन्म ग्रहण करता है, तब समझ लेना चाहिये कि हमारे मनमें कुछ कंटक चुभ रहे हैं। यह हमारी चिन्ता किन्हीं कंटकोंसे उत्पन्न होनेवाले संतापसे हो रही है और उस सन्तापको हटानेके लिये हो रही है। मनुष्य इन दो बातोंको पहचानकर कि वह कंटक कौनसा है? और वह संताप क्या है? संतापहीन और शान्त बन सकता है। हमारे साथ यह चिन्तामाता हमें सन्तापहीन शान्त

बनानेके लिये लगी रहती हैं। जब भौतिक देहमें कोई काँटा चुभता है तब उसे भौतिक साधनोंकी सहायतासे निकाला जाता और देहको सन्तापहीन किया जाता है। परन्तु यह सबका सब भौतिक जगत् हमारे शुद्ध मनरूपी चिन्मय देहमें चुभनेवाला काँटा बन-बनकर हमारे सामने आता रहता है। यह प्रत्येक समय हमारे शुद्ध मनमें काँटेके समान चुभता और करकता रहता है। यह हमारे मनपर अधिकार कर लेना चाहता है। इस कंटकको किसी भी भौतिक साधनसे हटा सकना असंभव है। इस विश्वको भौतिक साधनोंकी सहायता लेकर नष्ट कर सकना और यों अपने शुद्ध मन-रूपी चिन्मय देहको निष्कंटक कर लेना, किसी भी प्रकार संभव नहीं है। जब कि यह विश्व किसी भी भौतिक साधनसे नष्ट नहीं होता है तब इसका यह अर्थ होगा कि मनुष्यका चिन्मय देह कभी भी निष्कंटक नहीं बन सकेगा। इस अवस्थामें तो चिन्मय देहमें सदाही काँटे चुभते रहेंगे। इसलिये शांतिकामी मनुष्यको इस संसाररूपी काँटेके रहते ही रहते शांतिका मार्ग ढूँढना होगा। उपेक्षा ही शांतिका एकमात्र राजमार्ग है। मनुष्यको इस संसाररूपी काँटेकी उपेक्षामें ही अपना समस्त बुद्धिकौशल लगा देना है उसे तब ही शांति मिलनी है। किसीने ठीक ही कहा है—चिदङ्गे कोमले लग्नो दैवादज्ञानकण्टकः। तं बोधकण्टकेनायं विनिवार्य सुखं स्थितः।

इसके अतिरिक्त इस संसाररूपी काँटेको आँखोंके सामनेसे हटा देनेका काम आत्माके जन्मधारण करनेके उद्देश्यसे बाहरका या विपरीत है। आत्मा विश्वस्रष्टा है। उसने इस विश्वको गूढ अभिप्राय से जान-बूझकर बनाया है। उसके विश्व बनानेका एक विशेष अभि-प्राय है। जिसे प्रत्येक विवेकीको खोजना है। विश्वका स्रष्टा चाहता है कि मैं इस विश्वको साधन बना बनाकर अपने स्वरूपका दर्शन किया करूँ। उसका यह अभिप्राय नहीं है कि मैं इस विश्वके भौतिक अस्तित्वको मिटाकर या इसे आँखोंके सामनेसे हटाकर आत्मस्व-रूपको निष्कंटक करूँ। उसने तो इस भौतिक जगतको बार बार

ज्ञानाग्निमें भस्म कर करके अनन्त देहोंमें अनन्त मार्गोंसे सदा अपने स्वरूपका दर्शन करते रहनेके लिये ही अनन्त भौतिक देह धारण किये हैं और इस काममें सहायता लेनेके लिये इस सब सृष्टिको बनाया है। हमें इस प्रसंगमें यह नहीं भूलना है कि हमारा शुद्ध मन ही हमारा स्वरूप और स्रष्टा है। हम अपनी विचारशक्तिके द्वारा इस सब सृष्टिका और अपने देहोंका यही उपयोग कर सकते हैं, कि ये सब हमारे सामने आकर हमारे शुद्ध मनमें अशुद्धता उत्पन्न न कर सकें। अर्थात् हम प्रत्येक समय इतने सावधान रहें कि हमारी आँखोंके सामने आनेवाले पदार्थ हमें भोगनिमन्त्रण न दे सकें और हमें आत्माकी सतत चिन्तासे वंचित न कर सकें। अशुद्धता उत्पन्न होनेके प्रत्येक अवसरको नष्ट कर करके आत्मदर्शन किया करें। अपने मनमें किसी प्रकारके अभावबोधको जागने देना ही मनमें अशुद्धता उत्पन्न होने देना है। अपनेमें किसी भी ढंगकी अपूर्णताको स्वीकार कर बैठना अभावबोध कहाता है।

सब समय स्मरण रखना चाहिये कि पूर्णता ही हमारा स्वरूप है। अपूर्णता नामकी अवस्था आत्मतत्त्वको भूलनेवाली पतितावस्था है। मनुष्य अपने स्वरूपको भूलकरही अपूर्णताका अनुभव करता है। विश्वात्माको पूर्णत्वके दर्शनकी धुन लगी हुई है। वह इसी कामके लिये अनादिकालसे अबतक अनन्तवार सृष्टि बना चुका है। विश्वका आत्मा इस अपनी पूर्णताका संरक्षक बननेके लिये ही इस चिन्तारूपी संपत्तिको साथ लेकर देहोंमें आता है। हमारे आत्माके पास इस अपनी पूर्णताका संरक्षक बने रहने तथा इसका दर्शनानन्द लेते रहने अतिरिक्त और कोई काम नहीं है। हमारी चिन्ता हमारे भीतर आठों पहर जागती रहती है और हमारी पूर्णताकी रक्षा करनेके लिए पहरा देती रहती है। जैसे सागरकी ऊँचोसे ऊँची तरंग परिपूर्ण घड़ेको एक बिन्दुमात्र जल दानरूपसे स्वीकार करानेमें असफल हो जाती है और जैसे परिपूर्ण घडा अपनी पूर्णताके द्वारा अनक्षर भाषामें सागरको यही उत्तर देता है कि हे

सागरराज! देखलो हम तुम्हें केवल इसी काममें लाते हैं कि तुम्हें अपनी पूर्णता या अनावश्यकता दिखाकर तुम्हारे हमें कुछ दे सकने के अभिमानको व्यर्थ कर दें। जबकि घड़ेमें अपूर्णता या शून्यता नहीं है, तब सागरकी अनन्त जलराशि भी उस की पूर्णताकी चिन्ता-धाराको नहीं हटा सकती और उसमें अपूर्णता या शून्यता उत्पन्न नहीं कर सकती। उसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण घड़ा अपनी पूर्णता को किसीसे भी यहाँतक कि महासागर तकसे भी न्यून मानने को उद्यत नहीं होता। इसी प्रकार हमारे आत्माकी स्थिति है। वह अपनी पूर्णताको लेकर ही घटघटमें बैठा है। वह इस संसार में कहीं से किसी वस्तुको उधारी लेकर अभाव या अपूर्णताको पूरा करनेके लिये संसारमें नहीं आया है। आवश्यकता मनकी इस पूर्णताको समझ जानेकी है। यदि हमें अपने मनकी पूर्णता समझनी हो तो उसे आत्माकी पूर्णताके रूपमें ही समझना होगा। आत्माकी पूर्णता ही हमारे शुद्ध मनकी पूर्णता है। मनुष्यको मिली हुई चिन्ताका मुख्य अभिप्राय यही है कि प्रत्येक समय पूर्णताकी इस बुद्धिको जगाये रक्खा जाय और इस बाह्य जगतके अनन्त प्रकारके आकर्षण और विकर्षणोंके साधनोंको अपने आपको आकृष्ट या विकृष्ट करनेमें सफल न होने देकर उन्हें व्यर्थ करते रहा जाय। यह बाह्य जगत मनुष्य के मनमें सदा भावनाओंका समुद्र पैदा करता रहता और उसमें ऊँची-ऊँची तरंगोंकी असंख्य मालायें बनाता रहता है। वे तरंगें आ आकर हमारे मनसे टकराती हैं और उसे विचलित करने अर्थात हममें शून्यता या अपूर्णताको उत्पन्न करनेके लिये अर्थात् हममें किसी प्रकारकी आवश्यकता या अभावबोधको जगा देनेके लिये जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मिलन-विच्छेद, संपद्-विपद् भोग-रोग, ऐश्वर्य दारिद्र्य तथा भौतिक स्वतन्त्रता या परतन्त्रता आदि विरुद्ध भावनाओंसे भरी हुई तरंगमाला बन बनकर हमारी चिन्ताका विषय हो होकर हमारे सामने आती रहती हैं। हमारे चिन्तानामके पहरेदार का यही कर्तव्य होना चाहिये कि वह हमें हमारे अस्तित्वके मुख्य

अभिप्रायको कभी न भूलने दे, तथा इन सब घटनाओंके घटते ही इन घटनाओंको हमारी पूर्णता दिखा दिखाकर सब बाह्य आक्रमणोंको निस्तेज और व्यर्थ करता रहे और यों अपने पहरेदारका कर्तव्य पालता रहे।

चिन्ता ईश्वरकी ओरसे नियुक्त किया हुआ मानव जीवनको सुमार्गपर रखनेवाला प्रहरी है। चिन्तानामके ईश्वरीय प्रहरीका यही पवित्र कर्तव्य है कि वह हमसे हमें घटा या बढ़ानेके लिये हमपर आक्रमण करनेवाले सारे भौतिक जगत्की उपेक्षा करावे और किसी भी बाह्य परिस्थितिको शुद्ध मनकी पूर्णताको बढ़ा सकने या घटा सकनेका अवसर या अधिकार न दे। परन्तु अपने प्रहरीको अपनी ही चिन्तामें व्यस्त रखना सबको नहीं आता। यह भी एक कला है। इस कलाको सीखनेकी एक तपस्या है। ऐसी शक्ति प्रत्येक मनमें नहीं होती। अपने पहरेदारको अपनी ही चिन्तामें मस्त रखने और उसकी चिन्ताको अपनेसे व्यभिचारित न होने देनेकी शक्ति केवल शुद्ध मनमें होती है। शुभचिन्तन शुद्ध मनसे उत्पन्न हुआ करता है। मनको शुभचिन्तनसे सूना न होने देना आत्माके मनुष्यदेहधारणका दिव्य अभिप्राय है। यदि मन शुभचिन्तनसे सूना हो जाय तो मनमें अशुभ चिन्तन उत्पन्न हो गया समझना चाहिये। मनमें प्रत्येक समय शुभचिन्तन रहना और अवश्य रहना चाहिये। कुछ लोग मनमें शुभ या अशुभ किसी प्रकारका चिन्तन न रहे, ऐसी शून्य अवस्थाकी उपासना करते हैं। ऐसी शून्यताकी उपासना करना उनका भ्रममें फँस जाना और अशुभ चिन्तनके वशमें आ जाना है। यह शान्तिका मार्ग नहीं है। मनमेंसे सब चिन्तनोंको हटानेवाला यही तो चाहता है, कि मनमें विषयचिन्तनरूपी अशुभ चिन्तन उत्पन्न न होने पाये। परन्तु विषय चिन्तनरूपी अशुभ चिन्तनको हटानेका यह उपाय नहीं है। संसारमें विषय चिन्तनके प्रसंगोंको नष्ट करनेवाला, उसके प्रतिद्वन्द्वी शुभ चिन्तनसे दूसरा कोई उपाय या साधन नहीं है। शून्यताकी उपासना मनुष्यको अशुभ चिन्तनसे

नहीं बचा सकती। इसलिये मनमें प्रत्येक समय संसार चिन्ता-हारिणी चिन्तालहरियाँ प्रवाहित होती रहनी चाहियें। उन्हींसे अपनी पूर्णताके दर्शन हो सकते हैं। यदि अपनी पूर्णताको मूर्तिमती बनाकर आठों पहर अपनी आँखोंके सामने रखना चाहते हो, तो प्रत्येक समय अपनी पूर्णताको ही अपनी चिन्ताका विषय बनाकर रक्खो।

जब हमारा शुभ चिन्तन हमारे शुद्ध मनको पूर्णतामें पहुँचा हुआ देखता है तब उसकी विचारपद्धतिमें आमूल परिवर्तन हो जाता है। तब वह विश्वके सब भूतोंको पूर्णताकी ही दृष्टिसे देखने लगता है। तब वह देखता है कि जिस प्रकार हममें कोई अपूर्णता नहीं है और जिस प्रकार हमारी कोई अपूर्णता बाह्य संसारकी उधारी सहायतासे पूरी कीजानेवाली नहीं है, इसी प्रकार किसी दूसरे प्राणीमें भी पूर्णता नहीं है और किसीको भी हमसे कुछ उधार लेनेकी आवश्यकता नहीं है। कोई भी प्राणी अपूर्ण नहीं है। सबके सब अपनी अपनी स्थितियोंके द्वारा पूर्णताकी ओर जा रहे हैं। जो गुण या जो योग्यता किसी प्राणीमें होनी चाहिये, वह सब प्राणियोंमें समान रूपसे है। अपनेमें पूर्णताका दर्शन कर लेनेके पश्चात् मनुष्य आमूल बदल जाता है। जब उसकी दृष्टि किसी वस्तुपर पड़ती है तब वह देखता है कि सर्वत्र उसकी पूर्णता ही पूर्णता फैली हुई है। वह अपनेको जन्म मरणसे अतीत पाकर अपनी अज्ञानकालिक मर्त्यत्व बुद्धिपर हँसता है। जैसे वह अपने आपको जन्म और मृत्युके बन्धनमें नहीं पाता, वैसे ही वह देखता है कि कोई भी इस बन्धनमें नहीं है। वह देखता है कि परमार्थका समुद्र समस्त रूपोंमें सर्वत्र ठसा-ठस भरा खड़ा है। वह सर्वत्र परमार्थको ही ऐहिक लीला करता पाता है। जैसे वह अपनेको सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मिलनविच्छेद, संपद्-विपद्, भोग-रोग, ऐश्वर्यदारिद्र्य, भौतिक स्वतन्त्रता-परतन्त्रता आदि समझे जानेवाले बन्धनोंमें नहीं पाता, वैसे ही वह किसी दूसरेको भी इस अज्ञानमयी अवस्थामें फँसा देखकर, उस अज्ञानको कोई महत्त्व न देकर, किसी की भी अपूर्णताको स्वीकारनेकी भूल नहीं करता। जब उसके सामने

कोई रोगी, शोकी या अज्ञानी आता है तब वह उसके रोग, शोक या अज्ञानसे सहानुभूति न दिखा कर, उसकी अपूर्णताबुद्धिको ही दयनीय वस्तु समझता है और उस अपूर्णताबुद्धिको ही उसका रोग, शोक, दारिद्र्य, हर्ष-विशाद, संपद्-विपद्, भौतिक स्वतन्त्रता-परतन्त्रता आदि मानता है। वह इन सबको अज्ञानरूपी व्याधिके ही रूपमें देखता है। यदि ईश्वर उसे उनकी सेवाका अवसर दें, तो वह उनको उनकी पूर्णताका दर्शन कराकर ही उनकी उचित सेवा करता है। शुद्ध मन रखनेवालेका शुभचिन्तन उसके कानोंमें यही कहता रहता है कि तुम किन्हीं औरोंकी चिंता मत करो—तुम केवल अपने निश्चिंत रहनेकी चिंता रक्खो। तुम औरोंकी चिंता करके उनका अपमान मत करो। सबको अपने-अपने विधिनिर्दिष्ट मार्गसे यात्रा करने दो। उसकी शुभचिंता उससे कहती रहती है कि सब देहोंका देही वह विराट् जगतस्रष्टा अपनी पूर्णताबुद्धिको लेकर जैसा तुममें है, वैसा औरोंमें भी है। वही संसारका सबसे महान् अभिभावक तथा आदिगुरु अर्थात् पहले ज्ञानियोंका भी एकमात्र गुरु है। वह सबको अपने ढंगसे अपनी अचिन्त्य पद्धतिसे पूर्णताकी ओर ले जा रहा है। वही तुम्हारे समझे हुए पुत्र, कन्या, शिष्य आदिका उत्तरदायी, उत्पादक, पोषक, मारक तथा ज्ञानशिक्षक है। मनुष्यकी चिंताका सदुपयोग यही है, कि वह अपनी पूर्णताबुद्धिको जगाकर रक्खे और उसे सर्पदष्ट मनुष्यके समान सोने न दे। वह जैसे अपनेमें किसी प्रकारका अभावबोध उत्पन्न न होने दे वैसे ही औरोंमें भी किसी ढंगका अभाव स्वीकार न करे। इस ढंगसे चिन्ताका सदुपयोग करनेपर यह शुभचिंतन रूपी मार्गदर्शक मनुष्यके मनमें ही रहकर सब समय स्पष्ट रूपसे उसको उसका अभ्रान्त कर्तव्य दिखाने लगता है। सामयिक कर्तव्यको ठीक ठीक पहचान लेना ही चिन्ताका मुख्य अभिप्राय है। कर्तव्यको पहचान लेनेके लिए सब समय शुभचिन्तनको (अर्थात् हम पूर्ण अभ्रान्त और आनन्द-स्वरूप हैं, इस भावनाको) जगाए रखना ही चिन्तन करनेकी एकमात्र विधि है।

जब तुम शुद्ध मनके आज्ञाकारी बन जाओगे और जब तुम्हारा शुभचिन्तन 'प्रतिक्षण तुम्हारे सामने तुम्हारा अभ्रान्त कर्तव्य उपस्थित करने लगेगा, तब देखोगे कि तुम्हारा भौतिक देह भी जो कि तुम्हारे बाह्य कर्मोंका साधन है, तुम्हारे शुद्ध मनका आज्ञाकारी होकर सेवामें लग रहा है। इस अवस्थाके आनेपर तुम्हारे जीवनमें महती उत्क्रान्ति होगी। तुम्हारे जीवनकी उस उत्क्रान्तिकी एक बाह्य अभिव्यक्ति यह होगी कि जगत्की भौतिक शक्ति समझी जाने वाली समस्त प्रकारकी धृष्टताओंकी उपेक्षा करनेवाला तुम्हारा भौतिक देह कभी भी तुम्हारे लक्ष्यके विरुद्ध उपयोगमें नहीं लाया जा सकेगा। जब संसारकी कोई भौतिक शक्ति तुम्हारे देहको अपनी इच्छा पूरी करनेका साधन बनाना चाहेगी और तुम्हारे देहको तुम्हारे शुद्ध मनके अधिकारसे बाहर निकालकर उससे अपना कुछ काम लेनेका असफल प्रयत्न प्रारम्भ करेगी, तब तुमको अपनी अनन्त शक्तिका दर्शन होगा। उसी दिन तुम अपने निश्चयपर हिमालयके समान अटल होगे। उस दिन सारा संसार एक ओर होगा और तुम एक ओर होगे। तब तुम देखोगे, कि जिस प्रकार हिमालय पत्थरोंके टुकड़ोंको अपने चरणोंमें डालकर उन्हें भूला रहकर अपने गगनचुम्बी ऊँचे मस्तकको गौरवके साथ ऊपर किए खड़ा है, वैसे ही तुम्हारा शुद्ध मन तुम्हारे आत्मस्वरूपकी पूर्णतारूपी सेवामें लगा रहकर और इसी काममें तुम्हारे भौतिक अस्तित्व (देह) को भी लगाए रखकर, बड़े ही गर्वके साथ विरोधियोंको व्यर्थ कर देनेके लिए उद्यत है।

देहको धारण करनेका अभिप्राय और इसका सदुपयोग केवल इतना है कि मनुष्य अपनी पूर्णताका आज्ञाकारी बन जाय, अपनी पूर्णताकी सेवा करने लगे और पूर्णताकी सेवासे आनेवाले पूर्णानन्द के बदलेमें अपना भौतिक अस्तित्व मिटा डाले। अर्थात् यह भूल जाय कि इस संसारमें मेरा भी कोई भौतिक अस्तित्व है। इस देहका यही सदुपयोग है कि मनुष्य अपने भौतिक अस्तित्वको

प्रत्येक समय इदं न मम कहते रहनेवाला बनकर रहे और अपनी ओरसे अपनी जीवनलीलाका अन्त कर देनेके लिये प्रत्येक समय प्रसन्न मुखसे प्रस्तुत रहे। इसीको स्वतन्त्रताका अन्तिम रूप कहा जाता है। अपने समस्त गुण तथा अपनी समस्त शक्ति व्यय करके इस स्वतंत्रताकी रक्षा करते रहना ही मनुष्यका एकमात्र चिन्तनीय विषय है। यही अपनी चिंताधाराको बहानेकी सर्वोत्तम प्रणाली या कुल्या है।

पढ़ना क्या है ?

शिक्षाकी परिभाषा

कर्तव्यपालनके समय प्रत्येक मनुष्यको सत्यका दर्शन होता है। कर्तव्यपालन करते हुए सत्यका अर्थात् कर्तव्य करनेके उचित नियमों और सिद्धान्तोंका दर्शन होना ही सच्ची शिक्षा या पढ़ाई है। इसके साथ ही साथ दूसरोंके अनुभवमें आई हुई और उन्हींके द्वारा लिखी हुई या उन्हींके द्वारा प्राप्त हुई सत्य भावनाओंको हृदयमें बैठा लेना भी शिक्षा कहाता है।

पुस्तक पढ़ना शिक्षा नहीं है

लोकमें पुस्तक पढ़नेको शिक्षा समझा जाने लगा है। यह भ्रान्ति है। यह जितनी शीघ्र हटे उतना अच्छा है। इसलिये गहरा विचार करनेकी आवश्यकता है। यद्यपि ऐसा नहीं है फिर भी थोड़ी देरको यह मान लेते हैं कि पुस्तकोंमें ज्ञानकी ही बातें लिखी हुई हैं। प्रश्न तो यह है कि इन पुस्तकोंमें ज्ञान कहाँसे आया ? निश्चय ही ज्ञानी लोगोंके अनुभवोंमेंसे ही पुस्तकोंको ज्ञान मिला है। पहले ज्ञानी हुए और पीछे पुस्तकें लिखी गईं। पुस्तक पढ़कर ज्ञानी नहीं बने किन्तु ज्ञानी बनकर पुस्तकें लिखी गईं। यदि कोई कहे कि पुस्तकें पढ़कर ज्ञानी बन जाता है तो प्रश्न उठता है कि पुस्तकें किसने लिखीं ? अर्थात् पुस्तकोंमें लिखी हुई बातें कहाँसे आयीं ? इस प्रश्नके उत्तरमें यही मानना पड़ेगा कि प्रत्येक क्षण सत्यासत्यका विचार करनेवाले मनुष्यको ज्ञान प्राप्त होता रहता है। सत्यासत्यके

विचारकी परिपक्क अवस्था ही ज्ञान है। अर्थात् ज्ञानी बननेवाले लोग पुस्तकोंसे ज्ञानी नहीं बनते किन्तु वे उनके विना ही ज्ञानी बन जाते हैं। वे ज्ञानी बन चुकने पर अपनी ज्ञानशक्तिको लोक कल्याण कामनासे पुस्तकोंके रूपमें लिख डालते हैं।

ज्ञानी बननेके लिये पुस्तक पढ़ना अनिवार्य नहीं है उसके लिये तो पवित्र वातावरण चाहिये।

ज्ञानी बननेके लिये पुस्तक पढ़नेकी अनिवार्यताको सिद्ध नहीं किया जा सकता। पुस्तकके विना भी ज्ञानी बना और बनाया जा सकता है। ज्ञानी बननेके लिये जिस बातकी अनिवार्य आवश्यकता होती है वह तो ज्ञानको विकसित करनेवाला, सत्यका दर्शन करानेवाला, प्रत्येक बात पर स्वतन्त्ररूपसे विचार करनेकी कला सिखानेवाला बाह्यप्रभावोंसे अतीत रहनेकी शिक्षा देनेवाला पवित्र वातावरण है। पवित्र वातावरणका अर्थ पवित्र चरित्रवाले सन्त माता-पिता या सन्त शिक्षकके व्यावहारिक जीवनका अंग बनकर या उसके प्रति आत्मसमर्पण करके रहना है। ज्ञानका वातावरण हो तो मनुष्य पुस्तक पढ़े विना ज्ञानी बन सकता है और बनाया जा सकता है। वह यदि न हो तो संसार भरके पुस्तकालय भी मिलकर किसीको ज्ञानी नहीं बना सकते। जैसे वृष्टिका समाचार सुनानेवाले पत्रेमें एक भी बूँद पानी नहीं होता इसी प्रकार ज्ञानका समाचार सुनानेवाले ग्रन्थोंमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके वातावरणमें जीवनको आनन्दपूर्ण रखनेकी कला पुस्तकको हाथ लगाये विना भी सीखी जा सकती है।

पुस्तक पढ़नेका अभिप्राय

प्रश्न होता है कि फिर पढ़ने-लिखने की आवश्यकता कहाँ रह जाती है? इसका उत्तर समझनेके लिये पुस्तकके स्वरूपको स्पष्ट रूपसे समझना चाहिये। जिनमें रक्षा करने योग्य ज्ञानवार्ता लिखी हुई हों उन्हें पुस्तक कहा जा सकता है। जिन पुस्तकोंमें निरर्थक,

भ्रामक, उत्तेजक और दासता सिखानेवाली, खोखले मस्तिष्कोंमेंसे निकली हुई, अँधेरेमेंसे कुछ ढुँढवानेके लिये हाथ पैर-मारना सिखानेवाली बातें लिखी हुई होती हैं वे पुस्तक पुस्तक कहलाने योग्य नहीं होतीं। प्रत्येक देशके शिक्षाविभागको ऐसी पुस्तकें उपन्न न होने देने तथा उन्हें नष्ट करनेका जागरूक प्रबन्ध होना चाहिये। केवल कुछ बातें लिखी रहनेसे ही पुस्तक पुस्तकका पवित्र नाम नहीं पा सकती। किन्तु जिन पुस्तकोंमें समाजमें सुरक्षित करने योग्य सत्य मूर्तिमान होकर लिखा रहता है वे ही पुस्तक पुस्तक कहलाने और पढ़ने योग्य होती हैं।

पुस्तकरचनाका अभिप्राय सद्ग्रन्थसे ही पूरा होता है। सद्-ग्रन्थ सन्तोंका प्रतिनिधि होता है। सन्त वे हैं सत्य जिनकी आँखों देखी वस्तु है अर्थात् जो सत्यसे सुपरिचित हैं। सन्तलोग जिस मनोदशामें रहते हैं उसको बतानेवाली विचारराशि कभी-कभी सद्-ग्रन्थका रूप ले लेती है। सन्तके नश्वर देहका अन्त हो जानेपर भी समाजकल्याण करनेवाली सन्तकी मनोदशा सुरक्षित रहे और उसके द्वारा समाजको सत्संगका आनन्द प्राप्त होता रहे, इस अभिप्रायसे पुस्तक लेखनकी रीतिने प्रचार पाया। इसीमें समाजका कल्याण है और इसीसे समाजका यह स्वाभाविक धर्म हो गया है कि वह सत्यज्ञानको नष्ट न होने दे। समाजकी इस स्वाभाविक कर्तव्यबुद्धि-मेंसे ही पुस्तककी सृष्टि हुई। कुछ सन्त लेखक समाजकी इसी कर्तव्य बुद्धिका प्रतिनिधित्व करते हैं और सद्ग्रन्थोंकी रचना कर जाते हैं। समाज जब चाहता है तब पुस्तकोंके रूपमें अपने संतोंके प्रतिनिधि ग्रन्थोंसे सन्तसमागमका लाभ कर लेता है। सद्ग्रन्थ पढ़कर मनुष्य सत्संगको पानेका अधिकारी बन जाता है। सत्संगका आनन्द प्राप्त करना ही पुस्तक पढ़नेका अभिप्राय है। इस दृष्टिसे मनुष्यको केवल ऐसी पुस्तकें पढ़नी चाहियें जिनके पाठसे सत्यका दर्शन हो सकता हो।

सत्यका दर्शन करके सन्त नहीं बनता किन्तु सन्त हो चुकनेपर सत्यका दर्शन होता है

इसी प्रसंगमें यह बात समझ लेनी चाहिये कि मनुष्यको सत्यका दर्शन करनेकी कला और अधिकार सन्त बन चुकनेके पश्चात् ही प्राप्त होता है। जो सन्त नहीं होगा उसे सत्यका दर्शन कदापि नहीं होगा। जो सन्त न होगा उसे ज्ञानग्रंथमेंसे भी सत्यका दर्शन नहीं होगा। असन्त मनुष्य सद्ग्रन्थको कण्ठस्थ तो कर सकता है परन्तु सत्यदर्शनका आनन्द नहीं ले सकता। वह उससे सत्यदर्शन करके सन्त समागमका आनन्द नहीं पा सकता। सन्त वही है जिसकी दृष्टि स्वभावसे वहीं जाकर ठहरती है जहाँ सत्य होता है। असन्तोंको सत्यका दर्शन करानेवाली पुस्तकोंमें भी अँधेरा ही अँधेरा दीखा करता है। असन्त लोग उन पुस्तकोंमें लिप्त रहते हैं, उन्हें पढ़-पढ़ कर हर्ष, शोक आदि विकारोंमें फँसते रहते हैं, जिनमें सन्तको सत्यका पूरा-पूरा अभाव दीखता है। इसी लिए ऊपर कहा गया था कि पढ़ने योग्य सद्ग्रन्थोंके पढ़ने और उनसे कोई लाभ उठानेका अधिकार भी केवल सन्त लोगोंको होता है।

पुस्तकपाठी पुस्तक पढ़नेसे पहले सन्त बन चुकना चाहिये

पुस्तक पढ़नेका सिद्धान्त यह है कि पुस्तक पढ़नेवालेको उसे पढ़नेसे पहले सन्त बन चुकना चाहिये। सन्त बन चुकने या बना दिये जानेके पश्चात् ही पुस्तक हाथमें पकड़ी या पकड़ायी जानी चाहिये। ऐसा करनेपर ही बुरे भले ग्रन्थोंके पहचाननेकी शक्ति आयेगी, केवल सद्ग्रन्थ हाथोंमें ठहर सकेंगे और असद्ग्रन्थ त्यागे जा सकेंगे।

पढ़ाईसे प्रथम ज्ञान प्राप्त हो चुकना चाहिये

यदि पढ़ना प्रारम्भ करनेसे पहले यह नहीं जान लिया गया कि क्या पढ़ना चाहिये ? और क्या न पढ़ना चाहिये ? तो असद्-

ग्रन्थ भी हाथोंमें उठा लिये जाया करेंगे। असद्ग्रन्थोंके हाथोंमें आनेसे बुरे संगोंमें फँसकर बिगड़ जानेका पूरा प्रबन्ध हो जायगा। इस अवाञ्छनीय अवस्थासे बचने तथा पढ़नेके कामको सरल तथा थोड़ा करनेके लिये पढ़ाईसे पहले मनुष्यको ज्ञान प्राप्त हो चुकना चाहिये। यदि ऐसा कर लिया जाय तो असद्ग्रन्थोंमें समयका अपव्यय न हो किन्तु तब समयका पूर्ण सदुपयोग होने लगे। जब मनुष्यमें यह शक्ति जाग चुकेगी तब केवल सद्ग्रन्थ अच्छे लगेंगे। और मनुष्यको समाजकी सत्संगरूपी अक्षय संपत्तिसे आनन्द उठानेका अवसर मिलने लगेगा।

यदि पढ़ना प्रारम्भ करनेसे पहले मनुष्यको ज्ञानी नहीं बना लिया जायगा तो पढ़नेवाला सहस्रदर्पणी भवनमें घुसकर भरमाये श्वानके समान अनिर्णयके महान कष्टमें फँस जायगा। वह सदा पुस्तकोंकी बातें कण्ठस्थ करके रखनेका व्यर्थ प्रयत्न किया करेगा। तब वह दूसरोंके लिपिबद्ध विचारोंको कण्ठस्थ करके ही अपने आपको ज्ञानी मानने लगेगा। वह अपने व्यावहारिक जीवनमें सत्यज्ञानको उज्ज्वल करके रखनेका स्वाभाविक मार्ग तो त्याग देगा और ज्ञानको केवल कण्ठस्थ करने योग्य बात मान लेगा। उसे सत्यको अपने व्यवहारमें लानेका कभी उत्साह नहीं होगा। यदि मनुष्य पहले ज्ञानी बने बिना पढ़ने लगेगा तो वह मिथ्याचारी (ढोंगी) बन जायगा। वह पढ़कर अपनी वाक्चातुरी और अपने बुद्धिबलसे अपने अनुचित कामों, इच्छाओं तथा वचनोंका समर्थन किया करेगा।

ज्ञानके हृदयमें जाग लेनेपर पीछेसे हाथमें पुस्तक पकड़नी चाहिये

मनुष्यके अनुभवने जिस ज्ञानका अनुमोदन नहीं किया, जो ज्ञान मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें प्रवेश नहीं कर सका, ऐसे निर्वीर्य

ज्ञानसे किसीका कल्याण नहीं होता। इसलिये यह आवश्यक है कि विद्यार्थीके हृदयमें सबसे पहले ज्ञान जगा डाला जाय अर्थात् उसे अपने सुदृष्टान्तोंसे ज्ञानको व्यवहारमें लाना सिखाया जाय और पीछेसे उसके हाथमें पुस्तक पकड़ायी जाय। यदि ऐसा किया जाय तो शिक्षार्थीका बहुतसा समय निरर्थक नष्ट होनेसे बच जाय, शिक्षाका कार्य सरल हो जाय और शिक्षार्थीको एक ऐसी कला स्वयं आ जाय कि निरर्थक पुस्तकोंसे लम्बा, कंटकाकीर्ण और असंभव बना हुआ शिक्षाका काम छोटा हो जाय, निष्कण्टक बन जाय और सम्भव हो जाय। तब वह स्वयं ही यह जान जाय कि कौन-कौनसी पुस्तकें मेरे पढ़ने योग्य हैं।

भारतकी प्राचीन शिक्षाप्रणाली और आधुनिकप्रणालीकी तुलना

भारतकी प्राचीन शिक्षाप्रणालीमें पुस्तकोंका कोई महत्व नहीं था। तब बालकोंको आत्मसागरगामी सेवा कार्योंमें लगाये रखकर ज्ञानकी बातें सिखाई जाती थीं। तब उन्हें पुस्तकोंके बिना ज्ञानी बनाया जाता था। पुस्तक हाथमें देनेसे पहले शौचाचार सिखाये जाते थे। आजकलकी शिक्षाप्रणालीमें पुस्तकोंकी निरर्थक भरमार अत्यन्त अस्वाभाविक उधार ली हुई और मनुष्यको सच्चे विद्योपार्जन या शिक्षासे वंचित करनेवाली परिपाटी है। प्राचीन भारतमें ऊँचे-ऊँचे जीवनोंकी न्यूनता नहीं थी किन्तु भरमार थी। प्रत्येक गाँवमें कोई न कोई महाज्ञानी होता था, जो लोगोंकी ज्ञान-पिपासा बुझानेवाली परमार्थप्रपा बना रहता था। भारत देश पुस्तकालयोंके ऊपर निर्भर नहीं था। तब इनकी इतनी भरमार थी। तब विद्यार्थी स्वयं ही अपने आपको पुस्तक मानकर पढ़ना सीखते थे। वे स्वका अध्ययन अर्थात् आत्मज्ञानका लाभ करनेवाले स्वाध्यायी होते थे। वे अनुभवी गुरुओंके सम्पर्कमें अर्थात् उनके पवित्र वाता-

वरणके अंग बनकर अपने आपको पढ़ना सीख जाते थे। अर्थात् आत्मदर्शी बन जाते थे। वे अपने मनोविकारोंपर विजय पाना और आठों पहर ईश्वरीय भावोंमें रहना सीख जाते थे। वे निर्विकार मनको परखना सीख जाते थे। वे अपने स्वरूपसे भली प्रकार परिचित हो जाते थे। तब वे पुस्तक बिना पढ़े पुस्तक बनाना तक सीख लेते थे। तब बालकोंको पुस्तक बिना छुआए ही उनके व्यावहारिक जीवनका सुप्रबन्ध तथा सुनियन्त्रण करके उनका ज्ञानके झरनेपर दृढ आधिपत्य बैठा दिया जाता था। तबकी शिक्षाप्रणाली बाह्य साधनोंके अधीन नहीं थी। वह साधनाधीनताके विरुद्ध प्रबल विद्रोह करना सिखाती थी। वह मनुष्यको एक कोपीन और अंगप्रोक्षण मात्रसे समस्त जीवनयापनकी दिव्यकला सिखाती थी। तब बाल-हृदयको ही बालपाठ्य ज्ञानग्रन्थ बना लिया जाता था।

ज्ञान होनेसे प्रथम पुस्तक पढ़नेसे हानि

यदि बालहृदयमें ज्ञानको जगाये बिना उसे पुस्तकें पढ़ायी जायँगी, तो मनुष्यकी सौ वर्षकी पूरी आयुष्यमें तो क्या अनन्त कालमें भी पुस्तकोंसे उसका पिण्ड छूटनेकी कोई आशा नहीं है। यदि पढ़ाईके धोकेको कभी भी समाप्त न होने देना हो तो बालकोंके हाथोंमें ज्ञानको जगा देनेसे पहले पुस्तकोंके बोझे पकड़ा देनेकी आवश्यकता मानी जा सकती है। यदि बालकोंको पुस्तकोपासक बनानेके स्थानमें सत्यका उपासक बनाना हो तो उनका पुस्तकोंके साथ अस्वाभाविक सम्बन्ध न जोड़ना ही बुद्धिमत्ता होगी। यदि कच्ची बुद्धिके बालकोंके हाथोंमें पुस्तकें पकड़ा दी जायँगी तो वे ज्ञानोपार्जनमें स्वावलम्बनको खो बैठेंगे। वे पुस्तकावलम्बी हो जाँयगे और उनकी ज्ञानका अन्वेषण करनेकी स्वाभावक प्रवृत्ति सदाके लिए मर जायगी। इसलिए बालकोंके हाथोंमें पुस्तक पकड़ानेका समय पहचाननेकी परम आवश्यकता है।

ज्ञानी बने बिना पढ़ी हुई पुस्तकें मनुष्यको संदिहान बना डालेंगी

जो लोग अपने मस्तिष्कमें पुस्तकोंका उधारा ज्ञान भर लेते हैं वे ढीली अप्रामाणिक अनिश्चयात्मक और द्व्यर्थक बातें कहते हैं। मस्तिष्कमें उधारा ज्ञान भर लेनेवालोंका जीवन महत्वहीन हो जाता है। वे कहते हैं कि अमुक पुस्तकमें ऐसा लिखा है और अमुकमें वैसा ; यह भी ठीक है और वह भी ठीक है, यह भी हो सकता है और वह भी हो सकता है; तुम भी ठीक कहते हो और मैं भी ठीक कहता हूँ। इस प्रकारकी जितनी निर्बल बातें कही या सुनी जा सकती हैं वे सब पुस्तकीय ज्ञानको मस्तकमें ठूँस लेनेवालोंकी उपज हैं। यदि ये लोग ज्ञानी बन गये होते तो ये आत्मविश्वास तथा आत्मानुभवके सहारेसे बोलनेवाले क्यों न होते ? यदि इन्हें सचाईका दर्शन हुआ होता तो इनके सत्यज्ञानमें इतना लचकीलापन कहाँसे आजाता ? वे असत्यको भी ठीक कैसे कह देते ? वे अपनी बातका समर्थन शास्त्रोंके उद्धरणोंसे क्यों करते ? वे अपने सत्यानुभवसे ही अपनी बातका प्रबल समर्थन करनेवाले क्यों न होते ? उन्हें अपनी बातपर इतना प्रबल विश्वास क्यों न होता ? कि हमारे सत्यानुभवसे विरोध हो तो सब असत्य है। उनमें अपनी बातपर डटनेका साहस क्यों न होता ? वे पुस्तकोंको सत्यकी कसौटी माननेवाले क्यों होते ? इन सब बातोंसे यही परिणाम निकालना पड़ता है कि ज्ञानी होनेके लिये पुस्तकें पढ़ना आवश्यक नहीं है। पढ़नेका अर्थ सत्संगसे लाभ उठानेकी योग्यता प्राप्त करना है। ज्ञानी ही सत्संगसे लाभ उठा सकता है। सत्संगसे लाभ उठानेके लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य पहलेसे ज्ञानी हो। नहीं तो वह सत्संगके नामसे धोका खा जायगा। ज्ञानी बनने पर ही पुस्तकें पढ़नी चाहियें। हाथमें केवल सद्ग्रन्थ लेने चाहियें। सद्ग्रन्थ सन्तसमागम करनेके लिये ही पढ़ने चाहियें।

पढ़ना मानव जीवनका लक्ष्य नहीं है

आजके संसारमें आलसी धनोपासकों या अर्थकरी विद्याओंका उपार्जन करनेवालोंकी देखा-देखी पढ़ने नामका घातक महारोग फैलने लगा है। इस महारोगसे बचनेके लिये बड़ी दृढता और आत्मविश्वाससे काम लेनेकी आवश्यकता है। पढ़नेको मनुष्यतासे ऊँचा पद नहीं दिया जाना चाहिये। पढ़नेका काम स्वतन्त्र व्यवसाय नहीं बनाया जा सकता। यदि मनुष्य जाति सुख चाहेगी तो पढ़नेकी इच्छापर मनुष्यजीवनके लक्ष्यका पूरा नियन्त्रण रखना पड़ेगा। पढ़नेका काम मनुष्य जीवनमें पाने योग्य पद या अवस्थाको भुलानेवाला या उसे पीछे छोड़नेवाला न होना चाहिये। पढ़ना कोई ऐसी आवश्यक बात नहीं है जिसे मानवजीवन व्यय करके अवश्य प्राप्त करना चाहिये। आजकल अर्थकरी विद्याने ही पढ़नेको अनुचित महत्व दे दिया है। पढ़ना मानवजीवनका लक्ष्य नहीं है। मानवजीवनका लक्ष्य तो मनुष्यताको प्राप्त करना है। इस लिये पुस्तक पढ़नेको अनुचित महत्व नहीं मिलना चाहिये। मनुष्यताका विकास करके सच्चे ज्ञानी बननेको ही महत्व मिलना चाहिये। पढ़े-लिखे होने को इतनी प्रबल इच्छा न होनी चाहिये जितनी सच्चा मनुष्य या पूर्ण मनुष्य बननेकी होनी चाहिये। मनुष्य को पढ़नेके कामको सच्ची मनुष्यताका अनुगामी बना रहकर ही स्वीकार करना चाहिये, नहीं तो स्वाभिमानके साथ कुपढ़्‌ढा रहना चाहिये।

मनुष्यको सुखी बनानेका उत्तरदायित्व लेनेकी क्षमता रखने वाले सच्चे ज्ञानोपार्जनमें कण्ठस्थीकरण या इतिहास आदि ज्ञानोंका कोई स्थान नहीं है

प्रत्येक मनुष्यमें ज्ञानी बननेकी पूर्ण शक्ति विद्यमान है। जब वह शक्ति किसी मनुष्यमें विकसित होती है, तब किसी भी पुस्तकके

सहारेके बिना विकसित हो जाती है। मनुष्योंमें कुछ शब्द या कुछ वाक्य कण्ठस्थ कर रखनेकी शक्तिमें न्यूनाधिकपन हो सकता है। परन्तु कण्ठस्थ कर लेनेकी इस शक्तिके साथ सच्चे ज्ञानोपार्जनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सच्चे ज्ञानोपार्जनमें इतिहास, भूगोल, गणित, पदार्थविज्ञान, ज्योतिर्ज्ञान, अर्थनीति, काव्य साहित्य आदि तकका कोई स्थान नहीं है। इन विषयोंके ज्ञानसे मनुष्य जीवनमें सुभीते हो जाते हैं यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि आपने इन सुभीतोंके लोभमें फँसकर आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया तो आप कुपढ़े हैं। यह आपके लिये बड़ी लज्जाकी बात है कि आप संसार भरकी कहानी तो जानें और अपने स्वरूपके विषयमें तथा अपने पराये लोगोंके सम्बन्धके विषयमें अंधे बने रहें।

संसारमें राजा कहलानेवाले कुछ मनुष्योंकी वंशावली, उनके जीवन काल, अथवा कुछ निर्बल मनवाले मनुष्योंके ऊपर उनके शासन करनेके कालको रट रखना भी यदि कोई विद्या मानी जाय, तो गाँवोंकी धाइयाँ भी अपने गाँवके बालकोंके जन्म दिन बहुत अच्छे प्रकार कण्ठस्थ कर रखती है। उन्हें भी 'विदुषी' मान लेना पड़ेगा। यदि किसी लड़ाईकी कहानी और उसके कारणोंको कण्ठस्थ कर लेना भी 'विद्या'का चिन्ह हो तो वे सबके सब मुकद्मे करने (अभियोग चलाने) वाले झगड़ालू लोग, जो सबके झगड़ोंको अपने मस्तिष्कमें भरे फिरते हैं किसी भी इतिहासज्ञसे न्यून 'विद्वान' नहीं माने जाने चाहियें !

इसी प्रकार गणित विज्ञान रसायन शास्त्र तथा ज्योर्विज्ञान आदि में मस्तिष्कका व्यायाम करते रहनेसे तत्काल थोड़ी-सी प्रसन्नता हो सकती हैं, दूसरोंसे 'विद्वान' नाम पाया जा सकता है; या जीवनमें कुछ भौतिक सुविधायें पायी जा सकती हैं। परन्तु जिस विद्याका काम मनुष्य जातिके मनकी चिरन्तन व्याकुलताको मिटाना या बुझाना है उस विद्याको पानेमें इन सबका लेशमात्र भी उपयोग

नहीं है। इसी कारणसे ऊपर कहा गया है कि इन विषयोंको विद्योपार्जनमें महत्वपूर्ण स्थान देना युक्तिसंगत नहीं है।

इसी प्रकार दो चार या दस पाँच भाषाओंको जान जाना भी मनुष्यकी खोपड़ीका निष्फल प्रयत्न है। इन किन्हीं भी प्रयत्नों पर सन्तोषरूपी फल नहीं लगेगा। इस प्रकारकी शिक्षाप्रणालीका मनुष्योचित ज्ञानलाभके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार दो पदार्थ मिलाकर तीसरा पदार्थ बनाना सिखानेवाले पदार्थविज्ञान का भी सच्ची शिक्षाप्रणालीमें कोई स्थान नहीं है। कुछ संख्याओं को घटाने बढ़ानेमें चतुरता दिखाकर मस्तिष्कका व्यायाम या खेल करनेमें किसी उच्च मनोदशाकी रक्षा करनेका कोई सा भी कौशल छिपा हुआ नहीं है।

समय आनेपर मनुष्यके शरीरमें रूप यौवन आदि विकार फूट आते हैं। जब मनुष्य मानवदेहके उन रूपयौवन आदि देहविकारोंको भोग्य समझ लेता है, तब उसके विकारग्रस्त मनमें मनोविकार जाग उठते हैं। विकारग्रस्त मनमें जन्मे हुए विकारोंको भी संभोग करने भोग्य एक रस मान लेना, मनुष्यके मनकी विचारहीन निन्दनीय दशा है। विकारके पंजेमें फँसे हुए मनोंमें जन्मे हुए विकारोंको भी संभोग करने योग्य 'रस' मानकर संसार भरमें आजतक जितना साहित्य लिखा गया है, जितनी कविता बनायी गयी हैं, उनको रट लेनेसे ही यदि कोई 'विद्वान' बन जाता हो तो मद्य पीकर या धतूरा खाकर विकृत मस्तिष्कवाले उन उन्मत्त लोगोंको भी 'साहित्यिक कवि' और 'साहित्यरसिक विद्वान' मान लेना पड़ेगा, जो ऊटपटांग वचन और छन्दोबद्ध वाक्य बकने लगते हैं। मनुष्य ऐसे लोगोंकी पुस्तकें पढ़-पढ़कर विद्वान बननेके स्थानमें मूर्ख बन जाता है। ये पुस्तकें मनुष्यको केवल विषयवासनाको चरितार्थ करनेकी दुष्ट कला सिखलानेसे अधिक किसी काम नहीं आतीं।

आजकलकी पाठ्य पुस्तकोंका महादोष

आजकलकी "बाजारू" पाठ्यपुस्तकें मनुष्यकी वासनाग्निमें ईंधन जुटानेके कुविचारसे लिखी गयी हैं। इन पुस्तकोंकी प्रत्येक पंक्तिसे स्वार्थान्धता, कामान्धता और परतंत्रताका विषैला प्रचार हो रहा है। मनुष्योंमें इन पुस्तकोंको स्पर्श न करनेका धीरज आ जाय, यही सच्ची विद्याको पढ़ लेना है। आजकलकी शिक्षा सच्ची पढ़ाईके मार्गकी रुकावट बन गयी है और बालकोंकी ज्ञानकी आँखें खुलते न खुलते ही उन्हें पहलेसे ही अज्ञानान्धकारमें रहना सिखा रही है। प्रत्येक देशके शिक्षा शास्त्रियोंको अपने विद्यार्थी नारायणों को इन दूषित पुस्तकोंसे बचाना चाहिये।

जिस पुस्तकमें एक भी वाक्य दूषित होगा वह ग्रन्थ ज्ञानग्रन्थोंकी सूचीमेंसे निकाल दिया जायगा

किसी पुस्तकमें दो चार छाँटे हुए अच्छे वाक्य देखकर ही उसे इस अपराधसे मुक्त नहीं किया जायगा। जिस पुस्तकका एक भी वाक्य निर्बलता या दुष्ट भाव फैलानेका अपराधी होगा, उसका नाम अपने ज्ञानग्रन्थोंकी सूचीमेंसे काट दिया जायगा और उसका पूरा बहिष्कार किया जायगा।

जो यात्री जिस स्थानकी ओर पग उठाता है उसके हाथ, पैर, आँख, नाक, कान आदि संपूर्ण अवयव भी उसी स्थानकी ओर चलते हैं। इसी प्रकार रोटी उपार्जन करने या विषयभोगमें चतुर बननेके उद्देश्यसे लिखी गयी पुस्तकोंकी पंक्ति पंक्तिमें लेखकोंके जीवनोंमें उनके मनोंको व्याकुल रखनेवाली भोगलालसा अदृश्य भाषामें लिखी रहती है। ये पुस्तकें भोगलालसाकी चिरसंगिनी सब प्रकारकी मानसिक निर्बलताओंका प्रचार करनेवाली होती हैं।

सुसाहित्य तथा सुकविताका स्वरूप

सुसाहित्य और सुकविता तो उसीको कहा जायगा जो पढ़ने

और सुननेवाले मनुष्यके मनको विकारसे अछूता रहनेकी कला सिखा दे और उसे निर्विकार मानसिक स्थिति नामके अपने घटवासी परमात्माका दिव्यदर्शन करादे। जो साहित्यिक या कवि समझे जानेवाले मनुष्य विकारोंमेंसे रसास्वादन करते हैं, वे सब एक प्रकारके विकारभोजी (मैला खानेवाले) जन्तु हैं। ये सब वास्तविक साहित्य और वास्तविक काव्यरससे वंचित हैं और उनसे अत्यन्त दूर हैं। ये सब इन्द्रियासक्त लोग स्वयं भी मनोविकारोंके तिक्त गरलका दुष्ट स्वाद चखते हैं और ग्रन्थरचनाका नाम लेकर संसारको भी इस कुरसभोजनमें सम्मिलित करनेका दुष्ट प्रयत्न करते हैं। ऐसे दूषित साहित्य और कविताके साथ पूर्ण असहयोग कर लेना ही मनुष्योचित विद्याको पढ़ लेना है।

संसारके महापुरुष इतिहासादिके पण्डित होनेसे महापुरुष नहीं बने थे

मनुसे लेकर वाल्मीकि व्यास नारद वसिष्ठ जनक शुकदेव राम कृष्ण बुद्ध शंकर नानक चैतन्य कबीर तुलसी दादू मीरा रैदास दयानन्द आदि जिन महापुरुषोंने आजतक मनुष्यसमाजके ज्ञानभण्डारमें मनुष्यताके आदर्शको सुप्रतिष्ठित किया है, इनमेंसे किसीने भी इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, ज्योतिष, अर्थशास्त्र साहित्य कविता गल्प या उपन्यास नाटक आदिके पण्डित या विशेषज्ञ लेखक बनकर यशस्वी नाम नहीं पाया। इन्होंने इन विषयोंके विशेषज्ञ या लेखक बननेको अपने मानवजीवनके उद्देश्यमें सम्मिलित नहीं किया था।

मनुष्यताके आदर्शसे पतितलोग ही पोथीकी विद्याके पीछे पड़ते हैं

जब मनुष्य अपनेको मनुष्यताके आदर्शसे पतित कर लेता है तब पोथीगत विद्याके पीछे पड़ा करता है और अविद्याकी उपासना कोही विद्या कहने लगता है। तब उसकी अविद्या अर्थकरी

विद्याका रूप धारण कर लेती है। तब उसकी अविद्या, विद्या नामक अर्थोत्पादक कौशलको कहींसे मोल लेनेकी प्रवृत्तिको जगाती है और उसीमें उसकी शक्ति व्यय करवाकर उसे निर्वीर्य, अशक्त तथा निस्तेज बना डालती है। इस प्रकारका मूल्य देकर मोल ली हुई विद्यासे केवल अपनी भोगतृष्णाकी तृप्तिके साधन मोल लिये जाने लगते हैं और मनुष्यता धूलमें मिलाई जाने लगती है।

पोथीकी विद्या बेचनेवाली शिक्षासंस्थायें पराधीन मनुष्य ढाल रही हैं

इस प्रकारकी विद्याको बेचनेवाली शिक्षा संस्थायें और वहाँसे विद्या मोल लेनेवाले विद्यार्थी दोनों अविद्याके उपासक होकर सत्यसे अलग रहने लगते हैं। ऐसी संस्थायें 'विद्या' का पवित्र नाम लेकर भोलेभाले विद्यार्थी इकट्ठे करके उन्हें सत्यसे हीन, मिथ्याचारी, अर्थलोलुप, सदसद्विचारबुद्धिसे हीन, अपनी भोगतृष्णाको बुझानेके लिए अपनी मनुष्यता तथा मनुष्योचित कर्मशक्ति दोनोंको बेचकर जीवन काटनेवाले, दासोंकी सी मनोवृत्तिवाले दास बनाकर, उन्हें पूरा-पूरा विवश करके उनसे पराधीनता स्वीकार करवा रही हैं। पोथीकी विद्या बेचनेवाली क्षिक्षासंस्थायें प्रमाणपत्र नामके पत्र-खण्ड बेचती हैं।

विद्या नामका यह भद्दा बिक्रीका पदार्थ आजकलकी भाषामें सभ्य समझे जानेवाले मनुष्यत्वहीन समाजमें ही आदर पाता है। यह विद्या नामका भद्दा बिक्रीका पदार्थ "प्रमाणपत्र" नामके पत्रके मूल्यहीन टुकड़ेके रूपमें विद्यार्थियोंको बेचा जाता है। आजके मनुष्यसमाजका यह कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि इस प्रकारकी विद्याको बेचनेवाली शिक्षासंस्थायें मनुष्यत्वहीन मनुष्यसमाजकी मनुष्यत्वहीनताकी रक्षक बनकर समाजके कन्धोंपर बोझ बनकर चढ़ी बैठी हैं। ये संस्थायें समाजमें मनुष्यत्वहीन मनुष्योंके ढालने-वाली शाला (टकसाल) के रूपमें अपना ढलाईका काम कर रही हैं।

पोथीकी विद्या वेचनेवाली संस्थायें मनुष्यको अपना आपा वेचना सिखाती हैं

मनुष्यतासे गिरे हुए समाजके विद्यार्थी या सन्तान इन संस्थाओं के दिए हुए प्रमाणपत्रोंके लालचमें फँस जाते हैं। ये अविद्याके ग्राहक बन जाते हैं और अपने आपको किसी भी मनुष्यरूपधारी पशुपालके हाथमें बेच सकने योग्य बनानेके लिए, अर्थात् किसी मनुष्यशक्ति मोल लेनेवालेसे अपने कर्मको स्वीकार करानेके लिए लालायित हो जाते हैं। ये अक्षर लिखने पढ़नेकी परीक्षामें उत्तीर्ण होनेकी योग्यताका प्रमाणपत्र नामका पत्रका टुकड़ा लेकर अपनेको अपने ही दुष्प्रयत्नोंसे पराधीनताके बन्धनमें जकड़ डालते हैं। ये अपने ही खोटे प्रयत्नसे स्वतन्त्रतालोकके दर्शन करनेकी संभावनाको सदाके लिए खो देते हैं।

अर्थकरी विद्या अविद्या है

इस प्रकारकी अर्थकरी विद्याके साथ सच्ची विद्याका कोई संबंध नहीं है। यह विद्या स्पष्टरूपसे अविद्या है। यह स्पष्टरूपसे मनुष्यत्व हीनता है। यह स्पष्टरूपसे पराधीनता है। यह सब प्रकारसे दुर्नीति-परायण बन जानेके दृढ संकल्पकी आवृत्ति करते रहनेका दृढ संकल्प करना है।

शिक्षाकी उचित परिपाटी

देवोंको भी दुर्लभ इस मानव देहको पशुसुलभ भोगोंमें लगाना मनुष्यमें रहनेवाली महीयसी शक्तियोंका घोरतम अपमान है। यह जलताडन जैसा निष्फल तथा असार उद्योग है। इसलिये यदि किसी भाग्यवानकी बुद्धिमें मानवदेहको पशुसुलभ भोगोंमें लगाने की असारता आती हो और उसे मानवदेहधारणका अभिप्राय पूरा करना आवश्यक लगता हो, तो उसे अपने जैसी भावना रखनेवाले

समाज के लिये शिक्षाका यह अनर्थकारी प्रवाह रोकना ही पड़ेगा। तब उसमेंसे निरर्थक विषयोंको दिया हुआ महत्व छीनना पड़ेगा। तब केवल मनुष्योंमें पायी जानेवाली मूल भ्रान्तियां या निर्बलताओंको मूलसहित उखाड़ फेंकनेमें ही शिक्षाका संपूर्ण बल प्रवाहित करना पड़ेगा।

शिक्षाशास्त्रियोंके लिये सेवा

यदि संसारके शिक्षाशास्त्रियोंके पास आँखें हों तो उनके करने की यही उपर्युक्त महत्वपूर्ण सेवा है। यही शिक्षाको उत्तमसे उत्तम पद्धति है।

बड़ा काम क्या है ?

अपने जीवनको सुन्दर बनाना संसारका सबसे बड़ा काम है। यों तो काम कोई भी हो वह छोटा या बड़ा नहीं होता। मनुष्यके सामने जिस समय जो काम कर्त्तव्यरूपसे उपस्थित होता है, उस समयका वही सबसे बड़ा काम होता है। उसमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देनेपर वही सबसे बड़ा काम करना कहाता है। उस समय उससे बढ़कर और कोई काम नहीं होता। यदि हम उस समय उसे नहीं करेंगे तो उस समयका उचित उपयोग न होनेसे हमारा जीवनको विनष्ट करनेका स्वभाव पड़ जायगा और जीवन सुन्दर बननेसे रह जायगा।

संसारमें औरोंको सुन्दर दीखनेका प्रयत्न करनेवाला एक आसुरी सम्प्रदाय बढ़ रहा है। यह सम्प्रदाय बढ़िया क्षौर, बढ़िया धुले, बढ़िया सिले वस्त्र पहनने आदि उपायोंसे औरोंकी दृष्टिमें सुन्दर

बननेका प्रयत्न करता है। उसके विरुद्ध बहुत कुछ कहा जा सकता है। उसके दोषोंको विज्ञ लोग कल्पनासे ही समझ लें। औरोंको सुन्दर दीखना सुन्दर बनना नहीं है। औरोंको सुन्दर दीखनेका प्रयत्न करना, किंवा औरोंकी वाणीसे सुन्दरताका प्रमाणपत्र ले लेना जीवनकी सच्ची सुन्दरता नहीं है। हमें तो उसी सुन्दरताका उपार्जन करना है, जिससे हमारा मन तृप्त हो सके, जिससे वह हमें साधुवाद दे सके या परितृप्त होकर धन्य धन्य कह सके। हो सकता है कि हम अपने निन्दित रूप, विचार या आचरणको औरोंकी दृष्टिसे ढककर रख लें, परन्तु हम उसे अपनी दृष्टिसे ढककर नहीं रख सकते। हम अपने कुत्सित जीवनको कपटके आच्छादनसे बाह्य जगत्की दृष्टिसे बचाकर रख सकते हैं। परन्तु उसे अपने मनकी दृष्टिसे बचाकर रखना सम्भव नहीं है। इसलिये मनुष्यका मुख्य काम अपनी भावना, अपनी वाणी और अपने कर्मको निर्मल रखना है। हमें अपने प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण होकर रहना है। हमें अपने प्रत्येक कामके विषयमें अपने मनको यह सदुत्तर देना है कि यह काम हमने क्यों किया? यह कैसे न्यायसंगत है? जब तुम अपनी भावना, वाणी और कर्मको निर्मल कर सकोगे, तब तुम्हें अपने जीवनमें वह उज्ज्वलता दीखेगी, जिसमें अपनी सुन्दरताका दर्शन मिला करता है और मन प्रसन्न हो जाता है। अपने जीवनमें, अपने ही मनसे, अपने कर्मों की सुन्दरताका प्रमाणपत्र ले लेना साधारण काम नहीं है। यह संसारका सबसे बड़ा काम है।

हमारे जीवनमें प्रत्येक समय कभी दया, कभी परोपकार, कभी संतोष, कभी कर्तव्यनिष्ठा, कभी उदारता, कभी सरलता, कभी पवित्रता, कभी मनकी महत्ता, कभी वीरता, कभी धीरज और कभी प्रेमका आनन्द लेनेके अवसर आते रहते हैं। यदि इन अवसरोंपर हमारे मनमें किसी भी प्रकारकी आशा शेष न रही हो, यदि हम अहैतुक हो गये हों अर्थात् हमारे मनमें कर्तव्यपालनका प्रत्युपकार करवानेकी भावना न हो, यदि हमारे मनमें किसी भी पार्थिव वस्तुके

खो जानेका डर न रहा हो, बदलेमें किसी भी वस्तुको प्राप्त कर लेनेकी आकांक्षा न रही हो, हमारे मनमें अपने चक्षु, कर्ण, श्रोत्र, नासिका और त्वचाको तृप्त करनेकी इच्छा न रह गयी हो तो निश्चय जानो कि हमारा मन हमको हमारी सचाईका प्रमाण-पत्र देकर उत्साहित करेगा। हमारे मनका हमें उत्साहित करना ही अपने मनसे प्रमाणपत्र ले लेना कहा जायगा। मनुष्यके पास प्रत्येक क्षण अपनी विवेकबुद्धिसे, उपर्युक्त गुणोंका प्रमाण-पत्र लेनेका अवसर आता रहता है। हमारे पास जिस क्षण जिस गुणके प्रमाणपत्र लेनेका अवसर आये और हम उसी क्षण अपनी सम्पूर्ण एकाग्रताका प्रयोग करके उसको ले लें तो यही हमारा उस समय का सबसे बड़ा काम हो।

जैसे जड वस्तुओंकी क्षुद्रता और विशालता आकार और भारसे जानी जाती है वैसे कर्मोंकी क्षुद्रता और महत्ता नहीं जानी जाती। किन्तु कर्मोंकी क्षुद्रता और महत्ताका निर्णय सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचारों से ही होता है।

जैसे सूत्रका थोड़ासा भी तन्तु अलग रहने पर वह सुईके छेदमें नहीं घुसता, इसी प्रकार यदि हमारे कर्ममें थोड़ीसी भी अपवित्रता हो तो वह कर्म हमारे विवेककी सुईके छेद जैसी सूक्ष्म विचारधारामें बहकर, अन्तःकरणके मर्मस्थल तक नहीं पहुँच पाता और वहाँका प्रेम नहीं पा सकता। अर्थात् हमारा अन्तःकरण अपवित्रता के संस्पर्शवाले वैसे कामको स्वीकार नहीं करता और हमें साधुत्वका वह प्रमाण-पत्र नहीं देता, जो हमें उससे लेना ही चाहिये था। इसलिये जिस समयका जो काम है, उसीको उस समयका सबसे बड़ा काम समझकर, उसे अपनी विचारबुद्धिके अनुसार पवित्रताके साथ करना चाहिए कि हमारा मन हमें साधुवाद दे सके और उससे हमारा रोम रोम आनन्दगद्गद होकर नाच सके।

उदाहरणके रूपमें भोजनके समय भोजन ही सबसे बड़ा काम

है। हमें भोजनके सम्पूर्ण नियम और शुद्ध भावनाओंको ध्यानमें रखते हुए भोजन करना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि हमने भोजन करनेका अधिकार पानेके लिये देहका सदुपयोग किया है या नहीं? हमें यह देखना चाहिये कि हम देहको सदुपयोग करने योग्य रखनेके लिये ही भोजन कर रहे हैं या नहीं? हमें केवल इस भावनाकी विद्यमानतामें ही भोजन करनेका अधिकार प्राप्त होता है कि यह देह जिस प्रयोजनके लिये हमें मिला है, हम इसे उसीमें लगाये रहेंगे। हमें भोजनके विषयमें यह भी देखना चाहिए कि वह भोजन स्वाध्यके अनुकूल है या नहीं? वह स्वास्थ्यको हानि पहुँचानेवाला तो नहीं है? हम इस आहारको अपने दैहिक स्वास्थ्यकी उपेक्षा करके स्वादेन्द्रियके वश होकर तो नहीं ले रहे हैं? हम अति भोजन तो नहीं कर रहे हैं? अति भोजनसे शरीरकी हानि होती है, इसलिये अतिभोजन करनेकी ओर विशेष रूपसे सावधान रहना चाहिए।

इसी प्रकार स्नान करते समय स्नानके नियमों और भावनाओंको ध्यानमें रखते हुए स्नान करना चाहिए। स्नानके समय स्नान ही सबसे बड़ा काम है, स्नान जल्दी न करना चाहिए और देर तक करते रहना भी ठीक नहीं है। ठंडे पानीसे स्नान करना विशेष लाभदायक है। जराजीर्ण तथा व्याधिग्रस्त लोग अपनी शारीरिक स्थितिके अनुसार गरम पानीसे स्नान कर सकते हैं। शरीरके ऊपर केवल पानी डाल लेना स्नान नहीं है। रोम कूपोंको भली प्रकार खोल देने तक अँगोछेसे रगड़कर स्नान करना चाहिये। स्नानसे पहले तैल लगाना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। परन्तु इस तैलको साबुन से धो डालना तेलके लाभसे वंचित कर देने वाला होने से हानिकारक है। इसे किसी तेल पोंछनेके वस्त्रसे पोंछ डालना चाहिये। स्नानके अनन्तर दुबारा अँगोछेसे पोंछना चाहिये। पसीनेमें जो क्षार निकलते हैं वे पानी का स्पर्श पानेपर हाथकी थोड़ीसी रगड़से घुलकर धुल जाते हैं। उनके लिये साबनके

प्रयोगका समर्थन नहीं किया जा सकता । साबुनसे स्नान आजकलकी सभ्यताकी जीवनको बोझ बनानेवाली व्याधि है । केवल न छुटनेवाली दैहिक कालिमा आदिके लिये साबुनका प्रयोग किया जा सकता है । शरीरशुद्धिके लिये साबुनके स्थानपर रातको भिगोये आमलोंका तैलमिश्रित घोल काममें लाया जाना चाहिये, जो आँख और त्वचा आदि सबके लिये जीवनदायक रसायन है। स्नानके कपड़े अपने आप धोकर सुखाने चाहियें। इस कामको दूसरोंके भरोसे छोड़ देना ठीक नहीं है। स्नानके पश्चात् पहने वस्त्रोंमें यह भावना होनी चाहिए कि इन वस्त्रोंसे सचमुच हमारी लज्जाकी रक्षा हो रही है। ये वे शुद्ध वस्त्र हैं, जिनको हम स्वाभिमानके साथ पहननेके अधिकारी हैं।

निद्राके समय निद्रा ही सबसे बड़ा काम है। निद्राके सम्पूर्ण नियमों और भावनाओंको ध्यानमें रखते हुए निद्रा लेनी चाहिये। मनमें शुभचिन्तन लेकर ही निद्रा लेनी चाहिये और इस प्रसन्नताके साथ सोना चाहिये कि हमने दिनभर कर्त्तव्यपालन किया है, हमने दिन भर शरीरका सदुपयोग किया है, अब हमें इस देहको विश्राम देना इसलिये आवश्यक हो गया है, कि जिससे हम निद्रामें शान्तिका उपभोग करके जागनेपर नवजीवन लाभ करके, फिर पूरे उत्साहके साथ अगले दिनके पवित्र कार्योंमें प्रवृत्त हो सकें।

विश्रामके समय विश्राम ही सबसे बड़ा काम है। परन्तु ध्यान रहे कि विश्रामको आलस्यमें परिणत नहीं होने देना चाहिए। किसी-से भी शरीरको दबाने आदिकी शारीरिक सेवा नहीं लेनी चाहिए। विश्रामके समय शुभचिंतनोंको अपना साथी बनाये रखना चाहिए या शुभचिन्तनोंके सूक्ष्मरूप रामका निरन्तर भजन करते हुए अपना समय बीतने देना चाहिये।

स्वच्छताके समय वही सबसे बड़ा काम है। अपनी शुद्धि स्वयं करनी चाहिए।। उसके लिए नौकर रखना कदापि अभीष्ट नहीं है। घरके कोने-कोनेमें शुद्धिका ध्यान रखना चाहिए।

अध्ययनके समय अध्ययन ही सबसे बड़ा काम है। ग्रन्थकारके

मनतक पहुँचनेकी पूर्ण एकाग्रतासे अध्ययन करना चाहिये। अपनी पुस्तकोंको यथास्थान संभाल कर रखना चाहिए।

अवकाशके समय अवकाशका सदुपयोग करना सबसे बड़ा काम है। अवकाश हमारी न्यूनताको पूरा करनेके लिए आता है। ठाली बैठे रहना आलसियों अकर्मण्योंका काम है। ठाली बैठे रहना अवकाश बनानेवालेका अभिप्राय नहीं है।

पिता माताकी सेवाके समय उनकी सेवा सबसे बड़ा काम है। यदि हम अपने जीवनको पवित्र बना सकें, तो इससे हमारे माता पिताकी पूरी सेवा हो जाय। सन्तानकी पवित्रता मातापिताके लिए अत्यन्त सुखदाई घटना है। इसके अतिरिक्त जब कभी उनकी व्यक्तिगत सेवाका अवसर उपस्थित हो तब हमें अपनेको कृतार्थ समझकर, उनको अपने हितचिंतक निराकार अनन्त भगवान्‌की साकार मूर्ति मानकर, चित्त लगाकर सेवा करनी चाहिए।

इसी प्रकार कभी गुरुजन, भाई, बहन, परिजन, स्वजन, अतिथि, समाज और देशकी सेवाका समय उपस्थित होनेपर इनकी सेवा हीं हमारा सबसे बड़ा कर्त्तव्य हो जाता है। इस प्रकार जीवनभर कर्त्तव्य पालन करते रहनेसे ही ईश्वरका दर्शन करना सम्भव है। जो मनुष्यका सबसे पहला सबसे मुख्य और सबसे महान काम है

भगवद्भजनके समय भजन करना ही सबसे बड़ा काम है। अपने अस्तित्वका भगवदस्तित्वमें खोया जाना ही भजन ठीक चलनेकी परीक्षा है।

इस रीतिसे अपने अपने मनोंसे प्रत्येक कार्यकी सम्पूर्णताका प्रमाण-पत्र ले लेना ही सबसे बड़ा काम होता है। अर्थात् हमारे मनमें यह सन्तोष होना ही चाहिए कि हमारे सामने जो जो कर्त्तव्य आते रहे, हमने उनको सम्पूर्ण ध्यान लगाकर पूरा किया है।

किसी काममें जी न लगनेकी भावना निकम्मे और लक्ष्यहीन पुरुषोंमें पाई जाती है। यह बड़ी भयंकर व्याधि है। इसने करोड़ों मनुष्योंके जीवनोंका सर्वनाश करके फेंक दिया है। मनुष्यको काममें

जी न लगनेकी व्याधिसे जान बूझकर बचना चाहिए। काममें जी न लगनेका यही अभिप्राय है कि इनके लिए संसारमें न तो कोई बड़ा काम है; और न इनका कोई कर्त्तव्य है। इस विचारके लोग सर्वतोभ्रष्ट (आवारा) हो जाते हैं। इनका लक्ष्य स्थिर नहीं होता अर्थात् इनका लक्ष्य शांति नहीं होता। इनका मनुष्यताके साथ सम्बन्ध नहीं होता। इन्हें मनुष्यताका पता ही नहीं होता। ऐसे लोग जुआरियोंके समान कोई भी परिश्रम करना स्वीकार नहीं करते और भटकने वाले आमिषलोभी जन्तुओंके समान किसी आकस्मिक लाभकी आशामें रहते हैं। ये लोग अपने मनोंमें अशुभचिन्तनोंको स्थान दे देकर दुर्बल, अशांत, निरुद्यम और पराधीन हो जाते हैं। ये जब तक दृढताके साथ मनमेंसे इस व्याधिको नहीं निकाल देंगे तबतक इनको सारा संसार प्रतिकूल ही प्रतिकूल प्रतीत होता रहेगा। ऐसे लोग प्रत्येक समय यह सोच सोचकर दुःखी होते रहेंगे कि सारा संसार हमारे मार्गमें विरोधी हो रहा है। ऐसे लोग कर्त्तव्यको बोझ और बन्धनरूप माना करते हैं। सब जग जानता है कि कभी न कभी प्रत्येक मनुष्यको कुछ विरोधी अवस्थाओंका सामना करना ही पड़ता है। ऐसे लोग विरोधी अव-स्थाओंका सामना पड़ते ही उस कार्यसे मुँह मोड़ लेते हैं और समझते हैं कि सारा संसार हमको कष्ट और बन्धनोंमें डालना चाहता है और सब हमारे विरुद्ध षड्यन्त्र रच रहे हैं। कर्त्तव्योंमें इस प्रकारका विराग सचमुच आलस्य और ताम-सिकता है। यह वैराग्यका कोई सा भी रूप नहीं है। सच्चा वैराग्य तो भोगवासनाके त्यागमें है। कर्तव्य त्यागनेमें वैराग्य कहाँ है? ऐसे मनुष्योंने भोगवासना स्वेच्छाचार और आलस्यके वश होकर ही इस तामसिक निरानन्द और अशान्त अवस्थाको पाया है। इनके इस रोगका एकमात्र प्रतिकार लक्ष्यको स्थिर कर लेना है। लक्ष्यके स्थिर होते ही ऐसे लोग देखेंगे कि सारा संसार उनकी महत्वाकांक्षा को पूरा करनेमें उनकी पूरी पूरी सहायता कर रहा है। सारी परि-

स्थिति उनको आगे ही आगे धकेलती बढ़ाती चली जा रही है। उनके मित्र प्रत्येक स्थानसे उन्हें ऊँचा उठानेके लिए प्रेमसे उत्साहित कर रहे हैं। ऐसा समय आने पर उनका प्रत्येक क्षण अमूल्य हो जायगा। तब भविष्यत् और अतीतकी दुर्भावनाको छोड़ देनेके कारण वर्तमान क्षणका सुन्दर उपयोग, पूर्ण एकाग्रता और सम्पूर्ण शक्तिसे होने लगेगा। फिर न तो मनुष्यको पश्चात्ताप करना पड़ेगा और न उसे किसी आनेवाले सुखकी प्रतीक्षा करनी पड़ेगी फिर तो वह स्वयं ही सुखका महासागर हो जायगा। मनुष्यका सुखसागर बन जाना ही संसारका सबसे बड़ा काम है।

संपक्षेमें कहें तो लक्ष्यको स्थिर कर लेनेसे ही सबसे बड़ा काम करनेकी ताली मनुष्यके हाथ आ जाती है।

अच्छा स्वभाव

शभ कार्योंको बार बार आचरण करके उन्हें अपने जीवनका अच्छेद्य अंग बनाकर रखना अच्छा स्वभाव कहाता है। यदि तुम्हें सुखी रहनेकी इच्छा हो तो तुम सुखी रहनेका स्वभाव बनालो। विचार कर देखो कि एक मनुष्य सुखी और दूसरा दुखी किस लिये है? बात यह है कि जो सुखी है उसका स्वभाव ही सुखी रहनेका हो गया है और जो दुःखो है उसका स्वभाव ही दुःखी रहनेका पड़ गया है। सुख और दुःख दोनों मनुष्यको अपने स्वभावमेंसे मिला करते हैं। ये स्वभावके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तु या अवस्थासे नहीं मिला करते! एक तो वह मनुष्य है जो अकिंचन होते हुए भी परिपूर्ण शान्त और सुखी है तथा प्रत्येक क्षण परमार्थकी चिन्तामें निमग्न है। दूसरा वह है जो विपुल राज्य और ऐश्वर्य

पाकर भी प्रत्येक समय अर्थपिपासासे सताया जा रहा है और अशान्त तथा दुःखी बन रहा है। परमार्थके चिन्तनकी बात तो अलग रही, वह प्रत्येक समय दुश्चिन्ताओंमें डूबा रहता है। इस सबका एक ही कारण है कि जिसका जैसा स्वभाव है वह वैसा ही है। जिसने परिपूर्ण शान्त और सुखी रहनेका स्वभाव बना लिया, वह प्रत्येक अवस्थामें वैसा ही रहेगा। जिसने अर्थलिप्सु, अशान्त और दुःखी रहनेका स्वभाव बना लिया वह प्रत्येक अवस्थामें वैसा ही रहेगा। पहले तो मनुष्य स्वभाव बना लेता है और फिर स्वयं इस स्वनिर्मित स्वाधीन स्वभावके वशमें हो जाता है। अपने स्वभावको बनाना और उसे चाहे जैसा बनाना, प्रत्येक मनुष्यके हाथकी बात है। स्वभावके वशमें होकर रहना मनुष्यका स्वभाव है। दुःस्वभाव मनुष्यकी वह स्वाधीन व्याधि है जो इसपर इसीके करनेसे चिपटी है।

यों तो अपने जीवनको अपनी रुचिके अनुसार सुखमय बनाकर रखना सभी चाहते हैं, परन्तु वे मानव जीवनको सुखमय बनानेवाली स्वभाव निर्माणकी महत्वपूर्ण स्थितिपर ध्यान नहीं देते और दुष्ट स्वभाव बनने देकर अपनेको वृथा ही दुखोंको सौंप देते हैं। जैसे प्रत्येक मनुष्य अपनी सम्पत्तिको सुरक्षित रखना चाहता है, ऐसे जिस बातके ऊपर उसके सम्पूर्ण जीवनकी भलाई-बुराई निर्भर हो, उसे सुरक्षित रखनेकी इच्छा भी प्रत्येकमें स्वभावसे होनी चाहिये। ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका कि मनुष्यजीवनका सुखी दुखी होना स्वभावपर निर्भर है। जब कोई कामका समय आनेपर बिना सोचे विचारे काम कर डालता है तब वैसा करना मनुष्यका स्वभाव समझा जाता है। इसका यही अभिप्राय है कि इस बातके सम्बन्धमें सोच विचारका काम पहले ही किया जा चुका और अब उसे स्वभावका रूप मिल चुका। अब इसके सम्बन्धमें सोचने विचारनेकी कोई आवश्यकता नहीं रही। यदि किसी स्वभावके अनुसार कुछ काम कर डालनेपर उस कामका परिणाम बुरा निकलनेपर मनको दुखीकरता हो तो समझना चाहिये कि इसके सम्बन्धमें उचित रूपसे

सोचा नहीं गया और वह स्वभाव किन्हीं बरे प्रभावोंसे प्रभावित हो कर उधाररूपमें अपना लिया गया। ऐसे उधार लिए गए स्वभाव ही बुरे स्वभाव कहाते हैं। अच्छे स्वभाव वही होते हैं जिनके लिए अन्तमें तो पश्चात्ताप होता ही नहीं, किन्तु मनमें इस विश्वासके कारण प्रत्येक समय प्रसन्नता बनी रहती है कि हम अच्छे मार्गपर चल रहे हैं। ऐसी निःशङ्क अवस्था उत्पन्न करनेकी शक्ति सुस्वभावमें ही होती है। इसलिए मनुष्यको अच्छे स्वभाव अपनाने चाहिएँ।

जो मनुष्य अज्ञानान्धकारमें डूबा रहकर परिणामका कोई विचार न करके बुरे स्वभाव बनाता जा रहा है, उसके बुरे स्वभाव उसको बाँध डालनेके लिए अपने हाथों बनाये दुःखरूप बंधनजाल बन जाते और उसके विनाशके कारण हो जाते हैं। परन्तु जो मनुष्य ज्ञाना-लोकमें रहकर अच्छे स्वभावोंके अच्छे सुखमय परिणामोंपर पूरा-पूरा विचार कर अच्छे स्वभाव बनाता है उसके स्वभाव दुःखदायी बंधनस्वरूप कभी नहीं होते। वे (स्वभाव) तो उसकी रक्षा करने के लिए अपने हाथोंसे बनाये हुए दुर्भेद्य सुदृढ दुर्ग बन जाते हैं और उसे प्रत्येक समय संकटसे बचाते हैं। उसके अच्छे स्वभाव उसे सदा पवित्रता रूपी अभेद्य परकोटेके भीतर सुरक्षित रखते हैं। जो मनुष्य बुरे स्वभाव बना रहा है वह आत्मघात कर रहा है। जो अच्छे स्वभाव बना रहा है वह आत्मरक्षा कर रहा है। स्वभावको बुरा या अच्छा बनाना मनुष्यके अपने वशकी बात है। स्वभाव बनाना ही मनुष्यका स्वभाव है। मनुष्य अपने समग्र जीवन बहुतसे स्वभावोंको इकट्ठा करनेके अतिरिक्त और करता ही क्या है? मनुष्य जिस दिन जन्म ग्रहण करता है उसी दिनसे स्वभाव बनाना प्रारम्भ कर देता है। यह जो नवजात बालक खाटपर पड़ा-पड़ा अनन्त वार हाथ-पैर फेंक रहा है, विविध प्रकारकी देहचेष्टा कर रहा है तथा हर्ष विषादका अनुभव ले रहा है, यह सब कुछ इसके भविष्य जीवनके सुदृढ और परिपक्व स्वभाव बन जानेवाले

हैं। इस बालककी प्रत्येक मांसपेशी प्रत्येक ग्रन्थि आज जो असंख्य-बार हिलायी जा रही है, वह स्वाभाविक गतिशीलताको प्राप्त कर लेनेके लिये हिलाई जा रही है। हमारी प्रत्येक वासना और हमारा प्रत्येक अनुभव हमारे मानस समुद्रको बार-बार परिचालित कर करके एक ऐसी चिंतालहरी बना डालता है फिर उसका हम पर पूर्णाधिकार इतना प्रतिष्ठित हो जाता है कि फिर उसका नष्ट होना कठिन हो जाता है। हमारे मानसकी एक एक अस्फुट ध्वनि हमारे चित्तके अन्तरतम प्रदेशमें छिपे हुए अव्यक्त ज्ञानभण्डारको व्यक्त कर देनेके लिए बार बार अविश्रांत प्रयत्न करती रहती है और अन्तमें एक सुग्रथित भावनामयी भाषा बन बनकर बाहर आती है। मनुष्यको जो कर्मशक्ति, विचारशक्ति, तथा वाक् शक्ति, मिली हुई है उसके भीतर जो हर्ष, शोकादि भरे हुए हैं और उसकी जो भावलहरीकी अभिव्यक्ति है, ये सबके सब उसको मार्ग पड़े पदार्थके समान नहीं पा गये हैं। इन्हें पाने के लिये उसने लगातार परिश्रम किया है। ये सब उसके परिश्रमजन्य स्वभाव से मिली हुई वस्तु हैं। इस स्वभावको बनानेकी स्वाभाविक या मूल प्रेरणा और शक्तिमें से ही मनुष्योंके जीवन भले और बुरे बना करते हैं। बार-बार अच्छे काम करते रहना ही अच्छे स्वभाव बनाने का अभिप्राय है। अच्छा स्वभाव होना ही अच्छा जीवन हो जाना है। मनुष्योंको अपने जीवनमें देखना, सुनना, बोलना, चलना, खाना, पहनना तथा दूसरोंसे वर्ताव करना आदि जितने काम करने पड़ते हैं, उन सबके शुभ या अशुभ समस्त परिणामोंका पूर्ण विचार करके ही किसी कामको अच्छा या बुरा समझा जा सकता है। यदि उन कामोंसे मनकी स्थिति शान्त होती है तब तो वह काम अच्छा है और यदि उन कामोंसे मनकी स्थिति अशान्त होती है तो वह काम बुरा है। इस प्रकार तुम अपनी मानसिक शान्ति अशान्ति-का पूर्ण विचार करके मनकी शान्तिपूर्ण अवस्थाकी रक्षा कर सकने-पर ही यह समझ सकते हो, कि मैंने अच्छा काम किया है।

जो कुछ शुभ है वही सत्य है। जो अशुभ है वही असत्य है। शान्त शुद्ध या सत्य एक ही बात है। अपनेको शान्त या शुद्ध रखना ही सत्यकी रक्षा करना कहाता है। यदि तुम अपने जीवनमें सत्यकी रक्षा करना चाहते हो तो अपनेको शान्त रखनेकी कला सीखो और उसे अपना अभ्यास बनाओ। अपनेको शान्त रखनेकी कला सीख लेनेपर तुम्हें अपना शुद्ध मन दीखने लगेगा। जब तुम्हें अपना शुद्ध मन दीखने लगे तब समझ लेना कि तुम्हें ईश्वर दर्शन हो गया। क्योंकि शुद्ध मन ही ईश्वर है। जिसका मन शुद्ध हो गया उसे ईश्वर लाभ हो गया। ईश्वर शुद्ध मन वाले मनुष्यमें शुद्ध मनके रूपमें विराजमान है। जैसा ईश्वर शुद्ध मनवालेमें है वैसा ही ईश्वर सर्वव्यापी है। शुद्ध मन ही ईश्वर है। जिसका मन शुद्ध हो गया है उसे ईश्वरलाभ हो गया है। संसारमें ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ यह शुद्ध मनरूपी ईश्वर तत्व नहीं। शुद्ध मनका दर्शन करनेके पश्चात् अर्थात् मनको शुद्ध रखनेका अभ्यास बना लेने के पश्चात् ईश्वर सर्वत्र सब रूपोंमें दीखने लगता है। जब मनको शुद्ध रखनेका अभ्यास हो जाता है तब सर्वभूतोंमें,ईश्वर दर्शन करनेका अभ्यास स्वयमेव अनायास हो जाता है। मनही चक्षु, कर्ण, नासिका जिह्वा, कर, चरण आदि द्वारा देखने, सुनने, सूँघने, चलने-बोलने देने-लेने, आने जाने आदिके सब काम किया करता है। जब किसी वस्तु या व्यक्तिको देखा जाता है तब उसे आँख नहीं देखती किन्तु मन ही देखता है। मनोयोग न होने पर वस्तु आँखोंके सामने होनेपर भी नहीं दीख सकती। यदि देखने-वाला मन शुद्ध हो तो शुद्ध देखता है और अशुद्ध हो तो अशुद्ध देखता है। मनके शुद्ध हो जानेपर चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, कर, चरण आदिके द्वारा किये समस्त कर्म शुद्ध होते हैं। जैसे नीला उपनेत्र लगा लेनेपर सारा संसार नीला हो जाता है, ठीक इसी प्रकार मनको शुद्ध या अशुद्ध कर लेनेका अभ्यास पड़ जानेपर जीवनके समस्त कार्य उसी अभ्यासके अनुसार शुद्ध या

अशुद्ध होने लगते हैं। एकवार चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा, किंवा, देहको सुख पहुँचा देनेके लिये कोई कार्य कर लेने पर, फिर दूसरी वार उसीको कर लेनेकी इच्छा होने लगती है। यदि इस इच्छाके अनुसार उसे फिर दुवारा कर लिया जाता है तो उसे तिवारा और फिर वार वार कर लेनेको इच्छा होने लगती है। कहने का भाव यही है कि तुम जिस कामको एकवार कर लोगे वह काम वार वार तुम्हारा स्वभाव वननेका प्रयत्न करेगा और प्रायः स्वभाव बन ही जायेगा। इसी प्रकार यह भी समझ लो कि जिस कामको करना त्याग दिया जाता है उसे त्याग देनेका अर्थात् न करनेका भी स्वभाव वन जाता है। इस प्रकार या तो त्यागना या अपनाना ही मनका स्वभाव है। किसी कामको पहली वार करने या न करनेमें ही कुस्व-भाव या सुस्वभावका मूल छिपा रहता है। इसलिये किसी भी बुरे कामको एक वार करनेमें क्या डर है? ऐसा कहकर उसे अपने जीवनमें आनेका अवसर मत दो। नहीं तो यह वुरा काम तुम्हारे स्व-भावमें घुस वैठेगा और तुम्हारे जीवनको असत्य,असुन्दर तथा अशिव बना डालेगा। इसलिये जव तुम किसी कामको प्रथम वार करने लगो तब उसके सत्य असत्यका, शुभ अशुभका विचार भले प्रकार कर लिया करो। ऐसा करनेसे दुष्कर्मका अभ्यास हो जानेकी शंका नहीं रहेगी। कार्य करनेसे प्रथम उसके भले-वुरेपनका विचार कर लेनेका अभ्यास वना लेना सुअभ्यास या सुस्वभाव है। मनमें आजानेवाली किसी बातपर कोई विचार न करके उसे करने लगना दुरभ्यास या कुस्वभाव है। कोई विचार किये विना यन्त्रके समान काम कर डालना अभ्यास कहाता है। जव कोई सत्यासत्य विचार का अभ्यास वना लेता है तब वह प्रत्येक काम करनेसे प्रथम ऐसा विचार भी यंत्रके समान करने लगता है। इसी प्रकार अवि-चारसे काम करनेका अभ्यास वना लेनेपर विचारहीनता भी यन्त्रके के समान काम करने लगती है और मनुष्यको निकृष्टसे निकृष्ट काममें सान देती है। जीवनमें सत्य असत्यका विचार करके

सत्यकी रक्षा करनेका अभ्यास बना लेना अच्छा स्वभाव बनानेका अभिप्राय है। जो मनुष्य समझ बूझकर अर्थात् सत्यासत्यका विचार करके किसी कामको करता है, वह उस कामका कर्ता नहीं रहता, किन्तु उसका कर्ता उसका शुद्ध मन होता है। जो विचारहीनतासे किसी कामको करता है उसका कर्त्ता उसका सुखेच्छारूपी अशुद्ध और अन्धा मन होता है। तुम्हारा चाहे जैसा बनना तुम्हारी ही छांटपर निर्भर है। तुम जैसा बनना चाहो वैसे ही बन सकते हो। तुम जैसे बनना चाहो वैसे ही संकल्प बढ़ाने प्रारम्भ कर दो। यदि तुम विवेकी बनना चाहो तो सदसत्का विचार करनेका अभ्यास बनाओ। यदि तुम विचारहीनताका अभ्यास बनाये रक्खोगे तो तुम्हें इसका कटुफल भुगतना पड़ेगा। तुम अविवेकी बने रहोगे। दोनों ही तुम्हारे वसकी बातें हैं। तुम्हें स्वतन्त्रता दी गई है कि दोनोंमेंसे किसी एकको अपना लो। विवेकी बनना प्रत्येक चक्षुष्मान्का धर्म है। अविवेकी बनना अन्धोंका मढ स्वभाव है। सुखेच्छा मनुष्यका विषकुम्भ पयोमुख शत्रु है। सुखेच्छाको पूरा करना अन्धा अभ्यास है। सुखेच्छा पूरी करनेमें लगे रहनेसे मानव जीवन अंधकारमय पाशविक जीवनमें परिणत होता चला जाता है। अन्धा जो कुछ करता है अन्धेके समान करता है। वह अन्धा ही आता, अन्धा ही रहता और अन्धा ही चला जाता है। वह त्यागका नाम देकर जो कुछ त्यागता है वह अच्छाईको ही त्यागकर बुराईको ही पकड़ लेता है। विचारशील पुरुष विचार करके जो त्यागता है वह बुरेको त्यागकर अच्छेको अपनालेता है।

यह मानव जीवन देह, देहके उपयोगमें आनेवाले पदार्थ और जीवनकाल इन तीन उपकरणोंसे मिलकर बनता है। मनुष्योंमें पाई जानेवाली स्वभाव बनानेकी शक्तिका यही अभिप्राय है कि वह इन तीनों उपकरणोंका ठीक ठीक उपयोग करना सीख ले।

यदि किसीको देहका सदुपयोग करना हो तो वह अकेले देहका सदुपयोग नहीं कर सकता। उसे साथमें तीनों ही का

सदुपयोग करना पड़ेगा। तब वह यह नहीं कर सकेगा कि देहकी आवश्यकताको पूरा करनेवाले पदार्थोंका और देहके जीवनकालका असदुपयोग करे। इसी प्रकार यदि किसीको देहके उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंका और देहके जीवनकालका सदुपयोग करना होगा तो उसे साथमें देहका भी सदुपयोग करना पड़ेगा। तब उससे देहका असदुपयोग नहीं सकेगा। इन तीनों उपकरणोंमेंसे एककी भी उपेक्षा करके शेष दो उपकरणोंकी रक्षा नहीं की जा सकती। इन तीनों उपकरणोंमेंसे किसी एककी भी रक्षा कर लेनेपर शेष दोकी उपेक्षा करना असम्भव होता है। किसी एककी भी रक्षा कर लेनेपर शेष दोकी रक्षा करनी ही पड़ती है। इसलिये यदि हम प्रत्येक काममें इस बातका विचार करते रहें कि इस काममें हमारे शरीर, जीवनोपयोगी पदार्थ तथा समय इन तीनोंमेंसे किसी एकका भी दुरुपयोग तो नहीं होरहा, तो इससे हमारे जीवनमें सुस्वभावोंको स्थान मिलता चला जाता है। यदि हम इस ढंगका विचार करके अपने स्वभाव बनानेमें प्रयत्नशील हो जायें तो हमारे जीवनमें अच्छे ही स्वभाव प्रविष्ट हो सकें। तब हमारे जीवनमें एक भी बुरा स्वभाव स्थान न ले सके। तब हमारा सम्पूर्ण जीवन सुगठित हो जाय। जब कोई आचरण हमारे जीवनका अछेद्य अंग बन जाता है तब वही हमारा स्वभाव कहाने लगता है।

यहाँ तक यह बात समझमें आ गई कि जीवनके स्वभावजैसे आवश्यक अंगको अच्छा बनानेमें जान-बूझकर उपेक्षा करना, अभागे मनुष्यकी कितनी बड़ी मूर्खता है? हमारा सम्पूर्ण जीवन जिन छोटे छोटे स्वभवोंके समूहसे ढलता है, उन सब स्वभावोंके अच्छा होनेसे ही हमारे जीवनका उद्देश्य सुरक्षित रह सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जीवनका उद्देश्य केवल अच्छे स्वभाव बना लेना है। हमें यह जान लेना चाहिए कि मनुष्यके जीवनमें अच्छे स्वभाव बनानेकी स्वाभाविक तपस्या जन्मसे ही आरंभ हो जाती है। यह मनुष्यप्राणी संसारमें उतरते ही तपस्या करनेकी शक्ति और तपस्या करनेके

स्वभावको साथ लेकर आता है । तपस्याकी शक्ति और स्वभाव दोनों उसे किसीसे उधार लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। तपस्याकी शक्ति और स्वभाव दोनों मनुष्यको ऊँचे मार्गमें लेजानेवाली वस्तु हैं। मनुष्य आजीवन तपस्वी प्राणी है। मनुष्य पतित प्राणी नहीं है। वह सत्य, शिव, सुन्दर पिताका औरस पुत्र है। तपश्चर्या करनेसे उसे अत्यन्त प्रसन्नता होती है। तपश्चर्या करना ही उसका मनुष्यत्व है। यह मनुष्य इस मनुष्यलोकमें तपश्चर्या करनेकी जिस शक्ति और स्वभावको लेकर आता है, उस तपश्चर्याकी सफलता मनुष्यमें अच्छे स्वभाव बन जानेपर ही होती है। उन अच्छे स्वभावोंमें ही मनुष्य जीवनकी सफलता रहती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि जन्मसे लेकर आचरण किये हुए सुस्वभावरूप तपश्चर्याको सुरक्षित रखकर ही मनुष्यताको पाया जा सकता है। यदि मनुष्य स्वभाव बनानेमें थोड़ी सी भी उपेक्षा कर दे तो समझ लेना चाहिये कि मनुष्यता हाथसे चली गई और जीवन व्यर्थ हो गया। यदि स्वभाव बनते समय स्वभावकी देख भाल न करनेके कारण, जीवनमें एक भी बुरा स्वभाव प्रविष्ट हो जाय तो वह सारे जीवनको गँदला और निन्दित बना डालता है। उस निंदित जीवनमें कुछ अच्छे स्वभाव दीखने पर भी वे सब मूल्यहीन और व्यर्थ हो जाते हैं। जैसे एक बिन्दु विष एक दुग्धपात्रको विष बना देता है और एक दुग्धपात्र एक बिन्दु विष तकको दूध नहीं बना सकता वैसा ही बुरे और अच्छे स्वभावोंमें पार्थक्य रहता है। एक भी बुरा स्वभाव सारे स्वभावोंको दूषित कर डालता है। समस्त अच्छे स्वभावोंसे एक भी बुरे स्वभावका दूषण नहीं निकाला जा सकता। पहले एक बार बुरे स्वभाव पड़ जाने पर फिर उन्हें छोड़ना सुकर नहीं होता। फिर तो वह पालकर भगाये कुत्तेके समान बार बार लौट लौटकर मनुष्य पर अपना प्रभाव डालनेके अनथक प्रयत्न करता है। बुरे स्वभाव अर्जन करके फिर उन्हें त्यागनेका कष्ट उठानेकी अपेक्षा, प्रारम्भसे ही केवल अच्छे स्वभाव बनाना बुद्धिमत्ता है। बुरे स्वभाव बनाना

मनुष्यजीवनकी अस्वाभाविक अवस्था है। बुरे स्वभाव छोड़ना जीवनकी कठिन अवस्था है। अच्छे स्वभाव बनाना मनुष्यजीवनकी स्वाभाविक, सरल और सुगम अवस्था है। अच्छे स्वभाव बनानेकी तपस्या करते रहना मनुष्यजीवनधारण करनेका एकमात्र अभिप्राय है। मनुष्यकी ऊर्ध्वगामी उदार शक्तियें स्वभावसे तपस्याको अपनाना चाहती हैं। मनुष्यके जन्म ग्रहण करनेपर उसके आसपास बुरे स्वभाववाले दृष्टान्तोंकी अधिकता होनेपर उसमें बुरे स्वभाव प्रविष्ट हो जाते हैं। मनुष्य आसपासकी परिस्थितिमेंसे ही स्वभावार्जनका काम करता है। इसलिये मनुष्यका अच्छे वातावरणमें रहना परमावश्यक है। बुरे स्वभावोंकी अधिकताकी अवस्थामें बुरे स्वभावोंका प्राप्त कर लेना ही सुगम प्रतीत होने लगता है। परन्तु ठीक बात तो यह है कि बुरे स्वभाव बनाना सुगम नहीं है। सुगम उसीको कहा जाता है जिसमें स्वभाव सहायक होता है। मनुष्यके स्वभावमें एक गंभीर तपस्या घुसी हुई है। वह तपस्या उसे संसारमें भेजते समय विधाताका दिया गया वह पाथेय है, जिसमें जीवन बितानेकी उत्तमतम पद्धतिका रहस्य अंकित है। वह तपस्या प्रत्येक समय मनुष्यको सावधान करती रहती है और उसे बार बार कर्त्तव्यपालन करनेकी प्रेरणा देती रहती है। मनुष्यकी इस स्वाभाविक तपस्याको भय, शंका या लज्जाका कोई भी काम नहीं रुचता। वह तो जीवनको निर्मल देखना चाहती है। परन्तु संसारका मूढ समाज अपनी इस तपश्चेष्टाका कहना न मानकर, इससे कोई काम न लेकर इसे निकम्मा बना देता है। मनुष्यके भीतर रहनेवाली इस स्वाभाविक तपश्चेष्टाको व्यर्थ करते रहनेका नाम ही बुरा स्वभाव है। मनुष्यके हृदयमें बुरे स्वभावके विरुद्ध अनंत सूचनायें भरी पड़ी हैं। इसीसे कहते हैं कि बुरे स्वभाव स्वभावविरुद्ध होते हैं। बुरे स्वभावोंको किसी भी प्रकार स्वभावकी सहायता नहीं मिल सकती। बुरे स्वभावको सुगम समझना और वृक्षको भूगर्भमें प्रविष्ट होजानेवाला समझना एक सी असम्भव

कल्पना है। जैसे वृक्षकी स्वाभाविक शक्तिका विकास शाखा प्रशाखा तथा पत्र पुष्प फलोंसे सुशोभित होकर आकाश मार्गमें बढ़ते जाना है, जैसे कीचड़में सनकर भूगर्भमें प्रविष्ट होजाना उसकी स्वाभाविक अवस्था नहीं है, ऐसे ही मनुष्यमें अच्छे स्वभाव बना बनाकर, मनुष्यतारूप अभिप्रेत अवस्थाको प्राप्त कर लेना स्वाभाविक शक्तिके विकसित होनेकी अवस्था है। ऊपर कहा जा चुका है कि बुरे स्वभाव, स्वभावका विरोध करनेवाली अवस्था हैं। बुरे स्वभावोंको उत्पन्न होते ही मनुष्यस्वभावका विरोध देखना और सहना पड़ता है। अच्छे स्वभाव रचनात्मक होते हैं। अर्थात् वे स्वाभाविक शक्तिसे बनते चले जाते हैं। बुरे स्वभाव ध्वंसात्मक होते हैं। अर्थात् वे स्वाभाविक कल्याणकारिणी शक्तिको नष्ट या व्यर्थ करके पनपनेवाले होते हैं। अच्छे स्वभाव सहजसाध्य होते हैं। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि मनुष्य स्वभाव बनानेके रहस्यको ठीक ठीक समझ ले। स्वभाव बनानेके रहस्यको समझ लेनेपर अच्छे स्वभाव बनाना सम्भव और सुकर प्रतीत होने लगता है।

जो काम किसी दिन किसी समय किया जाता है, मनमें उसकी स्मारक लिपि उसी क्षण लिख दी जाती है। दूसरा दिन आनेपर उस समय मनमें पहले दिन आचरण किये कर्मकी पुनरावृत्ति करनेकी इच्छा जाग उठा करती है। तब इस इच्छाको कार्यरूपमें परिणत कर लेनेपर स्मारकलिपि मनमें और गहरी अंकित होने लगती है। फिर तीसरा दिन आनेपर यदि हम उस कार्यकी पुनरावृत्ति करनेकी इच्छाको फिर कार्यरूपमें परिणत कर डालें तो वही हमारा पक्का स्वभाव बन जाता है। उस स्वभावके अच्छा होनेपर उसका परिणाम मधुर ही होता है। उस स्वभावके बुरा होनेपर उसका परिणाम विषमय होता है। अच्छा स्वभाव दिनपर दिन मधुरसे मधुरतर और मधुरतरसे मधुरतम हो होकर, आचरण करनेवालेको अमृतका आस्वादन कराता है। बुरा स्वभाव दिनपर

दिन कड़वेसे कड़वा होता होता सारे जीवनको विषमय करके छोड़ता है।

प्रातःकाल नींदसे उठकर, रात्रिको निद्रामग्न होने तक जाग्रत अवस्थाके प्रत्येक मुहूर्त अच्छे स्वभाव बनानेके अनन्त अवसर हैं। अच्छा काम करना ही अच्छा स्वभाव है। अच्छे काम न करना ही बुरा काम है। निकम्मापन या आलस्य भी घृणित काम है। निकम्मापन या आलस्य कल्याणसे विमुख हो जाना है। आलस्यसे मनुष्यके कल्याणका नाश हो जाता है। कल्याणका नाश होना और अकल्याणका उत्पन्न हो जाना एक ही अवस्था है। कल्याणकारी काम करते रहना ही अच्छा स्वभाव बनाना है। सच्चा कर्म वही है जिसका आचरण करनेके लिए मनमें स्वभावसे प्रेरणा आती है। स्वभावसे तो मनमें आत्मकल्याण करनेकी ही प्रेरणा आया करती है। इसलिए पहले कल्याणकारी और अकल्याणकारी कर्मोंका पहचान करके फिर कल्याणकारी कर्मोंका आचरण करनेसे ही अच्छे स्वभाव बनते हैं।

मनुष्यके जीवनमें कल्याणकारी कर्म करनेके अवसर ऊपरसे देखनेमें यद्यपि अपना कल्याण तथा दूसरोंका कल्याण ये दो भिन्न-भिन्न बाह्यरूप लेकर आते दीखते हैं। इस कारण पथभ्रम होनेकी सम्भावना बनी रहती है। हमें जानना है कि ये दो भिन्न-भिन्न तत्व नहीं हैं। इसलिए आइए इन दोनोंके गम्भीर स्वरूप तक चलें। साधारण बुद्धिको इन अपने पराये कल्याणोंका परस्पर कोई सम्बन्ध या लगाव दिखाई नहीं देता। प्रत्युत ये दोनों तत्व परस्पर विरुद्ध दीख पड़ते हैं। ऐसा समझा जाता है कि जिस काममें अपना कल्याण हो उससे औरोंकी हानि हो जानेपर भी उस हानिकी उपेक्षा करनी चाहिए और स्वयं लाभान्वित हो जाना चाहिए। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि औरोंके कल्याण करनेका अवसर आनेपर मनुष्यको स्वयं हानि उठानी ही पड़ती है। इसलिए बहुधा ऐसे उपदेश दिये जाते हैं कि परोपकारार्थी मनुष्योंको स्वयं हानि उठाकर

भी दूसरोंका उपकार करना चाहिए। अविचारके कारण परोपकार करना स्वयं हानिउठाना समझा जाने लगा है तथा स्वयं लाभ उठाने के लिए औरोंको हानि पहुँचाना अनिवार्य मानो जाने लगा है। परन्तु ये दोनों ही विचार मूलमें भूलसे भरपूर हैं। यह नितान्त गर्हित अनार्य चिन्ताधारा है। इसलिए कि हम तथा समस्त संसार एक ही आत्माका विस्तार या अभिव्यक्ति है। इसलिए मनुष्यको अपने पराये के रूपमें भिन्नसे भासनेवाले कल्याणोंके सम्बन्धमें यह जानना है कि जिसमें तेरा सच्चे अर्थोंमें कल्याण होगा उसमें किसी भी दूसरेकी कभी कोई हानि नहीं हो सकेगी। दूसरोंकी हानि तुम्हारे उसी कल्याणसे होगी जो तुम्हारा वास्तविक कल्याण न होकर बनावटी या भ्रामक कल्याण होगा। इसीके साथ मनुष्य यह भी जाने कि जिसमें औरोंका कल्याण होगा उसमें तुम्हारा अकल्याण कभी नहीं हो सकेगा। तुम यह निश्चित जानो कि दूसरोंके कल्याणके साथ तुम्हारा कल्याण तथा तुम्हारे कल्याणके साथ दूसरोंका कल्याण अविभाज्य रूपसे नथा हुआ है। दूसरोंके कल्याणसे तुम्हारा कल्याण हुए विना नहीं रह सकता। दूसरोंके कल्याणसे तुम भी कृतकृत्य हुए विना नहीं रह सकते। मनुष्यको जीवनका यह सुवर्ण सूत्र कण्ठस्थ कर लेना चाहिए कि हमारा कल्याण छोटी मोटी वैयक्तिक वस्तु नहीं है। हमारे कल्याण अकल्याणोंका सम्बन्ध केवल हमारे साथ नहीं है। हमारे कल्याण अकल्याणोंमें सारे संसारको हमारा साझी बनना पड़ता है। हमारे आत्माके विश्वव्यापी होनेसे हमारे कल्याण अकल्याणोंका अनिवार्य रूपसे विश्वव्यापी प्रभाव पड़ता है। यहाँ आकर कल्याण अकल्याणकी परिभाषा बदल जाती है। कल्याण अकल्याण किसी संसारी तुलापर नहीं तुलते। यहाँ तो मानसिक उत्थान पतन ही इन दोनों नामोंसे लिए जाते हैं। प्रत्येकके कल्याण अकल्याणका सम्बन्ध इस सम्पूर्ण जगत्‌के समस्त स्थावर जंगमोंके साथ अच्छेद्यभावसे जुड़ा हुआ है। मनुष्यको इस वास्तविकता-पर दृष्टि रखकर भले बुरे कामोंकी पहचान करनेके लिए अपने

प्रत्येक कामको निम्न दो कसौटियोंपर परखना चाहिए कि (१) उसके अपनाये काममें अपना कल्याण है या नहीं? यदि परीक्षा करनेपर उसमें अपना कल्याण दीखे तो उसीके साथ उस कामको (२) दूसरी यह भी परीक्षा करनी चाहिए कि मेरे इस कामको करनेसे दूसरोंका अकल्याण तो नहीं हो जायगा? यदि इस काममें औरोंका अकल्याण दिखाई दे तो उस कामको निश्चित रूपसे बुरा (आत्मकल्याणनाशक) समझकर उसे करनेसे जान बूझकर विरत रहो। ऐसे समय अकर्तव्य करानेवाले लोभादियोंको अवहेलित और परास्त करनेके लिए दृढता धारण करो और ऐसे कामोंसे भौतिक लाभ उठानेका लोभ त्याग दो। इसी प्रकार जब मनमें औरोंका कल्याणकारी काम करनेकी इच्छा उठती हो तब यह भी देखा करो कि उसमें तुम्हारा अपना भी कोई कल्याण है या नहीं? अपनेको गिराकर या अपना सिद्धान्त नीचा करके दूसरोंका कल्याण करना कोई अर्थ नहीं रखता। यदि उस परकल्याणकारी काममें अपना अकल्याण या अपने मनकी गिरावटकी सम्भावना दीखे तो समझना चाहिए कि यह काम परोपकारका नहीं है। यह हमारे ही किसी स्वार्थका काम है। इस काममें हम किसी स्वार्थबुद्धिसे प्रेरित होकर दिखावटी परोपकारका काम कर रहे हैं। उर्ध्वगामी मनुष्यको ऐसे काम नहीं अपनाने चाहिए। क्षणिक उत्तेजनाओंके वशमें आकर किए हुए काम अकल्याणकारी होते हैं। जिस कामको करनेके लिए अपने भीतरसे स्वाभाविक मंगलमयी प्रेरणायें आती हैं वही कर्म कल्याणकारी सत्कर्म कहाता है। जिस कामको किसी बाहरी प्रलोभनके वशमें आकर या अपनी हार्दिक इच्छाके विरुद्ध होते हुए भी निषेध करनेका मनोबल न होनेके कारण किसी व्यक्ति, किसी समाज अथवा किसी घटनाके प्रभावमें आकर, करना पड़ता है, वही असत्कर्म है, वही अकल्याणकारी कर्म है और वही अकर्त्तव्य भी है। इस प्रकारसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यका विचार कर लेनेका स्वभाव बना लेना ही विजयी जीवनकी एकमात्र सुदृढ नींव है। इसलिये तुम काम करनेका

अवसर आनेपर ऐसा कोई काम मत किया करो जिसके विषयमें पहले ही भले या बुरेका निर्णय न कर चुके हो और तुमने उसे पहलेसे ही स्वेच्छासे स्वीकार न कर लिया हो ।

अपने दैनिक जीवनके प्रत्येक काममें अपने मन वचन और कर्मको इस मार्ग पर स्वाभाविक रूपसे चलनेकी शिक्षा देनेके लिये संक्षेपमें जिन बातोंपर ध्यान देना आवश्यक है उनमेंसे मुख्य मुख्य बातें निम्न लिखित हैं—

(१) जीवनके प्रत्येक मुहूर्तके लिये कोई न कोई कर्तव्य निश्चित रहना चाहिये कि अमुक समय पर अमुक काम होगा। अर्थात् मनुष्यको अपने संपूर्ण जीवनको कर्तव्यके बंधनसे बाँधकर रखना चाहिए ।

(२) प्रत्येक कर्तव्यको ठीक समय पर पूर्णांग रूपसे पूरा करना चाहिए ।

(३) अपने कर्तव्यको अपने ही हाथसे पूरा करना चाहिए ।

(४) घरकी वस्तुओंको नियत स्थान पर नियत क्रमसे स्वच्छता के साथ रखना चाहिये ।

(५) किसी भी वस्तुको कामके विना स्थानच्युत नहीं करना चाहिये ।

(६) किसी वस्तुको किसी कामके लिये उठानेपर फिर उसे उसी नियत स्थानपर पहुँचा देना चाहिए ।

(७) दूसरोंकी वस्तुओंको देखने या छेड़नेकी इच्छा नहीं होनी चाहिए ।

(८) अपने मनको दूसरोंके आचरणके सम्बन्धमें चिन्ताग्रस्त नहीं होने देना चाहिए । अर्थात् दूसरोंके कामोंमें भूल निकालनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये ।

(९) अपने शरीरको शुद्ध रखना चाहिये ।

(१०) शुद्ध वस्त्र पहनने चाहियें ।

(११) शुद्ध स्थानपर बैठना और रहना चाहिए ।

(१२) स्वच्छ निःशंक मार्गमें चलना चाहिए।

(१३) थूकना और शौच आदि कर्म इस ढंगसे करने चाहियें कि इनसे व्यक्तिगत तथा समाजिक मलिनता न फैले।

(१४) केवल आवश्यक सुचिन्तित और शांतिपूर्ण वाक्य बोलने चाहियें।

(१५) प्रति क्षण अपनेको पूर्ण पवित्र और अनन्त शक्तिमान् समझकर रहना चाहिये।

(१६) किसी भी कर्तव्यका पालन करनेमें ऋण नहीं लेना चाहिये। जो काम ऋण लिये बिना पूरा न होता हो उसे अकर्तव्य मानकर त्याग देना चाहिये।

(१७) तुमने कर्तव्य करनेके लिए उचित उपायसे दूसरोंकी जो वस्तु ली हो उसे आवश्यकताके बिना एक क्षण भी अपने पास न रखकर तत्काल लौटादो।

(१८) दूसरोंके वचनको धीरताके साथ आदिसे अन्त तक सुन लिया करो।

(१९) वक्ताकी बातको पूरा हो लेने दिया करो। उसे बीचमें मत रोका करो।

(२०) अनुचित या अनावश्यक प्रसंग छिड़ जानेपर उस स्थानसे हट जाया करो।

(२१) ऊँची हँसी और ऊँचा बोलनेका स्वभाव मत बनाओ।

(२२) किसीकी निंदा या चर्चा मत किया करो।

(२३) किसीसे कुछ कहना हो तो उसके पास जाकर कहो। उसे दूरसे बुलाओगे तो तुम उसके कर्तव्यमग्न मनको अनुचित रीतिसे आकृष्ट कर लोगे और उसके कर्तव्यमें विघ्न डाल दोगे।

(२४) किसी भी काममें अति शीघ्रता मत करो। कर्तव्यमें शीघ्रता नहीं होनी चाहिये। शीघ्रताका भाव यही है कि जो काम जितने समयमें होना चाहिये उसे उससे थोड़े समयमें करना चाहा जा रहा है। कर्तव्यकी नीति यही है कि जितने समयमें जो काम

होना चाहिये उसमें उतना ही समय लगाकर उसे पूर्ण शक्तिसे पूरा करना चाहिये ।

सुखी कौन ?

जो मनुष्य सुखका अभ्रान्त रूप पहचाना जाता है, वही सुखी हो जाता है। सुखी होनेके लिये सुखका वास्तविक स्वरूप समझना अनिवार्य रूपमें आवश्यक है। नहीं तो दुखी रहना सुनिश्चित है। मनुष्यको सुख किसे कहा जाता है? इस रहस्यको न समझनेके कारण दुखको सुख समझ लेनेपर दुःखी होना पड़ता है। विचार करनेका स्वभाव पड़ने तक मनुष्यको कभी किसी सुन्दर वस्तुको देखनेकी या कभी किसी स्वादिष्ट वस्तुका स्वाद लेनेकी मन्थनकारी इच्छा होती है। इस प्रकारकी इच्छाओंकी आँधियाँ आती हैं और मनुष्यको सूखे पत्तेके समान इधर उधर उड़ाये फिरती हैं। मनुष्य अपने मनसे बूझकर देखे कि क्या वह इस ढंगकी इच्छाओंको पूरा कर लेने या करते रहनेसे सुखी हो सकता है? ऐसे प्रश्न करनेपर उसीका मन बतायेगाकि जब तक इच्छाकी पूर्ति नहीं होती तब तक तो दुःख रहता ही है। क्योंकि सुखेच्छाकी अपूर्ति ही दुःख है। परन्तु सुखेच्छाकी मनमानी पूर्ति हो जानेपर भी दुःखोंका अंत नहीं होता। क्योंकि इससे मनुष्यकी सुखेच्छायें बन्द नहीं होतीं। विचारविहीन मनुष्यके मनमें सुखको फिर फिर नये नये रूपोंवाला देखने और रसास्वाद लेनेकी इच्छायें होती रहती हैं। सुखेच्छाकी पूर्ति होनेसे उसकी सुखेच्छा बढ़ती चली जाती हैं। सुखेच्छाकी वृद्धिका भी वही परिणाम है तथा सुखेच्छाकी अपूर्तिके कारण दुःखकी वृद्धि होनेका भी वही परिणाम है। ये दोनों एक बात हैं। सुखसे पृथक रहना भी सुखेच्छा है तथा सुखके अभावसे पीडित होते रहना भी सुखेच्छा है। सुखेच्छा

ही दुःख है। सुखेच्छाको त्याग देना ही दुःखसे सम्बन्ध तोड देना है। सुखसे कभी पृथक् न रहना ही सुखेच्छाओंसे छुटकारा पा जाना है। यदि मनुष्यको सुख पाना हो तो उसे सुखेच्छाओंको त्यागना ही पड़ेगा। उसे कभी न कभी यह जानना ही पड़ेगा कि सुखेच्छाओंका सर्वथा न रहना ही सच्चा सुख है। इस दृष्टिसे इस संसारमें सुखेच्छाओंको न रहने देना ही मनुष्यके पाने योग्य स्पृहणीय स्थिति है। सच्चे सुखार्थीको व्यक्तिगत रूपमें इसी स्थितिको पानेके पीछे पड़ जाना है। यदि किसीकी विचारकी आँख खुली हुई है तो यह बात उस के समझ लेनेकी है कि सुखेच्छाकी अपूर्ति जैसा दुःख है, सुखेच्छाकी पूर्ति भी वैसे ही दुःखकी वृद्धि है। सुखेच्छापूर्ति संसार भरको धोकेमें फाँस रखनेवाला अनन्त भँवर है। सुखेच्छाकी पूर्ति हो जानेसे किसीके भी दुःख नहीं घटते। सुखेच्छाकी पूर्तिसे मनुष्यत्वका कोई विकास नहीं होता। सुखेच्छापूर्तिने आजतक संसारको एक भी महापुरुष नहीं दिया। उसने मनुष्यकी अनन्त संतानोंका सर्वनाश किया है और उन्हें कहींका भी नहीं छोड़ा है। ये लोग आखेटकी ढूँढमें दिनभरमें बारह गाँव घूमनेवाले भेड़ियेके समान जीवनभर सुखके आखेटकी ढूँढमें घूमते रहते और यहाँसे चलनेका समय आने पर असमाप्तकर्माकी स्थिति लेकर चल पड़ते हैं।

प्रश्न होता है कि फिर हम सुखको कहाँ ढूँढें? हम सुखका प्रश्न कैसे सुलझायें? इसका यही उत्तर है कि सुख किसी भी वस्तुके मिलने या न मिलनेमें, किसीभी वस्तुकी प्राप्ति या परिहारमें निहित नहीं है। किन्तु सुख सुखेच्छाकी निवृत्तिमें या सुखेच्छाके न रहनेमें है। दूसरे शब्दोंमें मनमें सुखकी इच्छाका न रहना ही सच्चा सुख है। जो इस सत्यको भली-भाँति समझ लेता है और अपने मनको सदा सुखेच्छारूप सुख दुःखके अनन्त बंधनसे और इस अनंत बंधनसे उत्पन्न होनेवाले दुःखोंसे विमुक्त रखनेमें समर्थ हो जाता है, वह ही सच्चा सुखी होता है। ऐसे मनुष्योंका सुखके साथ सदाके लिए अछेद्य

अभेद्य अकाट्य सम्बन्ध जुड़ जाता है। ऐसे लोग कभी सुखसे पृथक् नहीं हो पाते। ऐसे लोग सुखस्वरूप हो जाते हैं।

गम्भीर विचार न करने तक ऐसा प्रतीत होता है कि सुखेच्छाओं का त्याग करना मनुष्यके लिये बड़ा कठिन काम है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। बात इससे सर्वथा विपरीत है। कठिन और असम्भव काम तो सुखेच्छा पूरा करनेका है। क्योंकि मनुष्यसे सुखेच्छाओंकी पूर्ति कभी नहीं हो सकती। मनुष्यको सुखेच्छाओंका त्याग करना तब तक ही कठिन लगता है, जब तक उसे इस बातकी प्रतीति दृढरूपसे नहीं हो जाती कि सुखेच्छा ही दुःख है। मनुष्य वास्तविकताको न समझने तक ही सुखेच्छाके त्यागको कठिन मानता है। जब मनुष्य सुखेच्छाके त्यागको ही सुखका सच्चा रूप समझ जाता है तब त्यागेच्छा अर्थात् मनमें सुखेच्छा न ठहरने देनेकी इच्छा ही उसके लिये स्वाभाविक इच्छा बन जाती है। उस समय मनुष्यको विषयोंमें अनासक्त रहकर देहधारण करनेके लिये शुद्ध कर्त्तव्य-बुद्धिसे विषयोंका सदुपयोग करनेकी कला अनायास प्राप्त हो जाती है। यही अवस्था मनुष्यजीवनको सफल बनाती है।

यह मनुष्यकी बड़ी भाग्यहीनता है कि वह मानवजीवनको सफल बना देनेवाली इस पावनी अवस्थाका नाम सुनते ही इसे एक ऊँची अवस्था जैसा ऊँचा सा नाम देकर, इसकी प्राप्तिके सम्बन्धमें नैराश्य धारण करता, इसे निरर्थक मानता तथा इसके सम्बन्धमें पूर्ण उपेक्षा करता है। अपनेको इस पावनी अवस्थासे वंचित रखना मनुष्यके बुद्धिभ्रंशका परिचायक है। समझमें नहीं आता कि मनुष्यकी बुद्धि सामूहिक रूपमें इतनी क्यों बिगड़ गई कि वह सचाईको पहचाननेका कष्ट उठाना नहीं चाहती। जब कि मनुष्य दुराचारमें पूरा-पूरा चतुर बन सकता है तो वह सदाचारमें या ऊँची अवस्थामें प्रवीण क्यों नहीं हो सकता? वह इस मार्गपर क्यों नहीं जा सकता? इस ढंगके बुद्धिविपर्ययका कारण इसे ऊँची अवस्था, नाम देकर इससे बचकर, अपने लिये नीची अवस्थाके मिठासको ही एकमात्र प्राप्तव्य अवस्था

समझ लेना है। विपरीत समझका ही नाम 'अज्ञान' है। अज्ञान होने पर विचार किये बिना दुःखकी अवस्थाको सुख समझकर पकड़ लिया जाता है और उसे न छोड़नेका आग्रह या स्वभाव पड़ जानेके कारण सच्चे सुखकी अवस्थाको टालते रहना बुद्धिमत्ता समझी जाती है। इस ढंगकी बुद्धिमत्ताके पीछे दूसरोंकी देखादेखी अंधेके समान दौड़ लगानेसे पहले सुखेच्छा रखनेवाले मनुष्यका पवित्र कर्तव्य है कि वह इस दौड़को बन्द करके खड़ा हो जाय और सोचे कि संसारके लोग किस वस्तुकी खोजमें कहाँ जा रहे हैं? इस ढंगके विचारका जन्म हो जाना ही स्वतन्त्रता है। यह विचार जिस जिसके मनमें आता जाता है वह स्वतन्त्र होता चला जाता है। जिनके मनमें यह स्वतंत्र विचार-शक्ति जाग उठती है, वे आभ्रान्त रूपसे इस निश्चयपर पहुँच जाते हैं, वे यह समझ लेते हैं कि सुख कभी सुखके पीछे दौड़नेवालोंके हाथ नहीं आता। मा धाव सुखहेतो स्त्वं धावतां न सुखं सखे! सुख तो स्थिर होने पर मिलनेवाली वस्तु है और वह अपने ही पास है। आवश्यकता केवल उसे पहचानलेनेकी है। संसारके अधिक लोग सुखको न पहचाननेके कारण दुःखोंके पीछे दौड़ लगा रहे हैं। उनकी इस भ्रांतिका एकमात्र कारण उनकी जडता, उनका आलस्य और उनकी अधीरता है।

जो अपने सुख-दुःखका विचार स्वयं नहीं करते, जो अपना मार्ग अपने आप नहीं बनाते, वे दूसरोंके पीछे चलनेवाले होते हैं। इन अनुकरणमार्गी लोगोंने सारे संसारको दुःखमय बना डाला है। संसारका बहुमत अनुकरणमार्गी है। सब एक दूसरेके पीछे भोग-के नरककी ओर दौड़े चले जा रहे हैं। अनुकरण तामसिकता है। स्वयं कुछ भी विचार न करना अनुकरणका अभिप्राय है। जडता या आलस्यका ही दूसरा नाम अनुकरण है। अनुकरण अपनी विचारशक्तिको बेकार रखकर, दूसरोंके आचरणसे लाभ उठानेकी मनोवृत्ति है। ऐसा करनेसे मनुष्यकी अपनी विचारशक्ति सदाके लिये सो या मर जाती है। दासता या परतन्त्रता आदि ऐसी ही अवस्थाके

नाम हैं। मनुष्यकी विचारशक्ति ही उसकी चेतनाशक्ति है। इस चेतनाशक्तिको उपयोगमें न लाना और जडताको प्राप्त कर लेना दोनों एक बात हैं। विचार-हीनता ही जडता है। जड वस्तुओंमें सुख समझ लेना ही जडता है। इसीका दूसरा नाम जडवाद है या भौतिकता है। जडवादी मनुष्य भाग्यहीन है। वह जड वस्तुओंके मोहसे अन्धा बना रहता है। जिन वस्तुओं की प्राप्तिसे होनेवाला हर्ष भी उतना ही दुःखदायी होता है और अप्राप्तिसे होनेवाला शोक भी उतना ही दुःख देता है, जिन्हें भोगनेकी इच्छा केवल विचार-हीनता या चेतनाहीन मनोवृत्तिके कारण उत्पन्न होती है, वे सब वस्तुयें जड हैं। संसारमें एक विचित्र घुड़दौड़ हो रही है। अज्ञानी लोग इस घुड़दौड़के घोड़े हैं। जड पदार्थोंका भोग भोगकर सुख पानेके लिये दौड़ लगानेवाले समस्त विचारहीन लोग घुड़दौड़के घोड़ेके समान एक दूसरेका अनुकरण, एक दूसरेसे प्रतिद्वन्द्विता करके एक दूसरे-से आगे निकलनेका प्रयत्न कर रहे हैं। प्रतिद्वन्द्विता असार वस्तुओं-को प्राप्त करनेके कर्मक्षेत्रमें ही हुआ करती है। क्योंकि असार-वस्तु पानेके क्षेत्रमें सदा असन्तोष बना रहता है। असार वस्तुओंके क्षेत्रमें सन्तुष्ट हो जानेकी अवस्थाका कभी दर्शन नहीं होता। वहाँ तो केवल एक दूसरेको भागते देखकर उनके पीछे दौड़ लगाई जाती है। उन सब दौड़ने वालोंके सामने प्राप्त करने योग्य कोई निश्चित अवस्था नहीं होती। इन सबमें केवल सबसे आगे जाने और सबसे अधिक भोग करनेकी एकमात्र मनोवृत्ति होती है। प्रतिद्वन्द्विता और अनुकरणस्पृहा ये दोनों आलस्य या जडताके ही दूसरे नाम हैं। सत्यके अन्वेषणसे विमुख रहना ही आलस्य है। सत्यका अन्वेषण करनेसे विमुख रहना असत्यकी अन्धी दासता है। अनुकरण-स्पृहा और प्रतिद्वन्द्विता दोनों की दोनों दास मनोवृत्ति हैं। जो जिसका अनुकरण या जिसकी प्रति-द्वन्द्विता करता है, वह उसीका दास है। जिसका अनुकरण या

जिससे प्रतियोगिताकी जाती है, वही अनुकरण करनेवाले या प्रतिद्व-न्द्वीके जीवनका आदर्श बन जाता है। सत्यको छोड़कर या भूलकर किसी व्यक्तिको अपने जीवनका आदर्श बनालेना ही परतन्त्रता है। परतन्त्रता ही सारे दुःखोंका मूल कारण है। असत्यका अनुकरण करना ही परतन्त्रता है। मनुष्यके पास अंधोंके समान दूसरे मनुष्योंके पीछे चलते रहनेसे दूसरा सुख ढूँढनेका कोई उपाय न रहना ही मनुष्यकी नपुंसकता है। यही निर्बलता है। मनुष्यको इस बातपर गहरा विचार करना है कि तुम जिस मार्गपर चल रहे हो वह तुम्हारी अपनी ही विचारबुद्धिसे पाया हुआ मार्ग है? या तुमने उसे दूसरोंकी देखादेखी अपनाया है? यदि तुमने दूसरोंकी बातोंमें आकर या उनकी देखादेखी किसी मार्गको अपना कर, उसपर चलना प्रारम्भकर दिया हो, तो समझलो कि तुम असत्यारूढ और पराधीन हो। तुम्हें अभी तक सत्यका पता नहीं मिला। तुम्हारी स्वतंत्रता तो इसमें है कि तुम किसीके भी पीछे न चलकर, अपने सुखके मार्गों और साधनोंको, अपनी ही विचारशक्तिसे प्राप्त करो। यह स्वतन्त्रता शक्तिमान्‌का धर्म है। स्वतन्त्रता ही एकमात्र वांछनीय अवस्था है। स्वतंत्रताको ही पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ ही सुख है। जो मनुष्य अपने लक्ष्यको अपनी आँखोंके आगे स्थिर करके रखता और उस लक्ष्यकी ओर दृढताके साथ पैर बढ़ाता रहता है, वह पद पदमें सच्चे सुखका अनुभव लेता रहता है। वही सच्चा सुखी होता है। उसका जीवन धन्य हो जाता है। उसके जीवनका प्रत्येक मुहूर्त्त उत्सवमय हो जाता है। उसका प्रत्येक पदक्षेप सफलताके उत्साहसे परिपूर्ण हुआ रहता है। उसका प्रत्येक अनुभव, सुख दुःख रूप बन्धनसे अतीत रहनेवाली, विक्षेपरहित, अखण्ड, अभ्रान्त, आनन्दमय, सच्चिदानन्द सागरकी तरंग बन जाता है। उसका सारा जीवन शांतिमय हो जाता है।

यह सुख है या दुःख यह ज्ञान मनुष्यको प्रारंभ में कुछ दिन न होकर, कुछ दिनों पश्चात् होता है। कारण यह है कि सच्चा सुख

इन्द्रियग्राह्य पदार्थ नहीं है, किन्तु अनुभवगम्य पदार्थ है। मनुष्यकी अनुभवकी चिरमुद्रित आंखें जिस गतिसे खुलती हैं, उसीके अनुसार सुख दुःखके ज्ञानकी प्रगति होती है। मनुष्यको यही समझना है कि इन्द्रियग्राह्य सुखदुःखोंका नाम सुख दुःख नहीं है। किन्तु मनका हलका हो जाना सुख है तथा मनका भाराक्रान्त हो जाना दुःख है। जो सुख अपने सद्गुणोंसे होता है, जो सुख भीतरसे उमड़ कर आता है, वही सच्चा सुख है। जिस सुखको पानेमें किसी दूसरेकी सहायता लेनी पड़ती है, जो बाहरसे आता है, जिसे पानेमें दूसरेको भोग्य मानना पड़ता है, वह सुख सुख नहीं है। वह दादकी कण्डूतिके समान मूल्यहीन है और सुखका धोका है। वह सुख नहीं है, वह दुःखका ही रूपान्तर है। दुःख मानव जीवनकी अस्वाभाविक अवस्था है। सच्चे मनुष्य-जीवनमें दुःखके कलंकको स्थान नहीं मिलना चाहिये। दुःख, उकताहट, जी न लगना, ब्यकुलता आदि सब अमनुष्योचित स्वभाव हैं। मनुष्य सुखी रहनेसे ही मनुष्य कहला सकता है। यदि मनुष्य सुखका भण्डार नहीं है, तो वह मनुष्य नहीं है। सुख मनुष्यका स्वरूप है। मनुष्यको सुखपूर्ण रहना चाहिए। यह कभी मत समझो कि भौतिक दुःखमयी अवस्थाओंका आना बन्द हो जाना सुखी होना है। क्योंकि कैसा भी ज्ञानी, कैसा भी सुप्रबन्धक होनेपर भी मनुष्यके पास भौतिक दुख आना नहीं रुक सकता। इसलिए दुःखमयी अवस्थाओंको अस्वीकार करते रहना ही सुखी होना है। संसारकी रचना ही ऐसी है कि इसमें मनुष्यके पास दुःखमयी घटनायें सदा आती रहती हैं। मनुष्यको दुःखमयी घटनाओंके अस्तित्वमें ही सुखी रहनेका उपाय, मार्ग या विधि ढूँढ निकालनी है। विचारशील लोगोंने संसारकी स्थितिका आद्योपान्त विचार करके यही निर्णय किया है कि—दुःखकी अस्वीकारी ही सुख है। नाहं देहः कहनेसे ही दुःखोंपर अस्वीकृतिकी मुद्रा अंकित हो जाती है। मनुष्य यह जाने कि वैषयिक सुख भी दुःख ही है। इस भावको लेकर सुख-दुःख नामके अनित्य द्वन्द्वोंकी अस्वीकारी ही सुख है।

इसलिये जिस महामना मानवने अनित्य द्वन्द्वोंकी अस्वीकृतिरूपी नित्य सुख पा लिया वही सुखी है।

धीरज

विरोधी अवस्थाओंको पराभूत करके विजयी बने रहना धीरज है। जैसे वृक्ष अपनी जड़को पहले भूमिके भीतर पूर्ण रूपसे जमा लेने पर ही, अपना सिर ऊपर उठाता है और फिर भूमिके भीतर कभी प्रविष्ट नहीं होता, इसी प्रकार मनुष्य पहले अपने जीवनके सच्चे आधार सत्य पर दृढ हो जाने पर ही असत्यकी उपेक्षा कर सकता तथा अपने लक्ष्य पर स्थिर रह सकता है। अपने लक्ष्य पर स्थिर हो जाना मनुष्यके आत्मविश्वासकी अवस्था है। आत्मविश्वासकी इसी अवस्थाका नाम धीरज है। अर्थात् सत्यके आधार पर सुप्रतिष्ठित रहकर सत्यके बलसे असत्यकी उपेक्षा करते रहना धीरज है।

जिस मनुष्यको सत्य असत्यका अभ्रान्त विचार करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है, वही धीरज रख सकता है। जिसे वह शक्ति प्राप्त नहीं होती, उससे धीरज नहीं रक्खा जाता। असत्यको सत्य समझकर अपने जीवनको असत्यके आधारपर स्थिर कर लेने या असत्यानुकूल जीवनयापन करनेकी भ्रान्त अवस्थासे आत्मरक्षा कर लेनेके लिए, सदसद्विचारबुद्धिकी आवश्यकता है। सत्य असत्यका विचार करनेकी इच्छा भी उसीको होती है और इसमें समर्थ भी वही होता है, जो पहलेसे ही सत्य अवस्थामें स्थित होता है। सच्चे मार्ग पर चलनेवाला ही सच्चे मार्गको ग्रहण करने और असत्य मार्गको त्यागनेमें समर्थ होता है। सत्यमार्गी मनुष्यका प्रगाढ परिचित और चिरावलम्बित सच्चा मार्ग ही उसके लिए सच्चे मार्गोंको ढूँढ निकालनेकी कसौटी हो जाता है। सत्यारूढ व्यक्ति ही सत्यको पह-

चाना करते हैं। उनका चिरपरिचित सत्य ही उनकी सदसद्विचार करनेकी बुद्धिको भ्रान्तिरहित मार्गपर रखनेकी कसौटी होता है। वे असत्य बातको तत्काल पहचान लेते हैं। फिर उन्हें अपने पहचाने असत्यको त्यागनेमें न तो थोड़ा सा भी परिश्रम पड़ता है और न देर लगती है। असत्य अवस्थामें जीवन बिताते रहनेवाले लोग सत्य अवस्थाको कभी नहीं पहचान सकते। वे कभी सत्यासत्यका विचार नहीं कर सकते। वे अपने पार्थिव लाभ हानिका ही सौदा या विचार करते हैं। वे स्वार्थ परार्थके भेदका विचार करके जान बूझकर स्वार्थको पकड़कर बैठे रहते हैं। उन्हें जिस काममें अपना लाभ नहीं दीखता, वे उसके विषयमें कहते हैं कि हम औरोंके लिए कष्ट क्यों उठायें? वे अपने देहमें अवतीर्ण होनेवाली कर्म-शक्तिको अपने साढे तीन हाथके देहकी सेवामें नियुक्त रखना चाहते हैं। वे इस बातका बड़ा ध्यान रखते हैं कि कहीं उनकी शक्तिसे किसी दूसरेको लाभ न पहुँच जाय। उन्हें यह बात सहन नहीं होती कि दूसरे लोग उनसे कोई लाभ उठा लें। वे दूसरोंके थोड़ेसे भी कल्याणकी संभावनावाले कामको परार्थका नाम देकर उसे त्याज्य समझ लेते हैं। स्वार्थ ही उनका जाना पहचाना, वही उनका सगासंबन्धी और लक्ष्य होता है। वे अपना वश चलने तक स्वार्थको ही सत्यके ऊपर बिठाये रखते हैं। वे स्वार्थकी कसौटीपर जांच करके ही त्याज्य ग्राह्यका विचार करते हैं। वे स्वार्थको ही अपना आराध्य देव मानते हैं। वे असत्यको ही सत्य समझकर पकड़े होते हैं। सत्य क्या है? वह बात उनकी बुद्धिके लिए सदा अगम्य रहती है। प्रकृतिके नियमके अनुसार अपनी बुद्धिके अगम्य विषयपर विचार करना असाध्य और असम्भव होता है। इसी नियमके अनुसार स्वार्थी मनुष्यके लिए सत्यासत्यविचार करना असम्भव है। स्वार्थी लोग विचार किये विना ही, सत्यको छोड़े और असत्यको पकड़े रहते हैं। क्योंकि असत्य पदार्थ स्वयं ही अस्थिर होते हैं, इसलिये उनके भोगमें व्यापृत रहनेसे भोक्ताका मन स्वतः ही अस्थिर हो जाता है। असत्य

वस्तु न मिलनेपर तो कामनाकी अतृप्तिसे चंचलता होती है, और असत्य वस्तु मिल जाने तथा भोगी जानेपर भोगकालकी उत्तेजनापूर्ण व्याकुलता भी मूर्तिमती अस्थिरता ही होती है। उसीके साथ मनमें वियोगसे अथवा वियोगकी आशंकासे भी चञ्चलता आ जाती है। सार यही है कि असत्य वस्तुओंको लक्ष्य बना लेनेसे मनकी सदातन चञ्चलता निश्चित है। असत्य वस्तुयें आकर भी और न आनेपर भी दुःख देती रहती हैं। असत्य वस्तुको लक्ष्य बनालेसे मनकी स्थिरता कदापि नहीं हो सकती। मनकी स्थिरता ही धैर्य और मनकी चंचलता ही अधीरता है। धैर्यशील होना केवल स्थिर लक्ष्यवाले मनुष्यके लिये सम्भव है। जिन्होंने अस्थिर पदार्थोंको अपना लक्ष्य बनाया है, और जिन्होंने अपने मनको अस्थिर हो जाने दिया है, ऐसोंके लिए अधीर रहना ही स्वाभाविक अवस्था है। लक्ष्य ही मनुष्यके जीवनकी नींव होता है। नींवके दृढ होनेसे भवन भी दृढ होता है। नींवके दुर्बल होनेसे भवनका पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। जो अपने जीवनके भवनको सत्यकी नींवपर खड़ा कर देता है, उसका मन हिमाचलके समान अटल और अचल हो जाता है। जैसे सुमेरुका शिखर प्रकृति देवीके सारे झंझावात, तर्जन, गर्जन, वर्षण और अशनिसंपात आदिकी कोई अपेक्षा न करनेवाले अपने गगनचुम्बी मस्तकको गौरवके साथ ऊपर उठाये खड़ा रहता है, उसी प्रकार सत्यारूढ व्यक्तिका मन संसारके सर्व प्रकारके कोलाहलमें भी निर्विकार रह कर, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, प्रतिष्ठा-अप्रतिष्ठा, उत्तेजना और अवसादकी उपेक्षा कर करके, गौरवके साथ अपने लक्ष्यपर स्थिर बना रहता है। सत्यारूढ मनुष्यकी इस जीवन नीतिका ही नाम धीरज है।

मनुष्यचरित्रके समस्त सम्भावित गुणोंको अपनेमें धारण करके स्थिर रहनेकी शक्तिही 'धीरज' कहाती हैं। मनुष्यके जीवनमें जितने गुण होने चाहियें, वे तब ही प्रकट होते हैं, जब कि वह 'धीरज'को धारणकर लेता है। अपने मनको लक्ष्यका विरोध करनेवाली समस्त

अवस्थाओंसे सुरक्षित रखनेकी कलाका ही नाम धीरज है। आँख कान आदि इन्द्रियोंकी स्वाभाविक गतिको लक्ष्यमें केन्द्रीभूत कर रखनेकी शक्तिका नाम ही 'धीरज' है। धैर्यवान वही है जिसके मनको रूप रस आदि विषय सत्यसे च्युत करनेमें असमर्थ हो चुके हैं। रूप रस आदि विषयोंमें आसक्ति हो जाना ही सत्यसे च्युत होना और अधीर होना है। आसक्ति ही असत्य और अधीर अवस्था है। असत्य और अधीर अवस्थाको व्यर्थ कर देनेका कौशल, ही धीरता है। धीरज ही एक ऐसी वस्तु है जो जीवनके प्रत्येक मुहूर्त्तमें मनुष्यका एकमात्र सुहृद् और साथी बना रह सकता है। आत्मसंयम, जितेन्द्रियता, आत्मशक्ति, आत्मविश्वास, स्वतन्त्रता, वीरता, क्षमा, उदारता; अहिंसा, सहिष्णुता, समचित्तता, दृढता, आदर्शनिष्ठा, सत्यनिष्ठा, कर्त्तव्यनिष्ठा, विचारशीलता और कर्मकुशलता आदि जितने गुणोंने आजतक मानवचरित्रमें मनुष्यताका गौरव प्रतिष्ठित किया है और मनुष्यमें ऐश्वरी शक्तिका परिचय दिया है, वे सबके सब धीरजका सहारा लेकर ही प्रगट होनेवाले धर्म हैं। सत्यकी शक्तिसे शक्तिमान ही धीर हो सकता है। धैर्य ही मनुष्यकी सच्ची शक्ति है। धैर्य ही मनुष्यकी मनुष्यता है। धैर्य अटूट बना रहे तो मनुष्यता भी अटूट बनी रहती है। धैर्यच्युत हो जानेसे मनुष्यतासे च्युत हो जाना पड़ता है। व्यावहारिक जीवनमें अतिशीघ्रता, विपत्तिकी आशंका चित्त चाञ्चल्य, क्रोध, बढ बढकर बातें करना, प्रतिहिंसाकी प्रवृत्ति, चित्तका संदिग्ध होना, भ्रान्ति, प्रमाद, शोकातुरता, भयातुरता, अतिहर्ष, विषाद, वियोगातुरता, उत्तेजना, अवसाद, प्रतिष्ठाकी प्रीति और अप्रतिष्ठाकी भीति आदि समस्त निन्दित भाव इस बातका परिचय दे रहे हैं कि इस मनुष्यमें शान्ति नहीं है। मनुष्यमें धैर्य न होना इस बातको सूचित करता है कि इसमें सत्यका वास नहीं है। जो सत्यसे हीन है, उसके सारे आचरणोंमें शक्तिहीनता रूपी दोष भरा रहता है। जैसे चोरीको जाते समय चोरका ओढ़ा हुआ रामनामी डुपट्टा भा चोरी करने जाता है, इसी प्रकार सत्यहीनके सत्य दीखनेवाले आचरण

भी असत्य ही होते हैं। सत्यहीन मनुष्यके पास कुप्रवृत्तिके वशमें आ जानेसे दूसरी कोई गति ही नहीं रहती। सत्यहीन मनुष्य कुचेष्टा, निष्कर्मता, पौरुषहीनता, धूर्त्तता, अप्रतिकार, क्लीवत्वसुलभ वाह्यनिष्क्रियता, आन्तरिक प्रतिहिंसापरायणता, चित्तकी चंचलता और परमुखापेक्षिता आदि दुर्बलोचित समस्त संभावित दुर्गुणोंका आखेट बना रहता है। जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा न होने तक सच्ची शक्तिका जाग्रत होना असंभव बना रहता है। सत्यसे हीन मनुष्यका धैर्यसम्पन्न होना अनहोनी बात है। अपने जीवनमें सत्यको प्रतिष्ठित कर लेना ही धीरजको पाना है।

कठोरसे कठोर समझी हुई किसी भी बाह्य परिस्थितिको अपने कर्तव्यके मार्गमें प्रतिकूल न समझना मनुष्यके सत्यमें सुप्रतिष्ठित होनेकी पहचान या स्वरूप है। अपना कर्तव्य पूरा करनेमें दृढता ही धीरता है। जिसे कैसी भी बाह्य परिस्थिति कर्तव्यमार्गसे विचलित नहीं कर सकती, वही धीरजवान् है। बाह्य परिस्थितिके अपने ऊपर प्रभाव डालनेका दुर्दान्त प्रयत्न करनेपर भी अपना कर्तव्य न छोड़ बैठना धीरज है।

भलाईका फल

शुद्ध भावना भलाई कहाती है। अपने संतरूपका दर्शन करना भलाई है। भलाई ही भलाईका फल है। भलाईके फलको भी भलाई ही होना चाहिये। भलाईका भलाईसे भिन्न कोई फल नहीं हो सकता। जैसे फलका फल नहीं होता, इस प्रकार भलाईपर फल लगनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। भलाई पूर्ण वस्तु है। उसे फल की कोई आवश्यकता नहीं। भलाई कँगली नहीं है कि फलकी भीख मांगती फिरे। भलाई तो संसारभरका निचोड़ है। वह संसारका सर्वोत्तम फल और मानव जीवनकी श्रेष्ठतम अवस्था है। मनुष्योंकी

भावना ही भलाई बुराईका मूल है । मनमें जैसी भावनाका उदय होता है, वैसे ही शारीरिक कर्म तथा वचन बनते और उन्हींके स्मरण और मनन होने लगते हैं । क्योंकि भावना ही से कर्मका जन्म होता है, इसलिए शुद्ध भावनाको ही शुभकर्म कहा जा सकता है । मन ही शुभ अशुभ कर्मोंका कर्ता तथा उनके फलोंको भोगनेवाला है । शुद्ध भावनासे प्रेरित होकर किया जानेवाला कर्म ही सत्कर्म कहाता है । शुद्ध भावनासे प्रेरित होकर बोला जानेवाला वाक्य ही सत्यवचन कहाता है तथा शुद्ध भावनासे प्रेरित होकर किया हुआ आराध्य वस्तुका ध्यान या स्मरण ही सत्यस्वरूप परमार्थ होता है । मनुष्यको असत्य कर्म तथा असत्य वस्तुके ध्यानमें लगानेवाली भावना अशुद्ध भावना है । शुद्ध भावनाका शुभ परिणाम तथा अशुद्ध भावनाका अशुभ परिणाम होना अनिवार्य है । इसलिये शुद्ध अशुद्ध भावनाओंके इष्ट अनिष्ट परिणामों पर पूरा पूरा विचार करके, शुद्ध भावनाको अपने जीवनका आधार बना लेने पर, जीवनके प्रत्येक मुहूर्त्त तथा अनुभवमें बिना किसी आयासके अमृतपूर्ण सत्य का दर्शन होने लगता है । शुद्ध भावनाको जीवनाधार बना लेनेपर अनायास होने लगनेवाला सत्यदर्शन ही शुभकर्मोंका फल होता है । सत्य आचरण करना शुभ कर्म तथा सत्यमें प्रतिष्ठित हो जाना सत्य आचरण करनेका शुभ फल है । सत्य आचरण करते रहने से ही सत्यमें प्रतिष्ठित रहना आ जाता है । मनुष्य-जीवनमें सत्य में प्रतिष्ठित हो जानेसे बड़ा कोई फल नहीं पाना है । इसलिये प्रत्येक सच्चे मनुष्यको सत्यमें प्रतिष्ठित होनेके नामपर ही कर्म करना चाहिये । संसारके लोग सत्यसे भिन्न किसी संसारी फलकी आकांक्षा करते और इस आकांक्षामें ही अपना सर्वनाश कर लेते हैं । वे संसारी फलोंकी आकांक्षासे शुभ कर्म करनेका नाटक खेलते हैं । उनका यह परिश्रम अवास्तविक आधारोंपर आश्रित होनेके कारण, सदा ही निरर्थक और निष्फल रह जाता है । निष्फल इसलिये रह जाता है कि अशुभ भावनाकी नींवके ऊपर कोई भी शुभ कर्म खड़ा

नहीं किया जा सकता। मनुष्यकी भावना तो अशुभ बनी रहें और वह कर्म शुभ करले, यह कभी नहीं होना है। इस ढंगकी भावनाको लेकर किया हुआ बड़ेसे बड़ा मांगल्य समझा हुआ कर्म भी अशुभ कर्म हुए बिना नहीं रहपाता। अशुद्ध भावनाओंको जीवनका आधार बना लेनेपर मनुष्यको मिलनेवाले समस्तफल भोग करने योग्य धनमान आदिके अतिरिक्त और कुछ नहीं होते। इन फलोंकी प्राप्ति, इन फलोंकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे होनेवाले मानसिक विकारोंसे आगे नहीं जाती। इन फलोंकी प्राप्ति मानसिक विकारमात्र होती है। ऐसी प्राप्ति मनुष्यमें कुछ मानसिक विकार उत्पन्न करके उसे व्याकुल बनाने से आगे कोई लाभ नहीं पहुँचाती। अशुभ कर्मोंके फल मिथ्या होते हैं। उनमें पहले तो मृगतृष्णा जैसी दुराशा और अन्तमें निराशा निकलती है। इसलिये उनसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती। यही कारण है कि अशुभ कर्मोंके फलोंमें कामना वासनाका कभी अन्त नहीं होता। यही कारण है कि अशुभ कर्मोंके फल मानव हृदयकी बड़ी हानि करते, उसे बड़ा दुःख देते जर्जरित बनाते, क्षत-विक्षत छिन्न-विच्छिन्न करते और उसे सदा अशान्त बनाये रहते हैं। परन्तु शुभकर्मोंका फल मनुष्यके मनमें सदाके लिये शान्तिकी असमाप्य मन्दाकिनी प्रवाहित कर देता है। यदि शान्तिको ही मानव-जीवनका लक्ष्य माननेका औचित्य समझमें आता हो तो ऐसी आनन्दपूर्ण अवस्थाको उच्चावस्था नाम देना, उसे असाध्य मान लेना, उसे मनुष्यके लिये अप्राप्य कह देना और फिर उसके विरोधी आचरण करते रहना मानवोचित आकांक्षाओंको अपमानित करना और स्वेच्छासे नरकनिवास स्वीकार कर लेना है।

जो प्रत्येक मनुष्यका लक्ष्य है, वह क्या तो बालक, क्या युवा, और क्या वृद्ध, सबका जीवनभर आराधनायोग्य पदार्थ है। बालकके लिए एक लक्ष्य, युवाके लिए दूसरा और वृद्धके लिए तीसरा कदापि नहीं हो सकता। हम अपने जीवनमें अमुक अवस्था आचुकनेपर

सत्यका आचरण किया करेंगे, इस अविचारित भावनासे सत्यके आचरणको स्थगित रखकर अपने जीवनमें सामूहिक रूपसे असत्यका आचरण करते रहना, किसी भी युक्तिसे समर्थनीय नहीं है। ये भावनायें विचाररहित हैं कि हम गृहस्थके धन्धोंको समाप्त करके वृद्धावस्था आनेपर, या इतना धनसंग्रह कर लेनेपर, या सन्तानके गृहभार सँभाल लेनेपर, सत्यदर्शनार्थ उद्योग किया करेंगे। ये सब मनोरथोंके मोदक हैं। जिस मनुष्यको भविष्यके विषयमें बिन्दुविसर्गमात्र भी परिज्ञान नहीं है, वह सत्यदर्शनको भविष्यके ऊपर स्थगित रक्खे यह उसकी बड़ी मूढता है। किस क्षण मौतका बुलावा आ खड़ा होगा? यह कोई नहीं जानता। इसलिये मनुष्यको होश आते ही सबसे पहिले सत्यसे परिचय प्राप्त करना चाहिए। सत्य क्या बालक, क्या युवा और क्या वृद्ध सबके लिए आज और अभी समयोचित है। यदि बालक और युवा आज अपने जीवनमें सत्यको धारण नहीं कर लेंगे तो वे वृद्धावस्थामें सत्यकी कोई सेवा नहीं कर सकेंगे और वे कभी उसका दर्शन नहीं पा सकेंगे। सत्यकी अमृतमयी शान्ति-धाराको अपने जीवनका अङ्ग बना लेनेका एक ही उपाय है कि जीवन प्रारम्भ होनेसे लेकर जीवनका अन्त होने तक, मनमें प्रति-दिन और प्रति क्षण शुद्ध भावनाओंको ही जगाकर रक्खा जाय। शुद्ध भावना ही मानसिक शक्ति है। मानसिक शक्ति ही सच्ची शक्ति होती है। मन ही शक्तिका वासस्थान होता है। मन ही शक्तिका झरना है। मन ही शक्तिका भण्डार है। मन ही शक्ति है। मनुष्यकी भावना ही उसकी शक्ति है। मनकी इस शक्तिको भिन्न-भिन्न प्रसंगोंपर भिन्न-भिन्न रूपोंमें विश्लेषण करके प्रतिक्षण उसीका ध्यान करते रहना शुद्ध भावना है।

(१) आत्मसंयम, (२) जितेन्द्रियता, (३) आत्मशक्ति, (४) आत्मविश्वास, (५) स्वतंत्रता, (६) वीरता, (७) क्षमा, (८) उदारता, (९) अहिंसा, (१०) सहिष्णुता, (११) समचित्तता, (१२) दृढता, (१३) आदर्शनिष्ठा, (१४) सत्यनिष्ठा, (१५) कर्त्तव्यनिष्ठा, (१६) विचार-

शीलता, (१७) और कर्मकुशलता ये सब मानसिक शक्तिके ही भिन्न भिन्न रूप हैं। ये सब शक्तिमान् मनुष्यमें पाये जानेवाले धर्म हैं।

(१) मनको सत्यके अधीन करके रखना आत्मसंयम है। आत्म-संयम न रहनेपर मनुष्य उच्छृंखल हो जाता है।

(२) अपनी इन्द्रियोंको जीवनका लक्ष्य पानेमें लगाये रखना जितेन्द्रियता है। लक्ष्यहीन जीवनोंमें कामवासनाकी दासता उत्पन्न होना अनिवार्य है।

(३) शुभ कर्म करनेमें अपनेको अनंत शक्तिमान् समझना आत्म-शक्ति है। शुभ कर्मसे विमुख रहना मनुष्यकी शोचनीय दुर्बलता है।

(४) मनुष्यमें अभ्रांतसत्यनिष्ठा होना और अपनी दृष्टिको पूर्णरूपसे सत्कर्मोंके शुभ परिणामों पर जमाये रखना आत्मविश्वास है। आत्म विश्वास न होने पर सत्कर्मोंसे डर लगा करता है और असत्याचरण सुगम प्रतीत हुआ करता है।

(५) सत्यकी कसौटीपर अपने प्रत्येक कर्मकी परीक्षा करके फिर उसका आचरण करना स्वतंत्रता है। सत्यसे हीन जीवनके कार्य असत्यानुगामी और दासोचित होते हैं।

(६) असत्यको पददलित करते रहना वीरता है। असत्यका आदर करना भीरुता है।

(७) शत्रुसे व्यक्तिगत द्वेष न रखकर उसके साथ कर्तव्यबुद्धिसे उचित व्यवहार करना 'क्षमा' है। क्षमाहीनता क्रोध है।

(८) अपने अधिकारको उल्लंघन न करना तथा दूसरोंके अधिकार को स्वीकार कर लेना उदारता है। अनुदार पुरुष दूसरोंको अपने अधीन करनेके लिये व्यग्र रहता है और इसी दुष्प्रयत्नके परिणाम-स्वरूप स्वयं भी दूसरोंके अधीन बना रहता है।

(९) अपने आत्माको क्रोध आदि रिपुओंके आक्रमणसे सुरक्षित रखना अहिंसा है। हिंसापरायण अर्थात् अपने आत्माकी हिंसा होने देनेवाला व्यक्ति रिपुओंका दास होकर प्रवृत्तिमार्गमें चलता और स्वार्थकी सेवा किया करता है। ऐसा व्यक्ति सदा अपनेसे अधिक

भौतिक साधन रखनेवाली शक्तिकी अधीनता स्वीकार किये रहता है।

(१०) अपने गुणोंका प्रचार न करना, औरोंके दोष न दिखाना, तथा औरोंके छिद्र ढूँढनेसे विरत रहना सहिष्णुता है। असहिष्णु मनुष्य सदा वाचाल, दाम्भिक, नीच तथा कलह-रत होते हैं।

(११) निन्दा और स्तुति, यौवन-जरा, संयोग-वियोग आदि अवस्थाओंकी उपेक्षा रखना मानो संसारमें कहीं ये घटनायें हो ही नहीं रहीं, समचित्तता है।

(१२) सत्यके लिए सर्वत्याग करना दृढता है।

(१३) अपने आदर्शको सत्य समझलेना आदर्शनिष्ठा है।

(१४) सत्य ही सत्यकी उपमा है। सत्य जैसा और कुछ नहीं है। सत्य स्वयंप्रकाश है। वह असत्यकी भाँति परतःप्रकाश्य नहीं है। किसी भी और कैसे भी जटिल व्यवहारका अवसर आ पड़ते ही मनुष्यके सत्यकी खोज करना चाहनेपर, उसके सत्यकी ओर अभिमुख होना चाहनेपर, इस सम्बन्धमें सत्य व्यवहार क्या है? यह जान लेना चाहनेपर, प्रत्येकको सत्यका परिज्ञान या ठीक बातका पता अवश्य हो जाता है। असत्यका प्रत्यक्ष तो निर्बल मनुष्यको सत्यकी प्रतीतिके पश्चात् होता है। उसके मनमें निर्बलता भरी रहनेपर उसे सत्यमार्ग अपनानेमें अपनी कुछ भौतिक हानि दीखने लगती है। उस हानि दीखनेके पश्चात् उसे उस हानिसे बचानेवाला असत्यमार्ग सूझा करता है। मनुष्यको असत्यमार्ग सूझना स्वाभाविक स्थिति नहीं है। असत्य मार्गकी सूझ आते ही तथा उसपर पैर रखते ही मानवहृदयके ऊपर अस्वाभाविक बोझ पड़ता या असहन पैदा हो जाता है। मानवहृदय क्योंकि सत्यनारायणका मुख्य केन्द्र है इसलिये वह असत्य अवस्था आते ही त्राहि-त्राहि कह उठता है। मनुष्य, काम क्रोध आदियोंके प्रभावमें आकर ही असत्य मार्गका अवलम्बन किया करता है। उस मार्गका अवलम्बन मनुष्यकी प्रभावित स्थिति होती है। जैसे सत्य सबको स्वभावसे प्रतीत होजाता है वैसे उसे असत्य

मार्ग स्वभावसे नहीं सूझता। उसे उसके विषयमें बहुत कुछ सोचना पड़ता है। उसमें उसे बहुत सी बनावट करनी पड़ती है। इसीलिये असत्यका मार्ग स्वीकरणीय मार्ग नहीं होता। स्वीकरणीय मार्ग वही है, जिसमें मनुष्य संसारके किसी भी भौतिक हानि लाभसे प्रभावित न हो, जो मार्ग लेशमात्र भी अहंकार तथा ममताके प्रभाव से प्रभावित न हो, जिस मार्गने उसे स्वभावसे दर्शन दिये हों, जिसमें यात्रा करनेसे उसका हृदय ईश्वरदर्शन या ठीक कामको करने के उत्साह और उल्लाससे भरपूर हो, जिसमें यात्रा करते हुए उसके हृदयमें थोड़ा सा भी बोझा प्रतीत न होता हो। सत्य स्वयं प्रकाश-तत्व है। वह हमारे आत्माका स्वरूप है। सत्य मानव हृदयमें आठ पहर जलनेवाला अखण्ड दीप है। इसलिये उसकी परीक्षा किसी बाह्य वस्तु, व्यक्ति, पुस्तक, समाज, या सम्प्रदायकी कसौटी पर करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यको उसे निरपेक्ष होकर अपने अप्रभावित अन्तःकरणमेंसे ग्रहण करना पड़ता है। सत्यको अपने अप्रभावित अन्तःकरणमेंसे ढूँढ निकालना ही सत्यनिष्ठा है। सत्यनिष्ठामें व्यक्तिनिष्ठा, गुरुनिष्ठा, समाजनिष्ठा, सम्प्रदायनिष्ठा, पुस्तकनिष्ठा या पदार्थनिष्ठाका कोई अवसर नहीं है।

(१५) अपने कर्त्तव्यमें छोटे बड़ेका कोई भेद न करके प्राप्त कर्त्तव्यको पूरे उद्यम और पूरी शक्तिके साथ करने लगना कर्त्तव्य-निष्ठा है।

(१६) सत्य असत्यका विचार करके अपने जीवनमें सत्यको कार्यरूपमें परिणत करके रखना ही विचारशीलता है।

(१७) हमने जिस कर्त्तव्यका स्वीकार किया है, उसके लिये पूरा उद्योग कर लेना ही कर्मका एकमात्र फल है। इसके अतिरिक्त कर्मका दूसरा कोई फल नहीं है। उदाहरणके रूपमें खेतीको ही लें—खेती भोज्य वस्तुके उत्पादनका उपाय है। हम कर्त्तव्यबुद्धिसे भोजन ग्रहण करते हैं। हम यह जानते हुए कि शरीररक्षा हमारे अधीन काम नहीं है, केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे भोजन खाते हैं।

मनुष्यका कर्तव्य है कि वह मनकी निर्विकार स्थितिकी रक्षा करते हुए आत्महत्यारूपी विकारपूर्ण स्थितिसे आत्मरक्षा करने के लिए भोजन किया करे। यह कर्त्तव्य ही शरीर रक्षाके उद्यमका रूप धारण कर लेता है। कर्त्तव्यका पालन करनेके लिए मिले हुए समस्त साधनोंका ठीक ठीक उपयोग कर लेनेमें समर्थ हो जानेपर हमारे मनमें यह सन्तोष होता है, कि हमने अपने कर्त्तव्यका पालन कर दिया। हमें इस प्रकारका सन्तोष मिल जाना ही खेतीरूपी कर्त्तव्य पालनका सच्चा फल है। किसी कर्त्तव्यके आनेपर इस फलको प्राप्त कर लेनेसे हमारी मानसिक उन्नति होती है। खेतीका कर्त्तव्यपालन कर चुकनेके पश्चात् अन्नप्राप्ति अनियमित रूपसे होती है। संसारमें कदाचित्करूपसे प्राप्त होनेवाले अनाजको इस कर्त्तव्यपालनका फल माना तो जाता है, पर यह विचारकी न्यूनता है। इससे कर्त्तव्यपालनका मूल्य सन्तोष न रहकर वह अनियत अनाज हो जाता है, जिसका मिलना निश्चित नहीं है। क्योंकि उस अनाजका मिलना सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी उस महीयसी शक्तिका काम है जो पशु पक्षी कीट पतंग सबका और खेती न करनेवाले मनुष्यों तकको भोजन जुटाती है, जिसके सम्बन्धमें विचार करते करते मनुष्यकी बुद्धि पंगु हो जाती है। यों अनाज जैसे तुच्छ पदार्थको खेतीरूपी कर्त्तव्यपालनका फल नहीं माना जा सकता। अनाजको तो खेतीका फलाभास कहना अधिक उचित है।

हममें जो न्यूनता होती हैं उन्हें पूरा करनेके लिए हमारे मनोंमें ईश्वरतत्वकी ओरसे कर्त्तव्यके रूपमें प्रेरणा होती है। हमारे उस कर्त्तव्यको पूरा न कर लेने या अपनी शक्तिभर उसके लिए उद्योग न कर लेने तक हमारे मनमें एक प्रकारका असन्तोष, असहन या व्याकुलता बनी रहती है। असन्तोष मनुष्यको स्वरूपच्युत कर देता है। इस असन्तोषको कर्त्तव्यपालन करके ही हटाया जा सकता है। असन्तोष हटनेपर ही स्वरूपावस्थान प्राप्त होता है। असन्तोषको हटाने या हमारे पुनः अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेका, कर्त्तव्य

पालनसे दूसरा कोई मार्ग नहीं रहता। इसलिए असन्तोष असहन या व्याकुलताको हटाकर सन्तोष सहन या स्थिरता पालेना ही कर्त्तव्य पालनका सच्चा फल है। ऐसा फल कर्त्तव्यपालन करचुकते ही अनिवार्य रूपमें सबको मिलता है, और कर्त्तव्यपालन करनेवालेके आत्माको बलवान बनाता है। संसारमें कर्त्तव्यपालनका जो एक भौतिक फल माना जाता है उसका और कर्त्तव्यपालनका बहुत बार पौर्वापर्य होनेपर भी कार्यकारणभाव नहीं है। क्योंकि वह फल कर्तव्यपालन कर चुकनेपर भी बहुत बार नहीं मिलता। इसीलिए वह कर्तव्यपालनका फल नहीं है। यदि वह कर्तव्यपालनका फल होता तो कर्तव्यपालन करनेपर नियमसे सबको मिलना चाहिये था। इसलिये हमें उसका कुछ और कारण ढूँढना होगा। इसके अतिरिक्त यह भौतिक फल कर्तव्यपालनके सन्तोषरूपी फलको सारभगानेवाला होता है। इस फलपर दृष्टि रखनेसे संतोषका नाश होजाता है। ऐसी अवस्थामें उसे कर्तव्यपालनका फल नहीं मानना चाहिये। यह भौतिक फल मनसे कर्तव्यका पालन करते हुए होनेवाले हमारे शरीरसंचालनका परिणाम होता है। ऐसा फल सकल भूतोंका प्रबन्ध करनेवाली शक्तिकी अनुकूलता होनेपर मिलता है नहीं तो नहीं मिलता, या विपरीत मिलता है।

भौतिक फलोंकी वंचनाने संसारको बहुत बिगाड़ा है। संसारका बहुमत भौतिक फलोंकी वंचनाका साथी होकर शक्तिहीन होगया है। जब तक संसारसे यह भौतिक फलोंकी वंचना नहीं हटेगी तब तक मनुष्यको जीवनमें शांतिके दर्शन नहीं होंगे। इन सब दृष्टियोंसे स्वीकृत कर्तव्यको पालकर सन्तोषका उपार्जन ही कर्मका एकमात्र फल माना जाना चाहिये। इसीको निष्काम कर्म करना कहते हैं! निष्काम कर्मका यही अभिप्राय है कि कर्तव्यके सन्तोषरूपी फलपर दृष्टि जमाये रखो और सन्तोष प्राप्त कर चुकते ही उसके आनुषङ्गिक भौतिक फल या फलाभासकी ओर अपनी दृष्टिको मत जाने दो। कर्तव्य कर्म करनेसे प्राप्त होनेवाले सन्तोषसे आत्माका विकास होता

और उसकी क्षुद्रता मिटती है। यों इस सन्तोषको ही कर्मका फल मानना उचित है। भौतिक फलाभिलाषासे आत्मा संकुचित होता है! और उसमें क्षुद्रता आती है। इस आत्महानि करनेवाली भौतिक फलाभिलाषाका कर्तव्यपालन जैसे शुभ कर्मसे कल्पित सम्बन्ध तोड़ देना चाहिये। आत्म-कल्याणके लिये भौतिक फलाभिलाषाको त्यागना अत्यन्त आवश्यक है। फलाशाके त्यागकी इस आवश्यकतामें ही निष्काम कर्म करनेका मर्म छिपा हुआ है। इस बातको पूरा पूरा समझकर कर्म करना ही कर्मकी कुशलता है।

सत्य ही इन सब गुणोंका वास्तविक आधार है। मनुष्यके व्यावहारिक जीवनमें इन सब बातोंके ध्यान रखनेका अवसर प्रत्येक समय उपस्थित होता रहता है। यदि मनुष्य किसी भी घटनाके सामने आते ही सहसा उत्तेजित न हो जाय और अपना धैर्य न खो बैठे तो वह अपने सत्याचरणके भीतर ही सत्यके स्वरूपका अनुभव स्पष्ट रूपसे कर सकता है। मनुष्यको अपने दैनिक व्यवहारोंमें सत्यके स्वरूपका प्रत्यक्ष अनुभव हो जाना ही भलाई या शुभ कर्मका फल है। मनुष्य अपने संतरूपका दर्शन करके बुराईको छोड़ दे यही भलाईका फल है।

सफल कैसे हों?

सफल कैसे हों? इस प्रश्नका उत्तर पानेसे पहले यह समझ लेना चाहिये कि सफलता किसे कहते हैं? प्राप्त साधनोंका ठीक-ठीक उपयोग कर लेना ही सफलता या सिद्धि है। मनुष्यका देह इसे मिला हुआ एक साधन है जो इसे सफलता पाने या मानवजीवनको सफल बनानेके लिये मिला है। यह बात उसकी रुचिके ऊपर छोड़ दी गई है कि वह चाहे इसे सफल करे या निष्फल हो जाने

दे। यदि वह चाहे तो देहका सदुपयोग करके अपने जीवनको सफल कर सकता है। यदि वह उपेक्षा करके अपने मानव-जीवनको अस-फल हो जाने देगा तो उसके मनुष्यदेहधारणका अभिप्राय अपूर्ण पड़ा रह जायगा। देहका सदुपयोग कर लेना ही मनुष्यदेह धारणकी सफलता है और देहका सदुपयोग कर लेना ही मनु-ष्यताको पालेना है। इसलिये तुम अपने देहके सदुपयोग करने-का सुदृढ निश्चय करो और अपना देहधारण सफल बनाओ। देहको धारण करते समय मनुष्यमें देहका सदुपयोग करनेकी प्रवृत्ति और शक्ति दोनों होती हैं। परन्तु वह बड़ा होकर या तो इन दोनोंको खो देता है या इन्हें उपयोगमें लाता और जीवनको सफलताकी ओर बढ़ाने लगता है। जिस प्रकार मसी और पत्र लेखनीका सदुपयोग करनेमें सहायक हो जाते हैं, उसी प्रकार देहका सदुपयोग करनेकी बात ठान लेनेपर, संसारके सम्पूर्ण पदार्थ और जीवनका काल ये सब उसके सहायक बनकर उसके सामने आते हैं। प्रकृतिकी व्यवस्था ही ऐसी है कि इन सबको उसका सहायक बन जाना पड़ता है। यह मनुष्यजीवन इन तीनों साधनों-का अच्छेसे अच्छा उपयोग करनेपर ही सफल होता है। यह देह अनित्य है। यह प्रत्येक मुहूर्त्तमें अवश्यम्भावी विनाशकी भविष्य-वाणी कर रहा है। यह स्वतः ही परिवर्त्तित हो होकर ध्वंसकी अँधेरी खाईकी ओर दौड़ लगाता जा रहा है। समयरूपी जीवन-काल देहको छूता है और देहपर ध्वंसकी छाप मारकर भागा चला जाता है। समयरूपी जीवनकाल क्षण भरके लिये भी कहीं खड़ा नहीं होता। संसारके सबके सब पदार्थ अस्थिर हैं। वे अब हैं फिर नहीं रहेंगे। यह देह और ये पदार्थ प्रत्येक मुहूर्त्तके गमना-गमनके साथ अनिवार्य रूपसे ध्वंसकी ओर पैर बढ़ाते जा रहे हैं और अपनी अपनी अनित्यताका डंका पीट पीटकर मनुष्य-को अनक्षर भाषामें सावधान करते चले जा रहे हैं। जहाँ तक मनुष्यकी दृष्टि पहुँचती और पहुँच सकती है वहाँ तक उसके चारों

ओर अनित्यता ही अनित्यता शासन करती दीख रही है। यह मनुष्य प्राणी प्रत्येक मुहूर्तमें अपने अनित्य देहको, अपने अनित्य पदार्थोंको और अपने अनित्य समयको खो ही रहा है।

प्रश्न होता है कि जिन साधनोंसे हमारे जीवनका गठन होता है उन साधनोंको लगातार खोते रहना यह कैसा मनुष्य जीवन है? यह मनुष्यके विधाताका पागलपन नहीं है तो क्या है? क्या हमने इस जीवनको केवल खोने ही के लिये पाया है? जिन पदार्थोंको खोया जा रहा है, क्या इनको निष्प्रयोजन खोया जा रहा है? क्या हमें इनके बदलेमें कोई ऐसी वस्तु नहीं मिल सकती जो कभी खोई न जाये? यदि अपने हाथमें आई वस्तुओंको खोते रहना ही इस जीवन का एकमात्र कर्म हो तब तो कहना पड़ेगा कि मनुष्य-जीवनका उद्देश्य व्यर्थताके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि बात ऐसी ही हो तब तो यह विशाल सृष्टि भी व्यर्थ हो जाती है और स्रष्टाका यह अनन्त विश्वरचनाचातुर्य भी एक लम्बी चौड़ी व्यर्थताके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसारके सम्पूर्ण पदार्थ अनित्य हैं और यह भी सच है कि मनुष्य प्रत्येक समय अपना कुछ न कुछ खो ही रहा है। किन्तु संसारके पदार्थोंके अनित्य होने मात्रसे अनित्य पदार्थोंसे भरी इस सृष्टिको तथा स्रष्टाके रचनाचातुर्यको व्यर्थ नहीं कहा जा सकता। अध्यापक लोग भूमिपर राख बिछा बिछाकर शिष्योंको अक्षरज्ञान करा देते हैं। वे अक्षर लिख लिखकर उन्हें फिर फिर मिटा देते हैं। क्या कोई भी मनुष्य उन अक्षरोंके मिटा दिये जानेसे ही उनके लिखनेको व्यर्थ कह सकता है? नहीं कभी नहीं कह सकता। लिखने और मिटानेके इन दो कामोंसे शिष्योंको अक्षरबोध तो करा ही दिया जाता है। अक्षरबोध करा देना ही लिखनेका उद्देश्य है। अक्षरबोध कर लेना ही शिष्य-जीवनकी सफलता है। प्रकरणोपयोगी बात इतनी ही है कि इस विश्वको बनाने वाले ही इस विश्वके गुरु हैं। संसारके सम्पूर्ण

मानव उनके शिष्य हैं। यह विश्वरचना उस विश्वगुरुका लेख है। यह दीखनेवाला सम्पूर्ण संसार उनके लिखनेकी सामग्री है। वे इस संसारकी घटनावलिके द्वारा प्रत्येक क्षण अपने मनुष्यविद्यार्थीको पढ़ानेके लिए दो बातें लिख रहे हैं—एक तो वह मनुष्यके हृत्पटलपर यह लिखना चाहते हैं कि समस्त दृश्यपदार्थ अनित्य हैं। यहाँ किसीका कुछ नहीं है। यहाँके पदार्थोंके मोहमें कोई न फँसे। दूसरे वह यह लिखना चाहते हैं कि इन पदार्थोंका आदिकारण स्रष्टा ही एक नित्य पदार्थ है। सब उसीको समझें और उसीमें अपना स्थान सुरक्षित कर लें। ऐसा प्रवन्ध करके रक्खा गया है कि प्रत्येक मनुष्य इस पाठको सीख सके, कोई भी मनुष्य इस पाठको सीखनेसे वंचित न रह जाय। जिस मनुष्यके मानसपट पर दृश्य पदार्थोंकी अनित्यता और उन्हें प्रकट करनेवाले आदि-कारण विश्वस्रष्टाकी नित्यता लिखी जा चुकी उसे अक्षर-बोध हो चुका। वह सृष्टितत्वको समझ गया और उसका मनुष्य-जीवन सफल हो गया। इस सफलताको पालेना ही मनुष्यजीवनका उद्देश्य है।

पुष्प मुकुलित हो रहा है, विकसित हो रहा है, झड़ रहा है और पंचभूतोंमें लीन हो रहा है। फिर नवीन पुष्प दर्शन दे रहा है और फिर लीन हो रहा है और फिर फिर दर्शन दे रहा है। पुष्पके आविर्भाव और तिरोभाव सब अनित्य हैं। पुष्पके अंग भी सब अनित्य हैं। परन्तु पुष्पके भीतर वार वार पुष्पको प्रगट करनेकी छिपी हुई शक्ति कभी समाप्त नहीं होती। वह कभी नष्ट नहीं होती। वह शक्ति नित्य अविनाशी निरपेक्ष आदिकारण और सत्य है। पुष्पमें रहनेवाला पुष्पत्व भी यही भीतरवाली शक्ति है, मनुष्यमें रहनेवाला मनुष्यत्व भी यही है और इस सारे सृष्ट जगत्का तत्व भी यही है। यही सत्य है। इस जगत्का बाह्यरूप भ्रामक है। यह सत्य नहीं है। इसके अन्तर्निहित, इसे प्रकट करनेवाला अस्तित्व ही सत्य है। इस सृष्टिकी अनित्यताका गूढ अभिप्राय इस अन्तर्निहित सत्यका प्रचार करते रहना, इस सत्यका ढिंढोरा

पीटते रहना, इस सत्यकी विरदावली बखानते रहना है। इस जगत्के आदिकारण आदिगुरु विश्वस्रष्टा इस अनित्य देहकी, इन अनित्य पदार्थोंकी और इस अनित्य जीवनकालकी सहायता ले लेकर इस संसाररूपी अपनी पाठशालामें गुरुके आसनपर बैठकर अपने मनुष्यविद्यार्थियोंमें जिस सत्यका प्रचार करना चाहते हैं, उसका पाठ पढ़ लेना ही मानवजीवनका एकमात्र लक्ष्य है। इस पाठको पढ़ लेनेसे ही मनुष्य-जीवनकी सफलता पाई जा सकती है।

वस्तुको देखते ही उसके बाह्य रूपोंको सत्य मान लेना और उस वस्तुके बाह्य रूपोंमें उलझकर बैठ जाना, उसके आन्तर रूप तक न पहुँच पाना, सौंदर्यको ग्रहण करनेकी शक्तिका परिचायक नहीं होता। सौंदर्यको ग्रहण करनेकी शक्ति यही मानी जाती है कि उस वस्तुके विषयमें अभ्रान्त ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय तथा उसके आन्तरतम रूप तक पहुँचा जाय। पदार्थोंका बाह्य रूप आपातदृष्टिसे सुन्दर या कुरूप भासने पर भी वह वस्तुका वास्तविक रूप नहीं होता। संसारके समस्त दृश्य-पदार्थोंका एक ही रूप होता है। अर्थात् वे सब अस्थिर होते हैं। मुकुलित होना, विकसित होना, झड़ना और सड़ना नामकी सारी अवस्थाओंका एक सम्मिलित नाम अस्थिरता या अनित्यता है। यदि पुष्पका विकसित होना ही सौंदर्यका परिचायक हो तो उसका सड़ना भी उससे न्यून सुन्दर नहीं है। क्योंकि सड़जानेवाली अवस्था विकसित होनेवाली अवस्थाकी माता है। यदि सड़जाना कुरूप माना जाता हो तो प्रफुल्लित होना भी इससे कम कुरूप नहीं है। क्योंकि प्रफुल्लित होनेवाली अवस्था सड़जानेवाली अवस्थाका प्रारम्भमात्र या सूचनामात्र है। अतएव पुष्पके विषयमें सत्य क्या है? यही मनुष्यके विचारने योग्य बात है। पुष्पके विषयमें ज्ञेय सत्य यही है कि पुष्पका सुन्दर रूप भी स्थायी नहीं है और कुरूप भी स्थायी नहीं है। इसका यही भाव हुआ कि पुष्प कुरूप भी नहीं है और सुरूप भी नहीं है। यह केवल 'अनित्य' ही 'अनित्य' है। पुष्पको सुरूप भी नहीं मानना चाहिये और कुरूप भी नहीं कहना

चाहिये। उसे केवल अनित्य समझकर उसके साथ कोई वर्ताव करना चाहिये। पुष्प जो कुछ समयके लिए पुष्प रूप धारण करता और एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाको प्राप्त करता चला जाता है, वह इस सब व्यापारसे संसाररूपी पाठशालाके मनुष्यविद्यार्थीको समझानेके लिये यही घोषणा कर रहा है कि पुष्प रूप धारण करनेकी शक्ति ही सत्य है। पंखड़ी-रंग या मुकुल आदिको सत्य कहना या समझना ठीक नहीं है। पुष्प रूप धारण करने और उस रूपको त्याग देनेकी शक्ति अविनाशिनी है। यही इसका पुष्पत्व है। पुष्पका पुष्पत्व न तो अत्यन्त सुन्दर है और न अत्यन्त कुरूप है। पुष्पका पुष्पत्व नित्य शाश्वत अविनाशी अनन्त और सत्यरूप है। यह सत्य रूप सारी ही सृष्टिमें तत्त्वरूपमें विद्यमान है और वही इस समस्त सृष्टिको प्रकट कर रहा है। अपने देह और इस वाह्य-जगत्‌में प्रत्येक क्षण इस सत्यरूपको जगल्लीला करते देखते रहनेमें ही जीवनकी सफलता है। मनुष्य अपने देह पदार्थसमूह और जीवनकालका सदुपयोग कर लेनेपर ही इस सफलताको पासकता है।

प्रत्येक मुहूर्त्तमें इस स्वरूपमें अवस्थान करना ही मनुष्यता है। यही सत्यकी उपलब्धि है। प्रत्येक बातको सत्याभिमुख होकर करना और स्वरूपमें अवस्थित रहना दोनों एक बात हैं। मनुष्य-को अपनी इन्द्रियोंके सामने कोई पदार्थ आते ही सबसे पहले पदार्थोंके वास्तविक नित्यरूपको उपलब्ध कर लेना या पहचान लेना चाहिए। फिर उन पदार्थोंके बाह्यरूपके अनित्यपनेके ज्ञानको जगाना चाहिए। उसे पदार्थोंके वाह्य रूपोंमें आकृष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ऐसा करनेके पश्चात् जब कोई अनासक्त भावमें रहकर देहको सत्यकी उपलब्धिका एक साधन समझ जाता और इसी भावसे उसकी रक्षा करता है, तब इसीको 'देहक्रियाओंको सत्याभिमुख रखना' कहा जाता है। ऐसी पावनी अवस्थाको पाने-के लिए आत्मविश्वास सबसे पहला सोपान (सीढ़ी) है। इसके लिए मनमें यह दृढता होनी चाहिए कि यही हमारा लक्ष्य

है। इसीमें हमारी सफलता है और हममें इसको प्राप्त करनेकी शक्ति भी है। जीवनमें बड़े समझे जानेवाले काम कर लेना या अधिक काम कर लेना सफलता नहीं है। सफलता केवल अपनी सम्पूर्ण शक्तिको सत्याभिमुख कर लेनेमें ही है। फिर चाहे बाहरके काम सुधरें या बिगड़ जायँ। सत्याभिमुख शक्तिके द्वारा किया हुआ काम स्थूल दृष्टिसे चाहे जितना छोटा दीखनेपर भी छोटा नहीं होता। वह छोटा सा काम भी महान् शक्ति है। हम ही इस सत्यके द्रष्टा भी हैं और हम ही इस सफलताकी जाँच करनेवाले भी हैं। हमें किसी भी दूसरेसे इस सत्य और सफलताकी परीक्षा नहीं करानी है। हमें अपनी सफलताका प्रमाणपत्र किसी दूसरेसे नहीं लेना है। इसलिए हमें सबसे पहले अपने आत्मविश्वाससे अपनी सफलताको पहचान लेना चाहिए। हम अपने आत्मविश्वाससे अपनी सफलताको पहचान लेनेपर ही पूर्ण उद्यम कर सकेंगे। उद्यम करनेमें उदासीन रहना ही असफलता है। जहाँ मनुष्य सफलताकी परीक्षा स्वयं नहीं करता, वहाँ उद्यमका होना सम्भव नहीं होता। पूर्ण उद्यम ही सफलता है। आत्मविश्वासके बिना किसी भी काममें पूर्णता नहीं आती।

जीवनकी सफलता आँखोंसे दीखनेवाली स्थूल अवस्था नहीं है। सफलता भौतिक फलकी प्राप्तिके साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखती। मनकी शान्त अवस्था ही सफलता है। मनकी शान्त अवस्थामें भौतिक सफलता या असफलतासे अतीत रहना स्वाभाविक होता है। आसक्ति-रहित निष्काम अवस्थाके परिपूर्णानन्दमें मग्न रहना ही सच्ची सफलताका स्वरूप है।

भूल क्या है ?

अपने जीवनके लक्ष्यका स्थिर न होना संसारकी सबसे बड़ी भूल है। लक्ष्य स्थिर न होने तक बुद्धिको सन्मार्ग अर्थात् सफलता पानेका मार्ग हाथ नहीं आता। सन्मार्ग पर न रहना ही भूल है। लक्ष्य अज्ञात रहने तक सफलता पानेवाला सन्मार्ग अज्ञात बना रहता है। असन्मार्ग पर रहते किसीमें सफलता पानेका उत्साह दृढता और उद्यमशीलता रह सकनी असंभव है। जीवनके प्रत्येक पदविक्षेपमें निश्चित लक्ष्यपर दृढ रहनेका उत्साह लक्ष्य पर अभ्रान्त दृष्टि रखनेपर ही सम्भव है। जैसे ध्रुव तारेपर दृष्टि स्थिर रखकर मार्ग चलनेपर दिग्भ्रम नहीं होता, इसी प्रकार लक्ष्यपर दृष्टि स्थिर रखनेपर पथभ्रान्ति या मार्गत्याग होनेकी आशंका नहीं रहती। लक्ष्य स्थिर न कर सकने वाला असन्मार्गपर ही रहता है। उसका प्रत्येक पदविक्षेप भ्रान्ति होता है। उसका सारा उद्यम भ्रान्ति होता है। उसका सारा जीवन एक अन्धकारमय भ्रान्तिजाल होता है। उस विचारदरिद्रने संसारमें आकर अपनेको खींच लेनेवाली बहुत सी वस्तुएँ मान ली होती हैं। संसारमें आकर अपने आकर्षणकी वस्तु बना लेना या मान लेना ही अशान्ति है। प्रत्येक वस्तु आती है और ऐसे विचारहीनको खींचकर अपने पास बैठा लेती और उसे अपने मोहमें फँसा लेती है। यों उसका सारा जीवन भ्रान्ति और अशान्तिका ताना बाना बन जाता है। इस भ्रान्ति और अशान्तिके ताने बानेमें उलझनेसे बचनेके लिये मनुष्यको अपने जीवनका लक्ष्य स्थिर कर लेना चाहिये। लक्ष्यको स्थिर करनेसे पहले यह भले प्रकार समझ लेना चाहिए कि लक्ष्य किसे कहा जाता है?

मनुष्यका लक्ष्य वही बन सकता है जो सभी समय सभी अवस्थाओंमें सम्पूर्ण रूपसे कल्याणकारी अर्थात् परमार्थ हो। इस

कसौटीपर परीक्षा करके अपना लक्ष्य निश्चित कर लेनेपर भ्रान्तिकी संभावना नहीं रहती। लक्ष्य स्थिर न करनेपर किसी भी आपात मनोरम वस्तु या अवस्थाका अनुकरण कर लेना ही जीवनका लक्ष्य बन जाता है और उसीके पीछे पागलकीसी दौड़ लगाई जाती है। इसीका नाम स्वार्थान्धता या लक्ष्यहीनता है। धन मान तथा दैहिक भोगोंकी इच्छाका नाम स्वार्थ है। स्वार्थको ही मानवजीवनका लक्ष्य मान लेनेपर उसकी सिद्धिके लिए किये गये समस्त प्रकारके उद्यम, समस्त प्रकारकी चेष्टाएँ या समस्त प्रकारके पुरुषार्थ भ्रान्ति-मात्र होते हैं। इस भ्रान्तिसे उत्पन्न होनेवाले समस्त क्षणिक हर्ष शोकादि विकार भी भ्रान्तिपूर्ण सफलता और असफलताके बन्धन मात्र होते हैं। अर्थकरी विद्याकी प्राप्तिके पीछे दौड़ लगाना स्वार्थ-सिद्धिका सबसे मुख्य भ्रान्तिपूर्ण उद्यम है। संसारमें धन मान भोग लालसाका कहीं अन्त नहीं है। ये धनमानभोग सबके सब मिलकर आजतक एक मनुष्यका भी पेट नहीं भर सके। ये आजतक एकसे भी अलम् नहीं कहला सके। यही कारण है कि इस संसारमें इनकी लालसाको पूरा करनेका कोई उपाय नहीं निकल पाया। संसार लाख चाहनेपर भी अनादिकालसे आज तक ऐसे उपायका आवि-ष्कार नहीं कर सका। इसलिए संसारमें ऐसे झूठे उपायको प्राप्त करने योग्य न तो कोई विद्या है और न कोई उद्यम है। इसलिए कहना पड़ता है कि अर्थकरी विद्या विद्या नहीं है किन्तु अविद्या है। अविद्याका उपार्जन करनेमें न तो विद्यालाभका आनन्द आ सकता है और न परिपूर्ण उद्यम करनेका उत्साह रहता है। अविद्यार्जनमें यही भावना रहती है कि जिस किसी प्रकार बिना कष्ट उठाये शीघ्रसे शीघ्र अपनी कामना पूरी कर ली जाय। जब मनुष्य अविद्याके साथ रहनेवाली असम्पूर्णता, आनन्दाभाव तथा लक्ष्यरहित उद्यमोंमें रहने-वाली उत्साहहीनताको साथ लेकर अपने आपको अर्थकरी विद्याके लाभ तथा अर्थोपार्जनमें लगा देता है, तब उसे पदे-पदे अपनी शक्ति-हीनताकी अनुभूति होनी प्रारंभ होती है। वह अपने आपको अर्थोपा-

र्जनमें कभी सम्पूर्ण नहीं पाता। परिणाम यही होता है कि उसकी अर्थोपार्जनकी प्रवृत्ति भी तृप्ति नहीं हो पाती। यह मूर्ख मानव अपने देहको जितनी मिल सके उतनी तृप्तिकी आशासे रूप रस आदि विषयोंके भोगोंका साधन बनाकर भोगोंमें कूद पड़ता है। भोगोंकी प्यासके मिटते न मिटते ही भोगोंको भोगनेके यन्त्र इस देहका अन्त आ खड़ा होता है। यह देह अपनेको भोग करनेमें सदा ही असफल घोषित करता रहता है। इससे मनचाहे भोग नहीं भोगे जा सकते। ज्योंही देहका अन्त आता है त्यों ही रूप रस आदि भी हाथसे बाहर निकल जाते हैं और भोगकी इच्छा भी अधूरी पड़ी रह जाती है। यह नाशवान शरीर मनुष्यके निज देहको स्थायी करके उसके द्वारा स्थायी सुखोंको भोगनेके समस्त प्रकारके भ्रान्ति-पूर्ण उद्यमोंको व्यर्थ बनाकर शीघ्रसे शीघ्र नाशकी ओर दौड़ लगाता चला जाता है। अज्ञानी मानवका धनमान और विषयभोगका भ्रान्त उद्यम भी भ्रान्तिकी गोदमें ही समाप्त हो जाता है। सफल उद्यम तो केवल पूर्ण तथा स्थायी वस्तुके लिए ही हो सकता है। विचारहीन मनुष्य भ्रान्तिके वशमें आकर धनमान और भोग-लालसाको तृप्त करनेके लिये,व्यर्थ उत्साहहीन अपूर्ण तथा अर्थोद्यमशील जीवनको अपना बैठते हैं। यह उनका बड़ा दुर्भाग्य है। वे इससे जीवनभर कष्ट उठाते हैं। संसारके बहुमतको इस प्रकार दुःखग्रस्त देखकर स्पष्ट रूपसे यह परिणाम निकलता है कि अपनी बुद्धि और शक्तिको इन अनित्य वस्तुओंके भोगमें लगाना मनुष्यजीवनका लक्ष्य नहीं है। धनमान तथा भोग मनुष्यको किसी भी समय और किसी भी अवस्थामें सम्पूर्ण रूपसे कल्याण प्राप्त नहीं करा सकते। संक्षेपमें कहें तो धन मान भोग वह परमार्थ नहीं है, जिसे मनुष्यको अपनाना ही चाहिये। परमार्थसे पृथक् रहना मानव-जीवनकी सबसे बड़ी भूल है। विचार किये बिना आपातमनोरम धनमान भोगके पीछे दौड़ लगाते जाना व्यर्थको स्वीकार करना है। इसीका दूसरा नाम लक्ष्यहीनता और स्वार्थान्धता है। स्वार्थान्धता सब

भूलोंकी जननी है। यह मानव-जीवन तथा जीवन-सागरके बीचमें खाई बनकर इन दोनोंको अलगा देती है। स्वार्थान्ध मनुष्य समझता है मैं अलग हूँ संसार अलग है। मेरा स्वार्थ अलग है संसार का स्वार्थ दूसरा है। इस दृष्टिसे मनुष्यको अज्ञानगर्तमें डाल देनेवाली स्वार्थसेवा ही सबसे बड़ी भूल ठहरती है।

प्रसन्न कैसे रहें?

कर्तव्यपालनमें उत्साह प्रसन्नता है। शुद्ध मनकी प्रेरणा पानेपर किया जानेवाला काम कर्तव्य कहाता है। कर्तव्यमें उत्साह मनकी प्रसन्नताको सुरक्षित रखनेपर ही हो सकता है। मनको शुद्ध रक्खे बिना बाह्य परिहास आमोद प्रमोद तथा खेल कूद आदि रूपोंमें दीखनेवाली प्रसन्नता सच्ची नहीं होती। मनुष्यका मन अपने कामोंमें किसी प्रकारकी भूल कमी या त्रुटि न करनेपर ही प्रसन्न रहता है। मनमें स्वार्थबुद्धि रखना भूल है। मनमें स्वार्थ-बुद्धि रखना वह भूल है जो मनकी प्रसन्नताका काँटा बन जाती है। मनमें स्वार्थबुद्धि रखना केवल भूल ही नहीं है वह समस्त भूलोंकी मूल भी है। यदि मनुष्य मनमें प्रत्येक समय शुद्ध भावनाको जगा कर नहीं रक्खेगा तो सूने मनमें स्वार्थबुद्धि रूपी चमगादड़ आ घुसेंगी और उसे असुन्दर बना डालेंगी। शुद्ध भावनाका अर्थ अपनेको पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दरूप मानना है। जब तक मनुष्य अपने आपको पूर्ण (आवश्यकताहीन) अभ्रान्त (सुनिश्चितज्ञानवान) तथा आनन्दस्वरूप (सुखकी आवश्यकतासे विहीन) नहीं मान लेगा तब तक वह लाख चाहने पर भी भूल करनेसे नहीं बच सकेगा। जब तक मनुष्य अपने आपको अपूर्ण (अधूरा या आवश्यकताओंका दास) भ्रान्त (अपने ज्ञानपर संदेह करने या विश्वास न करनेवाला) तथा निरानन्द (दूसरोंसे सुख

पानेकी आवश्यकता वाला) मानता रहेगा तब तक वह लाख प्रयत्न करके भी कभी यथार्थ सुखी न हो सकेगा ।

मनमें शुद्ध भावना रखना यही है कि मनुष्य अपने आपको ऐसी सुनिश्चित सुदृढ अविचाल्य मानसिक अवस्थामें रक्खे जो सुनिश्चित रूपसे उसका कल्याण कर सकती हो । जिसमें कामनाका दाह न हो, जिसमें अपनेमें किसी प्रकारका अभावबोध या न्यूनता अनुभव न होती हो । बात यह है कि यदि मनुष्य संसारके रूप रस आदि भोग्य पदार्थोंकी ओर खिंचता रहेगा, तो उसके मनमें अभावबोध सदा जागा ही करेगा और वह निरवधि दुःखमें फँस जायगा । यह मनुष्यकी ऐसी बुद्धिनाशक अवस्था होगी कि इसमें उसे अपने अकल्याणमें तो कल्याण दीखेगा और कल्याणमें अकल्याण दीखा करेगा । इस अवस्थामें मनुष्यके मनमें अनेक प्रकारके विक्षेप उत्पन्न होते रहेंगे । मनुष्यकी इस मानसिक स्थितिको विषाद कहा जायगा । मनुष्यका अपने मनमें विषाद उत्पन्न होनेके अवसरोंको न आने देना ही प्रसन्नता है ।

यदि मनुष्य अपने मनमें विषाद उत्पन्न करनेवाले कारणोंको अव्याहतरूपसे घुस जाने देगा तो उसके प्रसन्न रहनेकी आशा जाती रहेगी । विषादसे कभी प्रसन्नता नहीं हो सकती । विषादभरी अवस्थामें रहकर जीवन बिताना मनुष्यका दुर्भाग्य है । अपने जीवनको अपवित्र रखनेसे उसमें विषाद उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता । विषाद अपवित्रताका ही रूपान्तर है । यदि मनुष्य अपने आपको वर्तमानमें अपवित्र हो जाने देगा अर्थात् वह अपवित्र होनेका अवसर आने पर अपने आपको अपवित्र होनेसे रोक नहीं सकेगा, तो बताइये अगले क्षणोंमें उसके पवित्र होनेकी संभावना कहाँ रहेगी ? ऐसा मनुष्य जिस कारणसे वर्तमानमें पूर्णत्व पा लेना असंभव पा रहा है, वह कारण अगले क्षणोंमें उसके पाससे कहाँ चला जायगा ? यदि मनुष्य अपने वर्तमानको उज्ज्वल रखना नहीं सीखेगा अर्थात् यदि वह वर्तमानमें अपनेको पूर्ण निर्भ्रान्त और आनन्द रूप बनाये रखनेकी

दृढता नहीं दिखायेगा, तो उसका इस पावनी अवस्थाका पाना सदाके ही लिये असंभव हो जायगा। यदि मनुष्य वर्तमानमें अपना सुधार न करना सह लेगा, यदि वह वर्तमानमें बिना सुधरी अवस्थामें रहना स्वभाव बना लेगा, तो कहना पड़ेगा कि इसने पूर्ण मनुष्य बननेकी असंभावनाको ही अपने जीवनका लक्ष्य बना लिया। यह उसके जीवनकी कैसी घोर अंधेरी रात होगी !

जो जिस ओर मुँह करके चलता है वह उस स्थानपर कभी न कभी पहुँच ही जाता है। यदि मनुष्य अपूर्ण रहनेकी ओर चलेगा अर्थात् अपने मनमें अपूर्ण रहनेमें बुराई देखना छोड़ देगा और अपनेको अपूर्ण भ्रांत तथा निरानन्द मान बैठेगा तो उसके पूर्णमनुष्य बननेकी संभावना जाती रहेगी। बात यह है कि जब तक मनुष्य अपनेको मानवजीवनकी सबसे ऊँची अवस्था पानेका अधिकारी नहीं मानेगा, तब तक उसे ईश्वरदत्त मानवावताररूपी सुअवसरको निम्न अवस्थाओंमें ही काटना पड़ेगा। प्रकृति सब समय सब मनुष्योंको सर्वाधिकार देनेको लालायित खड़ी है। परन्तु कोई भी अधिकार लेना मनुष्यके अपने ही हाथकी बात है। मनुष्य वर्तमानमें अपने आपको जितना अधिकार दे देगा उसके हाथमें सदा उतना ही अधिकार रहेगा। यदि मनुष्य अपनी बुद्धिको रूप रस आदि भोग्य पदार्थोंके बंधनोंमें पड़े रहनेकी अपेक्षा प्राप्तव्य ऊँची अवस्था तक नहीं पहुँचा सकेगा तो उसका मानवजन्मधारण करना निरर्थक रह जायगा। इसलिये यदि मनुष्यकी समझमें रूप रस स्पर्श आदि भोग्य पदार्थोंके बंधनोंमें पड़े रहनेकी अपेक्षा अपने लिये कोई ऊँची प्राप्तव्य अवस्था आती हो तो उसे वर्तमान क्षणको ही उस ऊँची अवस्थाको पानेका एकमात्र सुअवसर घोषित करना पड़ेगा।

यों तो काल तीन हैं परन्तु संसारमें वर्तमानका महत्व सर्वोपरि है। वर्तमान मुहूर्त ही अपने जीवनको ऊँचा उठानेका सबसे उत्तम काल है। यह बात कभी न भूलनी चाहिये कि मानव जीवनमें वर्तमान मुहूर्तकी अपेक्षा ऐसा कोई अनुकूल मुहूर्त नहीं आयेगा

जिसके भरोसे मनुष्यका वर्तमान मुहूर्तको टालकर विषयमग्न रहना उचित कहा जा सकता हो। सब क्षण आ रहे हैं और सब भूतके सर्वग्रासी पेटमें निगले जाकर व्यवहारसे बाहर होते चले जा रहे हैं। जीवनकाल मनुष्यको छू छूकर फिर कभी न लौटनेके लिये उससे दूर हटता चला जा रहा है। हे मनुष्य ! यदि तू सचमुच प्रसन्न रहना चाहता है तो तू साहसकर ? तू अपने मोहात्मक वायुमण्डलमेंसे बाहर निकल ? और संसारकी वास्तविकताको समझ कि तू और संसार क्या है ? तू अपनी तथा संसारकी वास्तविकताको समझकर इसी क्षण प्रसन्न हो जा ? तू अपने संकल्पमें बल ला ? तू देख कि यह समग्र सृष्टि संकल्पबलसे बनी है। तू भी अपने संकल्प बलसे अपनेको इसी क्षण पूर्ण अभ्रांत तथा आनन्द रूप अवस्थामें पहुँचा दे ? तू चाहे तो सब कुछ कर सकता है। तू अपने ही संकल्प से संसारमें बँधा है। तू इसे तोड़ दे। तू अपनेको ऊँचा उठानेके लिये भावीकी प्रतीक्षा मत कर। हे मनुष्य ! तुझे अपने मानसिक उत्थानके लिये जो कुछ करना हो वर्तमानमें कर। इस काममें भावीकी प्रतीक्षासे तुझे कभी कोई लाभ न होगा। यदि तू वर्तमानमें अपनेको ऊँचा उठानेके लिये उद्यत नहीं होगा तो कहना पड़ेगा कि तैंने अधूरा रहनेको, भ्रममें रहनेको और निरानन्द रहनेको ही अपने जीवनका लक्ष्य बना लिया और तू भूलपर भूल करते रहना चाहता है। यदि तू वर्तमानमें अपनेको ऊँचा उठानेको कटिबद्ध नहीं होगा तो कहना पड़ेगा कि तुझे प्रसन्न रहनेकी इच्छा नहीं है। जो जान-बूझकर प्रसन्न रहना नहीं चाहता, उसके प्रसन्न रहनेकी कोई कल्पना नहीं हो सकती। जो मनुष्य अपनेको पूर्ण अभ्रांत तथा आनन्द-स्वरूप बना लेगा उसके मनमें, किसी भी प्रकारका अभाव या किसी भी प्रकारकी भ्रांति उत्पन्न करनेवाली समझी हुई वस्तु विक्षेप पैदा नहीं कर सकेगी। ऐसा मनुष्य मानवजीवनके सुरम्यफल स्वाभाविक आनन्दसे छक गया होगा और इसीमें अटल रहने लगेगा। अपने आपको प्रत्येक क्षण प्रसन्न रखनेका अधिकार मनुष्यके ही हाथमें है। वह

अपने जीवनका विधाता और सम्राट है। जिस विचारहीनने अपने आपको भ्रांत और पतित रखनेको ही अपने जीवनका लक्ष्य मान लिया होगा, उसे भ्रांतिशून्यता और पवित्रताका दिव्य आनन्द देनेकी शक्ति संसारमें किसीके भी पास नहीं है।

अपनेको प्रसन्न रखनेकी दृढ इच्छा ही एकमात्र वह पवित्र ईश्वरीय शक्ति है जो मनुष्यको प्रसन्न रखती है। मनुष्य अपनेको पवित्र रखनेकी इच्छा रखने से ही पवित्र बनता है। इस इच्छाको ही मनुष्यकी आत्मशक्ति कहते हैं। अपनेको पवित्र रखनेकी दृढ इच्छा ही घट घटवासी नारायण ईश्वर या पुरुषोत्तम है। ईश्वरको पुरुषोत्तम कहनेका रहस्य यह है कि प्रत्येक पुरुषमें उसका जो उत्तमतम रूप है वही पुरुषोत्तम है। अपनेको पवित्र रखनेकी इस शुभ इच्छासे दूसरी पुरुषोत्तम या भगवान नामकी बाहरी ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जो चामकी जीभसे अपने आपको पतित कहनेवाले या मनमें पतित रहनेकी इच्छा रखनेवाले भक्ताभासोंके कण्ठका आर्तनाद सुनते ही कहीं वैकुण्ठसे दौड़ी दौड़ी आती हो और उसके हाथोंकी अँजलिमें प्रसन्नताका परोसा या परसाद परोस देती हो। कहा जाता है कि भगवान् भावके भूके हैं। इसका भी यही अभिप्राय है कि भगवान् मनुष्यके भावात्मक मनमें बैठे हैं। वे मनुष्यकी भावनाको प्रत्येक क्षण परख रहे हैं। वे केवल कंठकी आर्तवाणी सुनकर धोखेमें नहीं आते। भगवान्‌की पतित पावनताका यही अभिप्राय है कि जब पतित मनुष्य स्वयं ऊपर उठना चाहता है तब उसके भीतर बैठे भावनात्मक भगवान् उसे प्रसन्नताके साथ उत्थानकी स्वीकृति दे देते हैं। वे उठनेवालेकी अनन्त प्रकारोंसे सहायता करते हैं। जो शुद्ध भावना रखते हैं, जो यह समझते हैं कि हम पवित्र हैं, हम शुद्ध हैं, हम ज्ञानी हैं, वे कल्याणमार्गपर लगे हुए हैं। वे भगवान्‌को जैसे पकड़ना चाहिये उसी प्रकार पकड़े बैठे हैं। पवित्र रहनेकी दृढ भावना ही भगवान् है।

जबतक मनुष्य अपने मनमें शुद्ध भावनाको नहीं जगा लेता

तबतक यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसको अप्रसन्न रहना ही रुचिकर और स्वीकरणीय लग रहा है। यदि जीवनमें प्रत्येक समय मनमें मैं पूर्ण मैं अभ्रस्त मैं आनन्द स्वरूप मैं पवित्र और ज्ञानी हूँ इत्यादि प्रकारकी शुद्ध भावना जगाकर नहीं रक्खी जायगी तो अप्रसन्नता उत्पन्न करनेवाली स्वार्थबुद्धिको मनमें घुस बैठनेसे नहीं रोका जा सकेगा। सदा स्वच्छ तथा सुन्दर वे ही घर रहते हैं जिनमें अनधिकारियोंको नहीं घुसने दिया जाता। साँप आदि अनधिकारी भीषण जन्तु जिस घरको सूना देखते हैं उसीमें घुस बैठते और उसे भयानक बना डालते हैं। शुद्ध भावना ही मानव-जीवनका सर्वश्रेष्ठ लाभ है। शुद्ध भावना ही मानव मनका स्वाभाविक गृहस्वामी है। जिस समय मनुष्यके मनमें शुभचिन्ता जागी हुई नहीं होती, उस समय उसका मन सूना होता है। उस सूने मनमें स्वार्थरूपी अनधिकारी घुस बैठता है। वह स्वार्थरूपी अनधिकारी धनमान या भोग आदि असत्य पदार्थोंकी माँगको जगा डालता है। उसके मनमें घुस बैठा हुआ वह स्वार्थ उसे कभी तो क्षणिक तृप्ति और कभी क्षणिक अतृप्तिके बन्धनमें बाँधकर विषादका कटुरस चखाया करता है। वह उसकी मनुष्यताको नष्ट करके उसे परतन्त्रताके बन्धनमें जकड़ डालता है।

शुद्ध भावनामें ऐसा कोई भय नहीं है। उसमें भ्रान्ति नहीं है, उसमें ह्रास नहीं है, उसमें वृद्धि नहीं है और उसमें परतन्त्रता भी नहीं है। मनुष्यकी चिर स्थिर परिपूर्ण प्रसन्नता उसीके उत्साह और उसीके पूर्ण उद्यमका शुभ परिणाम है। यह वह प्रसन्नता है जिसका बाह्य संसारकी अनुकूलता प्रतिकूलताके साथ लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। मनुष्यकी स्थिर परिपूर्ण प्रसन्नता पूर्ण रूपसे स्वतन्त्र अवस्था है। शुद्ध भावना ही स्वतन्त्रता है। इस जगत्में भजन यज्ञ ज्ञान ध्यान जप तप आदि जितने प्रकारके साधन परमार्थप्राप्तिके मार्गरूप माने हुए हैं, उन सबका एकमात्र अभिप्राय यही है कि मनुष्य अपने मनमें शुद्ध भावनाको जगा

जगाकर रक्खे। ईश्वरका नाम तथा उनका जप भी इसी शुद्ध भावनाका संक्षिप्त संस्करण है। नामजपका अर्थ भी शुद्ध भावनाको जीवनका अविस्मरणीय साथी बना लेना है। जिस कामको करते समय यह शुद्ध भावना अक्षुण्ण बनी रहती या बनी रह सकती हो वही परमार्थ है वही मानव-जीवनका लक्ष्य है और वही प्रसन्न रहनेकी सर्वोत्तम विधि है।

नम्रता

संसारके सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ मनुष्यका स्वरूपसंबन्ध है। एक ही विश्वव्यापी भूतात्मा प्रत्येक भूतमें नाना रूप लेकर व्यवस्थित है। अपने तथा प्राणियोंके इस नित्य सम्बन्धको कभी कोई तोड़ नहीं सकता। सबके साथ अपने नित्य संबन्धोंको पहचान लेना नम्रता है। दूसरोंके साथ अपने मनुष्यत्वकी मर्यादाका पूरा ध्यान रखकर व्यवहार करना 'नम्रता' है।

संसारमें एक दूसरे प्रकारकी छद्मवेषधारिणी नम्रता भी है। उससे सावधान रहना चाहिये। वह कृत्रिम नम्रता दूसरोंके साथ व्यवहार करते हुए मनुष्यताकी मर्यादा टूटने लगनेके समय, नम्रताके नामपर चाटुकारिताकी भावना आजानेके समय, दूसरोंसे नम्रताका प्रमाणपत्र ले लेनेकी किंवा दूसरोंको बहलाकर उनसे अपना कुछ भौतिक लाभ करलेनेकी इच्छा उत्पन्न हो जानेके समय प्रकट हुआ करती है। उस समयकी नम्रता नम्रता नहीं होती। उसे तो स्वार्थ और परवंचनके दाँवपेंच कहना चाहिये। जैसे फलवाले वृक्ष फलोंके बोझेसे नम्र हो जाते हैं उसी प्रकार हृदयके ऊपर पड़ा हुआ मनुष्यताका, ऊंची भावनाओंका, या प्रभुका बोझा मनुष्यको सच्चा नम्र बना देता है। जहाँ हृदयके ऊपर प्रभुका बोझा न होनेपर भी नम्रता दीखती है वहाँ वह नम्रता

नहीं होती। वहां अपना काम निकालनेके लिये धरा हुआ नम्रताका बनावटी रूप होता है। ऐसा नम्ररूप कभी भी धूम्रकेतुके समान उत्पातकारी भयंकर रूप बन जाता है। जो आज अपनी वासनातृप्ति या अपनी यशोभिलाषाकी पूर्तिके लिये नम्रताका बनावटी वेष पहनकर बैठा है, वही कल अपनी भोगाभिलाषापूर्तिके लिये भयंकर राक्षसका रूप धारण करनेमें विलम्ब नहीं करेगा। स्वार्थी मनुष्य गिरगिटके समान आवश्यकताके अनुसार अपने रंग बदलता रहता है। वह अपने स्वार्थके लिये कहीं किसीके हाथ जोड़ता है, कहीं किसीको कोड़ोंसे पीटता है, कहीं किसीका सेवक बनता है और कहीं किसीका प्रभु बन जाता है। उसका लक्ष्य निश्चित न होनेसे उसके व्यवहारमें संगति या समानता नहीं होती। सच्ची नम्रतासे एक बार झुके हुए हृदयसे फिर किसीके भी सामने कभी उद्धत नहीं हुआ जाता। वह किसीके प्रति किये गये अनम्र व्यवहारको उसका नहीं किन्तु अपने प्रभुका अपमान करना समझता है। इसलिये वह अनम्र व्यवहार कर ही नहीं सकता। जो सदा नम्र रह सकता है वही सच्चा नम्र है। जो कभी-कभी नम्र होता है वह नम्र नहीं है। वह नम्रताका वञ्चक वेष पहन कर समाजमेंसे अपना आखेट ढूँढनेवाला हिंसक जन्तु है।

मनुष्यता ऐसा गुण नहीं जो किसी विशेष व्यक्ति किसी विशेष समाज या किसी विशेष सम्प्रदाय अथवा विधाताके किसी विशेष कृपापात्रमें ही पायी जाती हो। मनुष्यतामें तो प्रत्येक मनुष्यका समान अधिकार है। इस वैषम्यभरे संसारमें आकर मनुष्यको यही तो समझना है कि दूसरोंके मनुष्यत्वमें और हमारे मनुष्यत्वमें लेशमात्र भी भेद नहीं है। मनुष्यता प्रत्येक मनुष्यका एकमात्र आराध्य और पूजनीय भगवान् है। मनुष्यता सीख लेनेके अतिरिक्त मनुष्यको और करना ही क्या है? जो औरोंके मनुष्यत्वका अपमान करता है वह औरोंका कुछ न बिगाड़कर अपना ही बिगाड़ करता है। वह अपनेको ही मनुष्यत्वसे हीन सिद्ध कर देता है। जो औरोंके साथ मनुष्यतासे बर्ताव करता है, वह औरोंपर कोई कृपा नहीं करता, किन्तु अपनी ही

मनुष्यताका सम्मान करता है। वह अपने मनुष्यतायुक्त व्यवहारसे अपनेको ही मनुष्य सिद्ध करता है। ऐसे ही आत्मप्रभावी व्यवहारका नाम नम्रता है।

नम्रता और आत्मसम्मान दोनोंका एक अभिप्राय है। जो मनुष्य मनुष्यमात्रकी मनुष्यताकी पूजा करनेमें कभी प्रमाद नहीं करता, अपनी मनुष्यताकी रक्षा करनेकी शक्ति सदा उसीके हाथमें रहती है। यदि किसीके मनमें कभी किसी भी और कैसे भी दूसरेको अपनेसे नीच समझकर, उसका अपमान उपेक्षा या अवहेलना करने की प्रवृत्ति जागने लगी हो, तो उसे समझ लेना चाहिए कि वह अपनी ही मनुष्यताको अपमानित और पददलित कर चुका। यदि उस समय उसके मनमें अपनी मनुष्यताका लेशमात्र भी आदर हो तो उसे अपने तात्कालिक उत्तेजनासे गरम हुए मस्तिष्कको ठण्ढा करना चाहिए तथा अपने मनसे अपने श्रेष्ठपनेके भारी भ्रमको हटाना चाहिए और तुरन्त इस बातकी ढूँढमें लग जाना चाहिए कि इस समय कैसा व्यवहार करनेसे मेरी मनुष्यता जीवित रह सकती है। इसका परिणाम यह होगा कि वह तत्काल अपने व्यवहारसे लज्जित होकर, अपनी ही मनुष्यताको अपमानित देखकर, उसीकी पूजा करनेको उद्यत हो जायगा। तब वह समझेगा कि मैं औरोंके साथ मनुष्योचित वर्ताव करके ही अपनी मनुष्यताका सम्मान कर सकता हूँ।

ओ मनुष्य! तुझे संसारकी रचनाको, औरोंके तथा अपने नित्यात्मक स्वरूप संबन्धको तथा अपनी सर्वोत्तमताको भले प्रकार समझकर तब संसारयात्रामें पड़ना चाहिये। तुझे अंधा रहकर संसारकी यात्रा नहीं करनी चाहिये। यदि तू संसारकी वास्तविकताके प्रति अंधा रहकर, इस यात्राको प्रारम्भ कर बैठेगा, तो अपने जीवनका ध्रुव नक्षत्र न दीखनेके कारण पदे पदे पथभ्रष्ट हो होकर दुःखी होता रहेगा। जब तू संसारको समझ जायेगा तब दूसरोंको भी अपना ही जैसा सम्मान देना अपना पवित्र धर्म समझेगा। क्योंकि

तब तुझे औरोंके सम्मानमें आत्मदर्शन होगा। इन सब दृष्टियोंसे मनुष्यको किसी भी दूसरे मनुष्यका अपमान नहीं करना चाहिये। अपमान तो करना चाहिये केवल अपनी क्षुद्रताका, अपनी दुर्बलता का, अपनी स्वार्थबुद्धिका और अपने अहंकारका। इनका अपमान इसलिये करना चाहिये कि ये दुर्गुण मनुष्यको आत्मसम्मानकी ऊँची स्थितिसे नीचे उतार लाते हैं। मनुष्यको जानना चाहिये कि औरोंके साथ हीन वर्ताव करके उन्हें कोई नीच नहीं बना सकता। औरोंके साथ अपमानका वर्ताव करके केवल अपनेको नीच बनाया जा सकता है। जो विद्यामद, धन-मद, या बलमदमें आकर अपनेको ऊँचा मानकर, दूसरोंके साथ कड़वा वर्ताव करता है, वह अपने आप ही नीचा या क्षुद्र बनता चला जाता है। जो औरोंका अपमान करने जाता है, वह अपनेको ही अपमानित करके लौटता है। स्वार्थ-बुद्धि और कायरता नामके दो दोषोंके वशमें आजानेवाला मनुष्य समझता तो है कि मैं अपना बड़ा काम कर रहा हूँ, मैं बड़ा लाभ उठा रहा हूँ। परन्तु वास्तवमें वह इस प्रयत्नमें अपना सर्वनाश कर लेता है। उसे समाजमें जो उच्च पद लेकर सम्मानसे सिर ऊँचा करके जीना चाहिये था, उससे वह अपनेको सदाके लिये वंचित कर लेता है और नगण्य जीवन बिताकर यहाँसे चला जाता है। स्वार्थरत मनुष्य अपनी ही मनुष्यताको अपमानित कर बैठता है। अपनी मनुष्यतको खो देना ही अपमानित होना है।

दूसरोंका अपमान करनेवाले उद्धत लोग जानें कि अपनी मनुष्यताका अपमान कर लेने या उसे अपने जूतोंसे रौंद देनेके पश्चात् ही दूसरोंको अपमानित करनेकी प्रवृत्ति या दिखावा हुआ करता है। अपनी मनुष्यताका सम्मान करना जानने वाला किसी भी समय और अवस्थामें उसे त्यागनेके लिये उद्यत नहीं होता। ऐसा मनुष्य स्वप्नमें भी औरोंको अपमानित करनेका भ्रमपूर्ण तथा मनुष्यको नीच बना देनेवाला प्रयत्न कभी नहीं कर सकता। अपनी मनुष्यता का सम्मान करनेवाला मनुष्यतासे विरोध आपड़े तो सारे संसार-

को ठुकरादेनेके लिये सहर्ष उद्यत हो जाता है, परन्तु अपनी मनुष्यतासे अणु भरके लिये भी पृथक होनेको उद्यत नहीं होता।

स्वाभिमानी मनुष्य औरोंकी स्तुति-निन्दामें सम्मिलित नहीं होता, औरोंसे की हुई अपनी स्तुति-निन्दासे प्रभावित नहीं होता, औरोंके भलेबुरे व्यवहारमें उदास रहता है, दूसरोंकी दृष्टिसे या दूसरोंके व्यवहारसे अपना कर्तव्य-पथ नहीं बनाता। वह दूसरोंसे प्रभावित न होकर तथा दूसरोंपर प्रभाव डालना न चाहकर, सब समय अपनी मनुष्यताके गौरवको बढ़ाता रहता है। इस प्रकार भीतर ही भीतर आत्मोत्थानमें लगे रहनेका नाम नम्रता है। आत्मसम्मानका ज्ञान भी इसीको कहते हैं। अपनी मनुष्यता और मनुष्यमात्रकी मनुष्यतामें एकताका ज्ञान भी इसीको कहा जाता है।

मनुष्यकी स्वार्थबुद्धि ही मनुष्यको नम्रता नामकी इस उदार अवस्थासे नीचे गिरा देनेवाला शत्रु है। जहाँ स्वार्थबुद्धि है वहीं अहंकार है। जहाँ स्वार्थबुद्धि है वहीं ऊँचेपनका अभिमान है। जहाँ ऊँचेपनका अभिमान है, समझ लो कि वहाँ नीचताकी कोई थाह नहीं है। जिस पुरुषमें ऐसी नीचता है उसे सर्वत्र नीच ही नीच दीखते हैं। स्वार्थी मनुष्य औरोंके महत्वको सन्तुष्ट मनसे कभी सहन नहीं कर सकता। वह औरोंको नीचा करनेके प्रयत्नमें जिस उद्धतपनेकी प्रदर्शनी करता है, उसमें वह अपने मनुष्योचित पशुसुलभ स्वभावको प्रकट किया करता है। अपनी योग्यता तथा अधिकारोंका ठीक ठीक ज्ञान होनेपर उद्धत बननेकी शंका नहीं रहती। तब व्यवहारोंमें स्वभावसे नम्रता आ जाती है।

नम्र व्यवहारकी प्रतिध्वनि भी नम्र होती है। नम्र व्यवहारका मिला हुआ उत्तर भी नम्रतम होता है। यों हमारा और हमारे साथ व्यवहार करनेवालेका अहंकार नम्रताकी ज्ञानाग्निमें भस्म हो जाता है और दोनोंको ऐक्यमें रहनेवाले महासुखके दर्शन मिला करते हैं।

अपनेको परमात्माके चरणोंमें विलीन करके अर्थात् अपने व्यक्तित्वके विलीनीकरणकी क्रियापर पूरा-पूरा अधिकार पा लेनेपर सत्य

अर्थात् परमात्माके सत्यरूपके अधीन रहने लगना नम्रता है। परमात्मासे दूर अर्थात् विमुख रह कर, असत्य के अधीन बने रहना ऊपरसे नम्रता दीखनेपर भी अनम्रता या उद्धतपन है। परमात्मासे विमुख, किसीको साष्टांग प्रणाम करता हुआ भी अनम्र और उद्धत है। मनुष्यको या तो परमात्माके अधीन रहना पड़ता है या उसे अपने जीवनके दिन परमात्मविमुखता नामक पापके देवके वशवर्ती होकर बिताने पड़ते हैं। परमात्माविमुखतारूपी यह अनम्रता या उद्धतपन ही कभी-कभी झूठी नम्रताका रूप धर लेता है और मनुष्य समाजको पापके देवताके चरणोंमें लुटाकर छोड़ता या उससे उसकी चाटुकारिता कराता है। इसलिये आइये इस भ्रांत नम्रतासे बचे रहनेके लिये इसके रूपको समझें। कृत्रिम नम्र लोग संसारमें अपनेसे किसी बड़े समझे हुए के सामने या तो अनुनायक बातें बनाकर या देह झुकाकर या हाथ पैर आदि जोड़कर अपनेको नीच तथा उसे उच्च सिद्ध करनेवाला वाचिक या दैहिक प्रदर्शन करते हैं। उनकी उससे अपनेको नम्र कहलाने या उससे नम्रताका प्रमाणपत्र लेनेकी इच्छा नम्रता या शिष्टाचार माना जाने लगा है। परन्तु यह नम्रताका दिखावा है। नम्रताका यह दिखावा मनका पतन करनेवाला होनेसे स्पष्ट ही अनम्रता या अशिष्टाचार है। नम्रताका महत्वपूर्ण भाव दूसरे किसीके सामने झुकने, घुटने टेकदेने या किसी दूसरेसे दब जानेसे पूरा नहीं होता। किन्तु अपने सत्य आत्मरूपकी ओर झुक जाने, उसमें विलीन होजाने तथा सर्वत्र सब भूतोंमें उसीका दर्शन करते रहनेसे पूरा होता है। नम्र समझे जानेवाले बनावटी शिष्टाचारियों तथा किसीको नम्रताका प्रमाणपत्र देने वालोंके मनोंमें एक दूसरेको सत्यसे हीन रखकर, अर्थात् एक दूसरेको असत्यमें या धोकेमें फांसकर अपना काम बना लेनेकी आत्मवंचना समायी रहती है। इस प्रकारकी नम्रताका प्रमाणपत्र देनेवाले तथा इस प्रकारकी नम्रताके गुणग्राही दोनों अपने मनमें यही चाहा करते हैं कि यह सम्पूर्ण मनुष्यसमाज नीचता,

पापाचार, मनुष्यत्वहीनता, असत्यनिष्ठा और अपूर्णताकी पतित करनेवाली घुड़दौड़में हमसे अधिक नारकी बना रहे और किसी भी प्रकार हमें ऊंचा बनाये रहे। वे इसी दुर्बुद्धिको लेकर जब अपने पास आनेवाले व्यक्तिके मुखसे 'मैं पापी नीच मिथ्याचारी अपूर्ण दीन-हीन शक्तिहीन तथा निर्बल हूँ' इस प्रकारके वचन सुनते और उस व्यक्तिको नम्र कहने लगते हैं, तब उसका भाव यही होता है कि वह व्यक्ति अपने आपको अपूर्ण तथा सत्यसे भ्रष्ट बताकर, उनकी अपूर्णता और उनकी सत्य-भ्रष्टताका समर्थन कर रहा है और वे इस समर्थनको देखकर मनही मन अपने नरकनिवासपर संतोष मान रहे हैं।

इस प्रकारकी भ्रान्त नम्रताके उपासक यह कहते पाये जाते हैं कि पूर्ण होना मनुष्यके लिये असंभव है। मनुष्य कभी पूर्ण हो ही नहीं सकता। पूर्ण केवल परमात्मा ही है। उनके इस कथनका यही अभिप्राय निकलता है कि जो परमात्मा पूर्ण है उससे मनुष्यका कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमें उसकी पूर्णता कभी विकसित नहीं हो सकती। उनकी दृष्टिमें पूर्ण परमात्मासे सम्बन्ध रखना और इसी आधारसे अपनेको पूर्ण कहना, अनम्रता या भूल है। उनकी दृष्टिमें यह अहंकार है। ऐसे लोग अपने आपको पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दका अधिकारी माननेवाले किसी भी मनुष्यको अपने समाजमें रहनेके अयोग्य तथा अपराधी ठहरा देते हैं। ऐसी भ्रान्त नम्रताके उपासकोंकी दृष्टिमें मनुष्यके लिये भ्रान्त अपराधी और सत्यसे हीन होकर रहना अपराधकी अवस्था नहीं समझी जाती। यदि कोई इन अपराधोंको भौतिक रूपमें स्वीकार करता हो तो यह पातित्यकी स्वीकृति अवश्य ही बड़े महत्वकी मनुष्योचित स्वाभाविक अवस्था समझी जाती है। उनका मस्तिष्क किसीको पातित्यके विरुद्ध कहते देखते ही चक्करमें आ जाता है। ऐसे मनुष्यको देखते ही उनका धीरजका बाँध टूट जाता है। वे निष्कलंक, निष्पाप मनुष्यकी कल्पना भी नहीं कर सकते। वे

अपनेको निष्पाप घोषित करनेवाले मनुष्यको देखते ही कहने लगते हैं कि बड़ेसे बड़े मनुष्य भी अपनेको पूर्ण और अभ्रान्त नहीं कह सकते। इसका भाव यह हुआ कि उनकी समझमें किसी भी मनुष्यको पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दका अधिकारी होना ही नहीं चाहिये। उनकी समझमें मनुष्य कभी इतना ऊँचा जा ही नहीं सकता। वे किसीका अपनेको ऐसा समझना वृथा अहंकार समझते हैं और इसे अपनी कल्पनाके शाब्दिक ईश्वरका अपमान करना या उसके सर्वाधिकारपर हाथ डालना बताते हैं। उनकी सहानुभूतिके ईश्वरका उपयोग केवल मनुष्य-समाजसे ईश्वरत्वको निर्वासित रखनेमें ही होता है। उनकी इस युक्तिका केवल यह आधार होता है कि अपनी दृष्टिमें बड़े समझे हुए किसी मनुष्यने कभी किसी विचारहीन समाजमें बैठकर उससे नम्रताका प्रमाणपत्र लेनेकी यशोभिलाषा पूरा करनेके लिये ऐसी बातें कह दी हैं कि "मनुष्यका पूर्ण होना या पूर्ण रूपसे सत्य मार्ग-पर चलते रहना असम्भव है,मनुष्यसे भूल होती ही रहती है, मनुष्य भूल करनेवाला प्राणी है, मैं भी एक अपूर्ण, भूल कर सकनेवाला तथा शक्त्यनुसार सत्यका पालन करनेवाला मनुष्य हूँ" ऐसे निःसार वाक्योंको वेदवाक्य समझकर इसी युक्तिके आधारपर अपूर्ण रहने, भूल करने और सत्यहीन बने रहनेको नम्रता समझ लिया जाय तो यही कहना पड़ता है कि परमात्माने पूर्णता और सत्य-निष्ठाको अपनी सृष्टिमें कहीं रक्खा ही नहीं। अर्थात् परमात्माकी सृष्टिमें अपूर्ण और असत्यनिष्ठ रहना ही बड़ी स्तुतिकी बात है।

सोचिये तो सही कि यदि हम परमात्मा नामकी किसी पूर्ण सच्चिदानन्दमयी सत्ताको स्वीकार करते हैं तो हम उसे कहाँ ढूँढें? हम उसे मानवहृदयसे बाहर कहाँ जाकर ढूढें? बताइये मानवहृदयको छोड़कर दूसरी ऐसी कौनसी सत्ता या भूमि है जो पूर्णता भ्रान्ति-हीनता और सत्यपर अपना अधिकार रखती या कर सकती हो? इसलिये इस ढंगकी बातोंको कि मनुष्यके लिये

पूर्ण अभ्रान्त और सत्यारूढ होना असंभव है सर्वथा निःसार जान लेना चाहिये। सच्ची बात यह है कि पूर्ण अभ्रान्त तथा अक्षय आनन्दका अधिकारी अनन्त-शक्तिमान् सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जाना यदि किसीके लिये सम्भव है तो वह मानव हृदयके लिये ही सम्भव है और उसीके लिये यह अत्यावश्यक भी है। ऐसा होना उसी दीन-हीनको असम्भव दीखता है, जो मानवदेहधारण करके भी सच्चा मनुष्य बननेसे लजाता है और पापके देवका ही दास बना रहना चाहता है।

किसी धर्मराजके मिथ्याभाषण, किसी मुनिके पतन, किसी मुनिके आश्रमकी पवित्रताके स्खलन, आदि कुदृष्टान्तोंका आधार लेकर, नम्रताके नामपर अपने जीवनमें असत्यसे समझौता करना चाहनेवाले मनुष्य निर्बलताको ही नम्रता मानते हैं। संसारके इतिहासोंके अभ्युत्थानके ध्रुव प्रह्लाद आदि दृष्टान्तोंसे भरे रहने पर भी वे अभ्युत्थानके लिये पूर्ण दृढ होनेके दृष्टान्तोंकी ओरसे आँखें मींच लेते हैं। वे अपनी अपनाई हुई निर्बलताका समर्थन करनेके लिये संसारके इतिहासमेंसे निर्बलताके ही दृष्टान्त ढूँढते हैं। वे सत्य-निष्ठा, अभ्युत्थानके लिये दृढ-चित्तता और पवित्रताकी पूर्ण रक्षा करनेके हठको न अपनानेको ही मिथ्या महत्व देकर अपने दीन हीन भोगकीट मनसे किसी प्रकार अपनी बिर्लतामें ही आत्मसंतोष मान सकनेके बहाने ढुँढवाते हैं। इस ढंगकी भ्रांत नम्रताके उपासक लोग जब किसी अपने स्तावकको, अपनेको पापी अपूर्ण भ्रांत और निर्बल कहता देखकर प्रसन्न होते हैं, तब उसका यही अभिप्राय निकालना चाहिये कि नम्रताका प्रमाणपत्र बाँटनेवाला पुरुष, अपनी मानसिक भाषामें नम्रताका प्रमाणपत्र लेना चाहते हुए, नम्र समझे जानेवाले इस आत्मनिन्दकसे यह आश्वासन पाकर निश्चिन्त हो रहा है कि "भय्या हम भी पतित हैं और तुम भी निःशंक होकर पतित बने रहो। आओ हम दोनों इस संसारमें पतितोंके पतितपनेको निष्कंटक बनाये रखनेके लिये एक दूसरेके दोष-मुग्ध बने रहें।"

सच्ची मनुष्यतामें इस ढंगकी भ्रांत नम्रताको कहीं स्थान नहीं है।

नम्रताके रहस्यको समझनेके लिये मनुष्यको यह जान लेना चाहिये कि मनुष्यके अपने आपको परमात्माके चरणोंमें विलीन करके सत्यके अधीन हो जानेपर, उसका इस संसारभरमें अपना समझने योग्य कुछ भी शेष नहीं रहता। संसारमें उसकी ममताकी अंगुलि रखने योग्य कोई वस्तु शेष नहीं रहती। वह देह तकको अपना कहनेको उद्यत नहीं रहता। यों सत्यके अतिरिक्त किसीको भी न अपनाकर अपने आपको सत्यसागरमें घोलकर अपना व्यक्तिगत स्वतंत्र अस्तित्व मिटाडालना ही निरहंकारता या नम्रताकी सच्ची स्थिति है। जो मनुष्य इस स्थितिमें पहुँच जाता है, उसके पास शक्तिकी न्यूनता नहीं रहती। उसके पास शक्तिका अनन्त उत्स बह बहकर आना प्रारंभ हो जाता है। वह अनन्त शक्तिमान सत्यस्वरूप निरहंकार बन जाता है। यदि ऐसा मनुष्य सत्यसे परिचा-लित होनेके कारण निःसंकोच हो कर अपने आपको ऐसा प्रमाण-पत्र दे दे कि मैं पूर्ण और अभ्रान्त हूँ तो वह क्या बुरा करता है? ऐसे मनुष्यका अपनेको ऐसा प्रमाणपत्र देना कर्तव्य तथा स्वभाव बन जाता है कि मैं पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दस्वरूप हूँ। ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेनेवाला अपनेको अपूर्ण पतित भ्रान्त या निरानन्द बताकर अपूर्णता भ्रान्ति और आनन्दहीनतासे प्रेम रखनेवालोंसे नम्रताका प्रमाणपत्र लेना नहीं चाहता। ऐसे महापुरुषकी अभ्रान्त दृष्टिमें, अपनेको पतित भ्रान्त अपूर्ण और निरानन्द समझना अपनी ऐश्वरी स्थितिसे नीचे उतर आना, अर्थात् परमात्मासे सम्बन्ध तोड़ लेना तथा पापके देवतासे सम्बन्ध जोड़लेनारूपी घोर अपराध होता है। नम्र मनुष्य परमात्माके वशमें रहकर सत्यकी शक्तिसे अनन्त शक्ति-मान् बनकर, अपनेको किसी भी प्रकारकी अपूर्णता या शक्तिहीनता के वशमें नहीं होने देता। यही उसकी नम्रताका शुद्धरूप होता है। जो अपनेको अपूर्ण पापी और भूल कर सकनेवाला बताता और दूसरोंको भी ऐसा ही सुनकर प्रसन्न होता तथा इससे विपरीत बात

सुनकर चौंकता है वह पापके देवताका चरण-चुम्बक बना रहता है! ऐसा पुरुष नम्र नहीं है किन्तु उद्धत है। वह निर्बल, कायर, कापुरुष, परचरणसेवक तथा स्वार्थान्ध होनेके कारण 'अनम्र' है।

परमात्माके चरणोंमें समर्पित रहनेवाले मनकी पूर्णतारूपिणी आस्तिक नम्रताका स्वरूप यही है कि उसका सत्यके अधीन रहनेवाला मन, सम्पूर्ण विश्वके असत्यप्रभावकी उपेक्षा करके परमात्माके चरणोंमें लीन तथा सत्यके अधीन बने रहनेमें अनन्त शक्तिमान् हो चुका है। अब उसे अपने संसारी व्यवहारोंमें इस शक्तिके प्रदर्शनमें ही पूर्णता दीखती है। संसारमें भौतिक पदार्थोंसे अटूट सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये किया जानेवाला वह व्यर्थप्रयास, जिसमें मनुष्य असंख्यवार पराजित हो चुका है, मनुष्यकी शक्तिका परिचायक नहीं है। संसारके भौतिक पदार्थोंके साथ अपना सम्बन्ध न टूटने देनेके लिये किये जानेवाले व्यर्थप्रयाससे मनुष्यकी अशक्ति और अपूर्णताका ही परिचय मिलता है कि इस मार्गमें पड़ा हुआ यह मनुष्य अशक्त तथा अपूर्ण होनेसे अभागा है। मनुष्यकी पूर्णता इसीमें है कि वह समस्त भौतिक वस्तुओंकी उपेक्षा करके, अपनी सत्यारूढ स्थितिको अक्षुण्ण बनाये रहे और उसपर किसी भी प्रकारकी चोट न आने दे। ऐसी पूर्णता ही मनुष्यकी नम्रताका सच्चा रूप है।

मनुष्यके मनमें कभी किसी प्रकारके विप्लव या क्षोभका न आ सकना ही नम्रताका सच्चा अभिप्राय है। नम्रता, ऐसा धर्म नहीं जो शरीरको किसीके सामने झुका देने, किसीके सामने हाथ जोड़ने, वाणीसे दीन शब्द बोलने, या मनमें किसीसे पराजय मान बैठनेसे, पाला जा सकता हो। नम्रतानामक धर्मका दूसरोंसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। नम्रताका स्वरूप अपने आत्माके प्रति सद्गुणी और उसीकी ओर नम्र बने रहनेसे ही पूरा होता है। अपने आत्माके सर्वरूप होनेसे सबके साथ आत्मदर्शी व्यवहार करना नम्रता है। यों नम्रता आत्मधर्म है। मनुष्यको नम्रताका प्रमाणपत्र अपने हृदयेश्वर नारायणसे ही लेना है।

सत्यस्वरूप परमात्माकी अधीनतासे बाहर मेरा इस संसारमें एक तिनका तक नहीं है, उससे पृथक् मेरा कोई अस्तित्व नहीं है, मैं आज उनकी अधीनतामें आकर अटल अचल सत्यस्वरूप हो गया हूँ, मैं अपने आपको सत्यकी अनन्त शक्तिमें सम्पूर्ण विलीन करके अनन्त शक्तिमान् बन गया हूँ, सत्यकी शक्तिसे पृथक् मेरी कोई गणना नहीं है, इस प्रकारकी निरहंकार तेजोद्दप्त सत्याधीनता स्वाभिमान तथा गर्वानुभूति ही सच्ची नम्रता है। संसारमें ऐसी कोई विरोध करनेवाली शक्ति नहीं जो मनुष्यको इस सत्याधीनताके अटल सिंहासनसे च्युत कर सकती हो। मनुष्य समस्त संसारसे विरोध आ पड़नेपर उसकी उपेक्षा करके, अपनी आत्मशक्ति लगाकर सत्यकी अटल अधीनता स्वीकार कर लेनेपर अनन्त शक्तिमान् बनता है। संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो मनुष्यको परमात्म-स्थितिसे उतारकर अनात्मस्थितिमें गिरा सकती हो, या जो उसे उसकी बन्धनहीन स्थितिसे गिराकर भौतिक पदार्थोंके मोहके बन्धनमें फँसा सकती हो, या जो संसारविजयी मनुष्यको किसी भी प्रकारके भौतिक प्रलोभन दिखाकर, उसे उसकी स्वतन्त्रस्थितिसे हटाकर, भयभीत करके पराभूत कर सकती हो। अर्थात् संसारमें ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो मनुष्यको उसकी निष्कामस्थितिसे नीचे उतारकर, उसे कामनाके कीचड़में फँसाकर, पराभूत कर सकती हो, जो उसकी निर्विकारस्थितिसे नीचे उतारकर उसे विकारग्रस्त या पराभूत कर सकती हो, जो उसे उसकी पूर्णताके सिंहासनसे नीचे खेंचकर अपूर्णतामें गिराकर पराभूत कर सकती हो। इस प्रकारकी आत्मशक्तिपर अटल विश्वास तथा दृढनिष्ठा रखकर अपनेको पूर्ण समझना और पूर्ण कहना सत्यारूढता निरहंकारता तथा पूर्णता है। अपनेको अपूर्ण समझना या कहना शिष्टगर्हित अनम्रता या उद्धतपन है।

इस जगत्के चतुर स्रष्टाने सारे मनुष्योंको मनुष्यताका अधिकारी बनाकर उत्पन्न किया है। उसने संसारके एक भी मनुष्यको मनु-

ष्यताके पानेके अधिकारसे वञ्चित करके नहीं भेजा। सम्पूर्ण प्राणियोंके इस ईश्वरदत्त अधिकारको समझ लेनेसे मनुष्यके हृदयपर पड़े हुए प्रभुके रहस्यमयरूपके प्रभावसे उसमें नम्रता आये बिना नहीं रहती। प्रभुके रहस्यमयरूपके बोझेसे झुका हुआ मनुष्य दूसरोंसे कभी अनम्र वर्ताव नहीं कर सकता।

शक्तिके उद्दण्ड होनेके कारण यदि कभी मनमें अनम्रताका उद्भव हो तो मनुष्यको सोचना चाहिये कि उसीके बनाये हुए असंख्य मनुष्योंमेंसे कुछ दिनके लिये संसारनटना करने संसारमें आया हुआ एक साधारणसा मनुष्य होकर किसीके भी पास अपनेको औरोंसे श्रेष्ठ मान बैठनेका कौनसा उचित कारण है? मनुष्यता प्राप्त करनेकी जो योग्यता एकमें है वही योग्यता सम्पूर्ण मनुष्योंमें हैं। सम्पूर्ण मनुष्योंके मनुष्यता पानेके इस अधिकारको पहचानकर सबका अधिकार सबको दे देनेमें ही मनुष्यका कल्याण है। इसलिये मनुष्यको जिस किसीसे व्यवहार आ पड़नेपर उसे भगवानका स्वरूप जानकर, उसके साथ उचित वर्ताव करना चाहिये। लोभ अभिमान और क्षुद्र अहंकारमें आकर औरोंसे पृथक् होकर, किसी घमंडी आसनपर बैठकर, औरोंको नीचा समझनेमें मनुष्यका कल्याण नहीं है। स्वार्थमलिन बुद्धिका कहना मानकर दूसरोंके साथ अमनुष्योचित वर्ताव करनेसे मनुष्यका कल्याण नष्ट हो जाता है। संसारमें आनेवाले मनुष्यको जानना चाहिये कि संसार अकेले तुममें ही समाप्त नहीं हो गया है। संसारका अधिकार तुम्हीं तक समाप्त नहीं हो गया है। संसारमें और भी लोग हैं। उनके भी तुम जैसे ही अधिकार हैं। सबका अधिकार सबको देनेमें ही मनुष्यका आत्मकल्याण है। इससे मनुष्यको सर्वत्र आत्मदर्शन होने लगता है। इस प्रकार मनुष्यको प्राणिमात्रके साथ अपने नित्यसम्बन्धको पहचानना चाहिये। त्रिलोकीके और अपने स्वरूप सम्बन्धको पहचान लेना ही नम्रता है। त्रिलोकीके तथा अपने संबन्धको समझ जाना ही कर्त्तव्यनिर्णयकी

सर्वोत्तम कसौटी है। कर्तव्यका निर्मलरूप अपने तथा त्रिलोकीके नित्यसंबन्धको पहचाननेपर ही निखरता है। मनुष्य यह जाने कि किसी भी मनुष्यके भाग्यमें किसी भी मनुष्यके साथ व्यवहार करने का शुभ अवसर यों ही नहीं आ खड़ा होता। ऐसा अवसर ईश्वरीय प्रबन्धसे आता है। ईश्वरकी ही कृपा और इच्छासे कोई मनुष्य किसी मनुष्यके पास आता है। ईश्वर ही किसीको कोई काम देकर किसीके पास भेजते हैं। यद्यपि भेजनेवाली ईशशक्ति आँखोंसे नहीं दीखती, फिर भी मनुष्यको अपनी सूक्ष्मेक्षिकासे उसकी गतिविधिको समझना चाहिये। ईश्वर मनुष्यको उसकी मनुष्यताका विकास करनेके अनन्त अवसर देना चाहता है। वह मनुष्यकी मनुष्यताकी परीक्षाके लिये ही किसीको किसीके पास भेजता है। दूसरोंके साथ हमारे व्यवहार ही हमारी मनुष्यताकी परीक्षाके पवित्र अवसर होते हैं। ऐसे सम्पूर्ण सुअवसर प्रत्येकके सामने इसीलिये लाये जा रहे हैं कि प्रत्येक मनुष्य इन अवसरोंसे लाभ उठाकर अपना आत्मकल्याण करे। इस प्रकारके व्यवहारका शुभ अवसर आनेपर मनुष्यका केवल इतना अधिकार होता है कि वह अपनी मनुष्यताकी सेवा करके अपना कल्याण कर लिया करे। किसीसे कोई व्यवहार आ पड़ते ही मनुष्यको तत्काल अपना मन टटोलना चाहिये और यदि उसमें दाता, नेता, पण्डित, परोपकारी, धनमान, यशस्वी, उपदेशक, गुरु, सुधारक, प्रतापी, वक्ता या चतुरपन आदि किसी भी प्रकारका औरोंको तुमसे पृथक और तुमको औरोंसे पृथक करनेवाला दुष्ट अभिमान भरा हुआ हो तो उसे तत्काल बाहर निकाल फेंकना चाहिये तथा सब समय स्मरण कर लेना चाहिये कि इस संसारमें परमेश्वर ही एकमात्र दाता हैं और वे ही सबका कल्याण करनेवाले हैं। वे ही सम्पूर्ण गुणोंके मुख्य निकास हैं, उन्हींने हमारा कल्याण करनेके लिये ऐसा प्रबन्ध किया है कि किसी व्यवहर्ताको हमारे पास भेजकर हमारे सामने मनुष्यत्वकी सेवा करके कृतार्थ होलेनेका शुभ अवसर उपस्थित कर दिया है। मनुष्य ही नहीं

शेष प्राणियोंके साथ होनेवाले व्यवहारको भी अपनी मनुष्यताके दर्शन करनेका शुभ अवसर समझकर व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकारकी समझ रखकर उनसे किये जानेवाला उचित व्यवहार नम्रता है। जो कोई व्यवहार प्रत्येक प्राणीके भीतर सब रूपोंमें रमे रहनेवाले नारायणका दर्शन करनेकी भावनाको लेकर किया जाता है उसीका नाम नम्रता है। जो कोई व्यवहार इस पावनी भावनाको लेकर किया जाता है कि हमसे व्यवहार करनेवाले इस प्राणीके रूपमें साक्षात् नारायण ही सेवाका सुअवसर देकर हमें कृतार्थ कर देनेके लिये हमारे सामने खड़े हैं, उसीको नम्रता कहते हैं। प्रभुके विश्वरूपधारी विश्वव्यापी बोझसे बोझीले हृदयको ही नम्र हृदय कहा जाता है।

दरिद्रता क्या है ?

धनकी प्यास दरिद्रता है। भोगोंकी प्यास भी दरिद्रता है। धनकी प्यासमें ही भोगोंकी प्यास समाई हुई है। अकेले धनकी प्यास किसीको नहीं लगती। धनकी प्यासके पास ही भोगोंकी प्यासका वास होता है। यों भोगोंकी प्यास ही सच्ची निर्धनता है।

धन अकेला किसीके पास नहीं रहता। धनके साथ धनका अभिमान भी रहता है। धनाभिमान मनुष्यको सदा सत्यदर्शनसे दूर रखता है। मनुष्यको सचाई न देखने देना ही धनाभिमानका स्वरूप होता है। धनोपार्जन करनेवालोंका यह विश्वास है कि हम धनके भरोसेसे, अपनी रक्षा अपने आप कर रहे हैं। वे समझते हैं कि धन न होता, तो हमसे हमारी रक्षा न होती। धनके महत्वपूर्ण वस्तु न होनेपर भी धनको अपनानेवाले लोग उसे इतना महत्व देते हैं कि वे अपने आपको, उसकी तुच्छ शक्तिसे ऊपरवाली उस शक्तिके हाथोंमें नहीं सौंप सकते, जिसे उन्हें अपना आपा सौंपकर कभीका निश्चित हो जाना चाहिये था। वे अपने धनके घमण्डके

साथ बँधे रहते हैं। वे अपनेको परमात्माके विश्वपरिवारसे अलग किये रहते हैं तथा अपने आपको उसकी विश्वपरिचालन व्यवस्थासे पृथक् समझा करते हैं। उन्हें अपने आप अपनी व्यवस्था करनेका वृथा घमण्ड हो जाता है। वे यह नहीं समझते कि वे विश्वके जननारायणमें विश्वनाथका दर्शन करनेके लिये ही इस संसारमें आये हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि हम विश्वके जन-नारायणमें विश्वनाथका दर्शन करनेके अवसरोंको सदा खोते रहकर अपनी कितनी बड़ी हानि कर रहे हैं? उनकी अहंकारमूढ बुद्धि, उन्हें परमात्मारूपी दयालु दाता, तथा विश्वप्रेमी नारायणसे सदा अलग बनाये रखती है। किसी भी विश्वप्रेमी विश्वात्माका प्रेम, किसी भी दयालु भगवान्की दया, और किसी भी दयालु-दाताका दान, उनके धनाभिमान नामके प्रहरीसे भगा दिया जाकर उनके पास आनेका साहस तक नहीं करता। जो नारायण, मनुष्यमात्रमें दया, प्रेम तथा दानवृत्तिके रूपमें निरन्तर बस रहे हैं, मनुष्यका हृदय ही उनके बसनेका स्थान है। परन्तु अपनेमें नारायण को बसालेने वाले, अपनेमें नारायणका बसनेका अधिकार सहर्ष स्वीकार कर लेनेवाले, नारायणके निवासमन्दिर ऐसे उदार हृदय धनाभिमानियोंके पास नहीं होते। उनकी धनभक्ति उन्हें विश्व-चालक शक्तिको नहीं देखने देती। धनाभिमानको त्याग देनेवाले अर्थात् धनपरसे अपना विश्वास हटाकर अपने आपको संपूर्ण रूपसे भगवानके हाथोंमें सौंप देनेवाले लोग ही विश्वमानवके घट-घटमें बसे हुए दयालु दाता, तथा प्रेमी नारायणका दर्शन पाते रहते हैं। धनाभिमान विश्वमानवमें ऐसे नारायणका दर्शन करनेकी प्रबलतम रुकावट बना रहता है। वह उसे नहीं देखने देता। जिस समय मनुष्य अपने समझे जानेवाले सब पार्थिव धन जन आदिको इदं न मम कहकर मम भावसे अस्वीकार करनेवाली शुद्ध बुद्धि पाता है, तब उसे अपनी ज्ञानरश्मिसे संसारभरको आलोकित कर डालनेवाली दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। वह दिव्य दृष्टि उसे इस सत्यका

साक्षात्कार कराती है, कि "ओह, मैंने अपनेको जिस परमात्माके हाथोंमें सौंपा है, उसीने मुझपर कृपा करके, मेरे सब तुच्छ धनजन का अभिमान छीनकर, उसके बदलेमें मेरे हाथोंमें अपना विश्वव्यापी आपा सौंप दिया है, और अब वह सदाके लिए मेरा हो गया है।" तात्पर्य यह है कि धनका अभिमान त्यागनेवालोंको ही सत्यनारायण या भगवान्का साक्षात्कार होता है। व्यक्तिगत धनके स्वामी बनना चाहनेवाले लोग अपनी धनवासनासे सर्वत्र सब भूतोंमें आत्मदर्शन करनेके अवसरोंको अपने ही निर्दय हाथोंसे खो देते हैं।

मनुष्यका जीवननिर्वाह उसीकी कर्मशक्तिसे होता है, धनसे नहीं। फिर भी साधारण रूपसे यह मान लिया गया है, कि रुपया पैसा न रहना दरिद्रता है। यह धनभक्तोंका बनाया हुआ सिद्धान्त है। धन बटोरनेवालोंके मनमें यही समाया रहता है, कि "हम धनसे जीवन धारण कर रहे हैं। हमारे जीवनधारण करनेका धनके अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए हमें धनका उपार्जन अवश्य करना चाहिये और धनोपार्जन करके अपनेको निर्धनता या दरिद्रतासे बचाना चाहिये।" साधारण दृष्टिसे देखने पर यह सिद्धान्त सच्चा प्रतीत होता है। क्योंकि धनके बदलेमें जीवनधारण करनेके पदार्थ मिल जाते हैं। परन्तु गंभीर विचार करनेपर यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध नहीं होता। वास्तविकता यह है कि जिन पदार्थोंके बिना जीवनधारण करना असम्भव है, आज कल धनशक्ति उन्हें पानेका उपाय प्रतीत होने पर भी उसका अमोघ उपाय नहीं है। जीवनधारण करानेवाले पदार्थोंके पानेका एकमात्र उपाय तो मनुष्यकी कर्मशक्ति है। जीवनके लिये आवश्यक पदार्थ मनुष्यको अपनी कर्मशक्तिसे प्राप्त होते हैं। मनुष्योंमें रहनेवाली कर्मशक्ति ही मनुष्यका सर्वसमर्थ ईश्वर है। यह कर्मशक्तिरूपी ईश्वर ही सबका निर्वाहक है। देखते हैं कि मनुष्य धन-धान्यसे हीन अवस्थामें चाहे जहाँ चले जाते हैं, परन्तु उनका कभी साथ न छोड़नेवाला उनका कर्मशक्तिरूपी ईश्वर वहीं उनके साथ जाता

और वहीं अपने प्रतापसे उनकी जीवनयात्रा कराता है। फिर भी इस अविचारी मनुष्यने इस अपने ईश्वरकी अवहेलना करके अपने निर्वाह तथा अपने (कर्मशक्तिरूपी) निर्वाहक ईश्वरके बीचमें, धन नामकी एक काल्पनिक बिचौलिया वस्तु बनाकर खड़ी कर ली है। पहले तो इसने धनको महत्व दिया है और फिर यह उससे प्रभावित होकर, उसीके उपार्जनमें चिन्तित होकर दुःखी रहने लगा है। मनुष्यने अपनी ही कल्पनासे अपनेको दुःखी रखनेकी यह धननिर्भर अवांछनीय अवस्था बना ली है। अब यह मनुष्य दूसरे प्राणियों के समान स्वाभाविक रूपमें जीवन-यात्रा करना नहीं चाहता। अब यह अपनी शक्तिका भौतिक मध्यस्थ बनाकर जीवन बिताना चाहता है। यह पहले तो अपनी शक्तिसे धन बनाना चाहता है और फिर उससे भोगोंकी सुविधा पाना चाहता है। इसकी कर्मशक्तिके धन नामका पार्थिव रूप धारण करते ही मरे हुए शरीर पर गृध्रोंके समान उसके ऊपर समस्त धनलोभियोंकी दृष्टि पड़नेसे धनशक्ति झगड़ेका कारण बन जाती है। धनशक्ति समाजको अशान्त बनाती है। मनुष्यकी कर्मशक्तिको पार्थिवरूप मिलते ही मनुष्यके सामने शत्रुता आदिके अवांछनीय अवसर आ खड़े होते हैं। ऐसी अवस्थामें, पहले धन प्राप्त करना और फिर उससे अपने जीवनका निर्वाह करना, कहाँतक उचित है ? यह गम्भीर विचारणीय समस्या है। इस गम्भीर समस्यापर समाजनिर्माताओंका ध्यान जाना है। उन्हें सोचना है कि समाजकी धननिर्भर रचना करें ! या उसे धनके बन्धनोंसे मुक्त रखकर उसे कर्मशक्तिपर निर्भर रहनेवाला बनायें ! इस परिवर्तनमें मनुष्यकी कर्मशक्तिकी बहुत बड़ी मात्रा व्यर्थ नष्ट हो जाती है। मनुष्यको इस शक्तिनाशको ध्यानमें लाकर इससे बचनेके उपाय सोचने चाहियें। भारतके आर्य ऋषियोंने इन्हीं सब दूरदृष्टियोंसे धनको जीवनमें महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं होने दिया था और समस्त व्यवहारोपयोगी पदार्थोंको परिवर्तनसे पाते रहनेकी पद्धतिका आविष्कार

किया था। यद्यपि आजकी परिस्थितिमें हमें धनके बिना काम चलानेकी बात अटपटीसी लगती है, परन्तु मनुष्यको सोचना चाहिये कि हम बीचमें धनशक्तिको क्यों खड़ा करें ? हम अपने भीतर रहनेवाली धनशक्तिकी माता कर्मशक्तिसे ही अपने जीवनका साक्षात् निर्वाह क्यों न करलें? और क्यों न सरल अव्यग्र जीवन वितायें? जब कि मनुष्येतर सब ही प्राणी अपनी कर्मशक्तिसे अपनी जीवनयात्रा कर रहे हैं तब हम भी ऐसा क्यों न करें? मनुष्योंमें भी ग्रामवासी कृषक आदि कर्मशक्तिजीवी लोग अपनी कर्मशक्तिसे ही अपने जीवनका निर्वाह करते हैं। कुछ थोड़े-से मनुष्य ऐसे अवश्य हैं, जो अपनी शक्तिसे पहले धनोपार्जन करते हैं और फिर उससे जीवन विताते हैं। उनकी धनशक्ति भी उनकी कर्मशक्तिका ही रूपान्तर होता है। धन कर्मशक्तिका ऐसा भौतिक रूपान्तर है, जिसके साथ-साथ झगड़े विपत्ति चिन्ता और दुराशा लगी हुई हैं। धन मानवीय कर्मशक्तिका हानिकारक रूपान्तर है। मनुष्य धनी लोगोंकी ऊँची अटारियें देखकर उन्हें सुखी समझनेकी भूल करता है। वह ऐसा न करे तो अच्छा करे। वह थोड़ेसे धनी मनुष्योंके भ्रमपूर्ण उदाहरणोंसे धोकेमें न आये तो बहुत से दुःखोंसे बचा रहे। क्या मनुष्य इन थोड़ेसे उदाहरणोंसे प्रभावित होकर धनकी उधारी शक्तिसे अपनी सच्ची कर्मशक्तिको अपमानित और पददलित होने देगा? यदि धनी लोगोंकी मायावी सफलता देखकर अपने जीवनमेंसे कर्मशक्तिका महत्वपूर्ण स्थान छीनकर उसे धनशक्तिको दे दिया जायगा, तो जीवनके बुरेसे बुरे दिन प्रारंभ हो जायँगे। अर्थात् तब मनुष्यका जीवन अशान्तिका केन्द्र बने बिना नहीं रहेगा और तब संसारभरमें आपाधापीकी आग लग जायगी। तब मनुष्यके जीवनमें कमाने खाने और झगड़नेके अतिरिक्त दूसरा कोई कार्य न रहेगा, जैसा कि आजके संसारमें हो रहा है। सोचिये तो सही कि मनुष्यके पास कमाने-खाने भोगने और भोगोंके लिये झगड़नेसे ऊँचा कोई काम न रहना उसकी कितनी नीच अवस्था

है! जीवनकी यथार्थताको समझनेके कामको ऊँचा सा नाम देकर, अपने बालकोंको उसका परिचय पानेसे बचानेके परिणाम स्वरूप आजके मनुष्यकी यह कैसी शोचनीय अवस्था हो गई है कि भोजन तथा भोगकी जिस समस्यामें पशुपक्षी व्यस्त हैं आजका मनुष्य भी उसीमें मस्त हो गया है। उसमें आज विषयासक्तिरूपी अयोग्यता पैदा हो गई है। इस अयोग्यताने मनुष्यको -विश्वव्यापिका शक्तिसे काम लेनेकी कला भुला डाली है। इस अयोग्यतासे आजका मनुष्य भोजन तथा भोगसे ऊपर उठनेमें असमर्थ हो गया है। यही कारण है कि आज समाजमें महामति सन्तलोग उत्पन्न होने बन्द हो गये हैं। यदि समाजको इस महा विपत्तिसे बचाना हो तो आजके शिक्षा शास्त्रियोंको मनुष्यसमाजसे भारतके ऋषियोंकी आर्ष जीवनपद्धति स्वीकार करानेके लिये, उसे समस्त संभव साधनोंसे संसारकी वास्तविकता समझानेके भगीरथ प्रयत्न करने होंगे।

धनशक्तिने संसारमें आज तक जितने अनर्थ किये हैं, उसने संसारमें जितने उत्पात कराये हैं, यदि मनुष्यजातिने उन सबको न भुलाया होता, तो धनशक्तिसे यह महत्व कभीका छिन गया होता। संसारमें जितने अत्याचार लूट-ठगई आदि दुर्गुण पाये जाते हैं, वे सब आत्मशक्तिपर विश्वास न रखकर धनपर विश्वास रखने-वालोंके ही पास रहते हैं। धनशक्तिसे उत्पन्न होनेवाले अनर्थोंको तब ही हटाया जा सकता है, जब मनुष्य धनको महत्वपूर्ण मानना छोड़ दे और कर्मशक्तिको ही महत्वपूर्ण माने। जिस दिन मनुष्य कर्मशक्तिका महत्वपूर्ण स्थान उसे लौटा देगा, उस दिन संसारसे दरिद्रता अपने आप लुप्त हो जायगी।

मनुष्य सुख पानेके लिये धन या भोग्य पदार्थोंका उपार्जन करता है। परन्तु मनुष्यके अन्तरात्माको जिस सुखकी भूख है, वह सुख इन धन आदि पदार्थोंमें नहीं है। वह इनसे नहीं मिलना है। वह सुख तो सदा शान्त मनमें रहता है। सुखेच्छु पुरुषको सदा शान्त मनकी कामना करनी चाहिये न कि मनको अशान्त बनानेवाले पदार्थोंकी।

सुखके लिये धन चाहना, प्यास बुझानेके लिये अग्नि चाहनेके बराबर है। यह मनुष्यका मानसिक हानि करनेवाला परिश्रम है। इस परिश्रमकी मात्रा बढ़नेके अनुसार ही मनुष्यके दुःख अर्थात् निर्धनताकी मात्रा बढ़ती चली जाती है।

धनके बिना जीवन धारण करना असम्भव माननेवालोंको विचारना है कि क्या मनुष्य धनके हाथमें रहनेसे निश्चित रूपसे जीवनयात्रा कर सकता है? क्या धन पास न होनेसे जीवनधारण करनेके मार्गकी सब बाधायें डरकर भाग जाती हैं? क्या धन उन सबको भगाकर मनुष्यको निर्विघ्न बना देता है? इस प्रश्नका उत्तर पानेके लिए मनुष्यको सबसे प्रथम जीवन धारण करनेका अर्थ समझना चाहिए। सब जानते हैं कि देह किसीका भी सदा नहीं नहीं रहना है। धनी निर्धन सबके देहोंका कुछ ही कालमें विनाश अवश्यम्भावी है। सारे देह अवश्यम्भावी विनाशकी ओर दौड़ लगाते चले जा रहे हैं। प्राणशक्ति शरीरोंमें केवल कुछ दिनोंके लिए आती है, सदाके लिए नहीं। न तो धनसे इस प्राणशक्तिका काल बढ़ाया जा सकता है और न धनसे इस प्राणशक्तिकी समाप्ति रोकी जा सकती है। प्राणशक्तिको जितने दिन इस शरीरमें रहना होता है, वह उतने दिन रहकर चली जाती है। मुट्ठीमें धनवाला चाहे तो इस प्राणशक्तिको, इसके नियत समयसे अधिक समय तक रोक रखनेके प्रयत्नमें, कुछ धन व्यय कर सकता है और कभी कुछ आधारहीन सन्तोष भी पा सकता है। जिस धनहीनके पास व्यय करनेको कुछ नहीं उसकी प्राणशक्तिको भी जितने दिन रहना है रहकर चली जाती है। मनुष्य अपनी प्राणशक्तिके कालको बढ़ाने और उसपर आयी हुई आपत्तिको हटानेमें कुछ धन व्यय कर सकता है। इसके आगे पैर रखते ही मनुष्यको दीख जाता है कि वह अधिकारहीन काम कर रहा है। इसलिए मनुष्योंके सामने मुख्य प्रश्न यह है और होना भी चाहिये कि शरीरके जीवित रहने तक उसे किस प्रकार जीवन बिताना चाहिये? तथा अपने जीवनमें धन-

को क्या स्थान देकर रखना चाहिये ? इन प्रश्नोंका सच्चा उत्तर ही जीवनधारणकी योग्यतम विधि और स्वरूप है ।

केवल लुहारकी धौंकनी के समान श्वास लेते रहना जीवन नहीं है । रुपये पैसेका रुपये पैसेसे भोग करने योग्य पदार्थ प्राप्त करके, देहके ईश्वरीय प्रबन्धसे जीवित रहने तक श्वास लेते रहने और भोजनादि करते रहनेसे बढकर कोई उपयोग नहीं बताया जा सकता। परन्तु जीवित रहनेका अभिप्राय केवल श्वास लेते रहनेसे पूरा नहीं होता । जीवित रहनेका अभिप्राय ज्ञानी बनने, जीवनको विश्वव्यापिता तथा सर्वात्मकताको समझकर शान्तिपूर्वक जीवन बितानेसे ही पूरा होता है । सच्चा धन तो हम उसी वस्तुको कहेंगे, जिसमें शान्तिपूर्वक जीवन बितानेके उद्देश्यको पूरा करनेकी शक्ति हो । मनुष्यको अपनेको अशान्तिके आक्रमणसे बचाने के लिये कोई न कोई उपाय तो करना ही पड़ेगा । वह इस कामके लिये जिस शक्ति पर भरोसा कर सकता है, वही सच्चा धन है । यों आत्मधन या स्वरूप परिज्ञान ही सच्चा धन है । इस धनसे धनवान न होना निर्धनता दरिद्रता या गरीबी है ।

जीवनधारण करनेका उद्देश्य ज्ञान प्राप्त करना,संसारकी वास्तविक स्थिति,इसकी रचनाके मूल अभिप्राय,तथा इसके स्रष्टा आदिको समझना है । मनुष्यके मनमें अपने सम्पर्क और उपयोगमें आनेवाले पदार्थोंके विषयमें ,अनात्माको आत्मा समझने आदि किसी प्रकारके भ्रान्त विचार या किसी प्रकारकी मिथ्या धारण न हो, वह उन सब के स्वरूपको, उनके अपने पास रहनेके अनियत कालको पहचाने, उसके उपयोगमें आनेवाला कोई पदार्थ उसे अपनी मोह ममतामें न फाँस सके, इस ज्ञानको प्राप्त करनेमें ही मनुष्यकी कर्मशक्ति लगनी चाहिये । ऐसे ज्ञानको प्राप्त करना ही मनुष्यके जीवनका लक्ष्य है । जो अभागा मनुष्य अपनी कर्मशक्तिको ऐसे पवित्र कल्याणकारी काममें न लगाकर जीवन धारण करनेकी वस्तुओंको बटोरना ही जीवन धारणका उद्देश्य बना बैठा है और अपनी कर्मशक्तिको उन्हीं

की प्राप्तिमें लगा रहा है, तो उसके जीवनधारणका अभिप्राय भोजनादि करते रहनामात्र है। यह उस मनुष्यकी कितनी दयनीय अवस्था है। मनुष्यको अपनी कर्मशक्तिको ज्ञान प्राप्त करनेमें लगाना चाहिए। जब मनुष्य अपनी सम्पूर्ण कर्मशक्तिको ज्ञान प्राप्त करनेमें लगादेगा, तब ज्ञानप्राप्तिमें लगाई हुई उसकी कर्मशक्ति साथ ही साथ इस ज्ञानप्राप्ति रूपी उद्देश्यके लिए, जीवनधारणकी आवश्यकता रहने तक, उसके शरीरको भी जीवित रखेगी।

सब जानते हैं कि उद्देश्योंमें अपने साधनोंको ठीक रखनेकी शक्ति होती है। जो अपने जीवनके उद्देश्यको और उसे पानेकी शक्तिको भूला होता है, वही लोगोंके कुदृष्टान्तोंसे प्रभावित होकर अपनी कर्मशक्तिको धन आदि भोग्य पदार्थोंके पीछे दौड़ाता है। वह मनमें सदा यही सोचता है कि मैं धनके बिना जीवित नहीं रह सकूँगा। यद्यपि संसारमें करोड़ों मनुष्य और मनुष्येतर अगनित प्राणी धनके बिना जीवित रह रहे हैं, परन्तु वह इन करोड़ों दृष्टान्तों की ओर आँख उठाकर देखना नहीं चाहता। वह तो केवल दस पाँच धनियोंकी ओर देखना चाहता है। वह यह नहीं सोचता कि जीवन धारणके मुख्य उद्देश्य ज्ञानको पाये बिना धनी बनकर जीवनधारण किये रहनेपर भी, तुझे ऐसे ज्ञानहीन निरुपयोगी जीवनसे क्या लाभ होगा? धनके मोहमें फँसा हुआ मनुष्य अपनी कर्मशक्तिकी महत्ता और उसे पानेके प्रयोजनको सर्वथा भूल जाता है और धनको एक स्वतन्त्र शक्ति समझकर, उसीके भरोसे रहकर अपनी कर्मशक्तिका धन बटोरनेसे अधिक सदुपयोग होनेकी कल्पना या विश्वास तक नहीं कर पाता। परिणाम यह होता है कि जो धन सचमुच कोई शक्ति नहीं उसीकी व्यर्थतामें अपने जीवनको व्यर्थ मान बैठता है। जब वह अपने जीवनमें धनके द्वारा सफलता नाम-वाली स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता, तब अपने जीवनको व्यर्थ समझने लगता है।

संसारमें धनोपार्जनको जीवनका लक्ष्य (अर्थात् मुख्य काम)

बनानेकी मनोवृत्तिवाले लोग ही अधिक हैं। ये लोग अपने संतोष-को व्यय करके, या उसे खोकर, पहले तो धनसंचय करते हैं, और फिर चाहते हैं कि इस धनको इच्छानुसार व्यय करके संतोष या आत्मतृप्ति पायें। धनोपार्जनको जीवनका मुख्य काम बनानेका अभिप्राय, अपनी सच्ची आवश्यकताओंको पूरा करनेवाली आत्म-शक्ति या अपने ईश्वरको भूल जाना है। अज्ञानी लोग अपने इस आत्मशक्तिरूपी सर्वसमर्थ ईश्वरपर अविश्वास करके, उसका स्थान धनको देदेते हैं, और धनको ही अपना रक्षक समझकर उसीसे अपनी रक्षा करना चाहते हैं। जिसका ईश्वरपर अवि-श्वास, धनपर विश्वासका रूप धारण कर गया है, उसका धन धन नहीं रहता। वह तो ईश्वरविरोधी, (ईश्वरको भुलानेवाली अर्थात् ईश्वरकी आवश्यकता न छोड़नेवाली) वस्तु बन जाता है। उसके उस ईश्वरविरोधी धनका स्वरूप यह है, कि यदि ईश्वर शान्तिस्वरूप है, तो उसका वह धन अशान्तिका आधार है। धन ईश्वरको स्मरण रखकर तथा उसे भुलाकर दो प्रकार अर्जन किया जाता है। ईश्वरको धक्का देकर लाये हुए धनमें अशान्ति उत्पन्न करनेवाला दोष वर्तमान रहता है। जब कि ईश्वरमें अमर बनानेकी शक्ति है, तो धनमें मृत्युको बुलानेवाले सब भाव हैं। प्रत्यक्ष देखते हैं, कि धन अशान्ति उत्पन्न करता है। इस पार्थिव धन के पास सन्तोष नामका सच्चा धन कभी नहीं रहता। अज्ञानी संसार जिस मनोवृत्तिसे धनका उपयोग करता है, उसमें सन्तोषके लिये कोई आग्रह या उत्सुकता नहीं है; प्रत्युत बन्धनमें पड़नेकी ओर आग्रह है। ऐसी मनोवृत्तिवाले सदा बन्धनजालमें फँसे रहते हैं। धनमें मनुष्यको बन्धनसे छुड़ानेकी शक्ति नहीं है। वह तो मनुष्यको सुख दुःखके बन्धनजालमें फँसानेवाला प्रलोभन है। इसलिये सत्यार्थी व्यक्ति जीवनके लक्ष्य तथा जीवनके कार्य-क्रममेंसे धनका बहिष्कार रखता है और धनको लक्ष्यमेंसे निकाल देनेपर मनमें जो स्थान रिक्त होता है उसमें सन्तोषको भर देता है।

धन मनुष्यकी कर्मशक्तिका ऐसा अयोग्य प्रतिनिधि, ऐसा झूठा रूपान्तर और ऐसा वंचक मध्यस्थ है, जो उसकी कर्मशक्तिको सदा ही ऊटपटांग झूठे कर्मोंमें लगाता है। वह उसे सच्चे कर्ममें नहीं लगने देता और मनुष्यको निकम्मा बनाकर छोड़ता है। जैसे बिच्छू के बच्चे उसीकी कमर पर चढ़ बैठते हैं और उसीको चोंट चोंटकर खा खाकर अन्तमें उसे मार डालते हैं, इसी प्रकार यह धन पहले तो अपनी माता कर्मशक्तिको अनुपयुक्त बनाता है और अन्तमें उसे मार ही डालता है। परिणाममें मनुष्य आलसी और पराधीन हो जाता है। धन मनुष्यमें सब प्रकारके दुर्गुण उत्पन्न करता और उसका सर्वनाश करके ही उसके पाससे टलता है। वह उसे अन्त तक धोकेमें रखता है कि मैं तेरा लाभ कर रहा हूँ। इस धोके की अवस्थासे बचकर रहना मनुष्यकी योग्यता या विद्वत्ताका सच्चा अभिप्राय है। इसका केवल यह उपाय है कि मनुष्य पहलेसे ही अपने दृष्टिकोणको धनके मोहसे हटाकर रखें और निम्न रीतिसे अपनी कर्मशक्तिपर दृढ विश्वास बैठा लें कि मैं धन जोड़कर क्या करूँगा? मुझे जब जो सच्ची आवश्यकता होगी, उसे मेरी कर्मशक्ति ही पूरा करेगी। मेरी सच्ची आवश्यकता पूरी करनेवाली मेरे सत्य की अनन्त शक्ति समस्त ब्रह्माण्डमें व्यापक है। वह जहाँ जिस वस्तुकी सच्ची आवश्यकता होती है, वहीं उसे उपस्थित कर देती है। मैं सत्यकी इस अनन्त शक्तिको छोड़कर धनकी परिमित शक्ति पर भरोसा क्यों करूँ? और अपने आपको धनके कठोर बन्धनमें क्यों बाधूँ? वास्तविक स्थिति यह है कि मनुष्यके जीवनका निर्वाह उसकी कर्मशक्तिसे ही होता है। उसे जो धनकी आवश्यकता पड़ती है वह मनोरथके प्रासादोंके लिये पड़ती है। मनुष्यका जीवन मनोरथके प्रासाद न मिलनेपर भी अधूरा नहीं रहता प्रत्युत अधिक शान्तिसे बीतता है।

धनशक्तिकी व्यर्थता दिखानेका यह अभिप्राय नहीं है, कि धनको मत छुओ, उसे हाथ मत लगाओ या धनोत्पादक

कामोंको रोक दो। किन्तु उसका यही अभिप्राय है, धनको अपने जीवनका लक्ष्य मत बनाओ। धनको अपने जीवनके लक्ष्य (अर्थात् ईश्वर) को धक्का देकर अपने पास मत आने दो। धनके साथ वहाँ तक सम्बन्ध रखो, जहाँ तक वह तुम्हारे लक्ष्यका विरोधी न हो। तुम मनोरथोंको तिलांजलि देकर, सत्यपर प्रतिष्ठित रहते हुए, मनका पतन न करते हुए, शरीरको क्लेश न पहुँचाते हुए, केवल शरीरकी जीवनयात्राके लिए अपनी कर्मशक्तिको सीमित धनोत्पत्तिमें लगा सकते हो।

जब हमारे भीतर रहनेवाली विराट कर्मशक्ति कर्तव्यपालनके रूपमें परिणत होकर धनोत्पादनका रूप धारण करेगी तब वह धन हमारी निजी सम्पत्ति न होगा। किन्तु वह सम्पूर्ण मनुष्यसमाजके मनुष्यतारूपी प्रभुकी सेवाका साधन होगा। ऐसा धन हमें दरिद्र न बनाकर सच्चा श्रीमान् बनानेवाला होगा। निज व्यक्तिगत सम्पत्ति बननेवाला धन मनुष्यको कंगाल बनाये विना नहीं मानता। परन्तु कर्तव्यपालनके रूपमें आर्जित धनसे सम्बन्ध रखते हुए भी अपनेको दरिद्र समझनेका प्रसंग नहीं आता। क्योंकि ऐसा धनधनतृष्णा से उत्पन्न किया हुआ नहीं होता। उस धनको उत्पन्न करनेवाली तो कर्तव्यपालनरूपी कल्याणमयी बुद्धि होती है।

मनुष्यको धनके मोहसे बचनेके लिये धनसे सम्बन्ध रखनेकी एक सीमा नियत करलेनी होगी। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो धनकी प्यास उत्पन्न हो जायगी और उसे कभी शान्तिसे नहीं बैठने देगी। यदि मनुष्य सच्ची शान्ति चाहेगा तो उसको धनके अधूरेपनको भयंकर राजरोगके रूपमें समझना होगा। धनमें यही अधूरापन है कि धनकी प्यास कभी किसीकी नहीं बझती। संसारमें आजतक कभी किसीकी धन पिपासा नहीं बुझी। क्या कोई बुद्धिमान मनुष्य धनके इस कभी किसीको तृप्ति न दे सकनेवाले अधूरेपनमें अपने जीवनको अधूरा बनाना स्वीकार करेगा ? इसलिये मनुष्यको धनके सम्बन्धमें औचित्यकी एक

कसौटी बना लेनी पड़ेगी; उसीके अनुसार इस सम्बन्धमें अपने कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करना होगा और अपनेको धनके बन्धनमें न फँसाकर बन्धनमुक्त रखनेमें ही धनका उपयोग करना होगा। कहनेका तात्पर्य यह है कि धनके साथ सम्बन्ध रखने या छोड़नेकी दोनों अवस्थाओंमें अपनी कर्मशक्तिको आत्मकल्याण करनेवाले कार्योंमें ही व्यय करना पड़ेगा।

यह तो सच है कि धनसे भोगके साधन रूपरस आदि सुलभ हो जाते हैं। परन्तु मनुष्यको सोचना तो यह है कि इस प्रकारकी भोगेच्छाओंसे उसके मनका क्या बनेगा? उसे अपने मनको भोगेच्छाओंसे पतित होनेसे बचाना हो पड़ेगा। भोगके साधनोंकी इच्छायें स्वार्थ कहाती हैं। यदि मनुष्य इन स्वार्थोंको पूरा करने लग जायगा तो वह दुःखदायी मिथ्या बन्धनोंमें फँसता चला जायगा। स्वार्थके पंजेमें फँसे हुए मनुष्योंकी यह अचूक पहचान है कि वे केवल धन संचय करनेमें लगे रहते हैं। उनकी किसी गड़ी हुई निधिपर पहरा देनेवाले साँप की सी धनमोहित स्थिति हो जाती है। वे अर्थीपर बँधनेके दिन तक धनार्जनमें लगे रहते हैं। वे धनार्जन करके घरमें अपनी सन्तानके पास सर्वनाशके साधन छोड़ जाते हैं। स्वार्थी मनुष्योंका आत्मशक्तिपरसे भरोसा उठ जाता है और धनशक्तिपर भरोसा जम जाता है। वे अपने धनान्ध विचारोंको ही उत्तराधिकारके रूपमें अपने सन्तानोंको देते हैं। इससे उनका स्वार्थका बन्धन (अर्थात् दुःखोंका बन्धन) सदाके लिये दृढसे दृढतर और दृढतरसे दृढतम होता चला जाता है। जिसके पास जितना अधिक धन संचित हो जाता है, उसके पाससे दुःखोंके बन्धनोंके न हटनेकी सम्भावना भी उतनी ही मात्रासे बढ़ती चली जाती है। उसमें दुर्गुणोंके समस्त समूह आ आकर इकट्ठे होने लगते हैं। उसके सिरपर दुर्गुणोंके आस पास घूमनेवाली विपत्तियाँ, प्राणहीन शरीरों पर गृध्रोंके समान सदा चक्कर काटती रहती हैं। मनुष्य अथाह सम्पत्तिका स्वामी हो जानेपर भी अपनेको शान्तिके मार्गमें निर्विघ्न

समझने और विपत्तिहीन पानेके बदले, अशान्तिके कठिन बन्धनोंमें जकड़ा हुआ पाता है। मानवीय लम्बे इतिहासका धन सम्पत्तिके विषयमें यही सनातन अनुभव है।

यदि मनुष्य धनपर भरोसा करे तो उसे धनसे श्रेष्ठ जिस शक्तिपर भरोसा करना चाहिये, उसकी अवहेलना करनी ही पड़ती है। इसके विपरीत यदि मनुष्य वास्तविक शक्तिपर भरोसा करे, तो उसे धनपर भरोसा करनेकी आवश्यकता नहीं होती। वह सच्ची शक्ति मनुष्यको धनके समान कहीं बाहरसे नहीं लानी। वह तो उसके भीतर अनन्त मात्रामें भरी पड़ी है। अपने आत्माकी महत्व-पूर्ण स्थितिको पहचान जाना यह है कि उसमें संसार भरके समस्त गुण और समस्त शक्तियाँ भरी हुई हैं। मनुष्य दृढ संकल्प करते ही उन सब शक्तियों तथा गुणोंसे यथेष्ट काम ले सकता है। मनुष्य को पूर्ण भ्रान्तिरहित और आनन्दमयी स्थितिमें रखनेवाली अनन्त शक्तिका समुद्र मनुष्यके ही भीतर लहरें मार रहा है और उसके ध्यानकी प्रतीक्षा कर रहा है कि यह मेरी ओर कब देखे और कब मैं इसके उपयोगोंमें आऊँ? आवश्यकता केवल एक बार अन्तर्मुख होकर उस अनन्त शक्तिको देख लेने या समझ लेने मात्रकी है। उसका दर्शन पाते ही मनुष्यकी विषयलोलुपतारूपी निर्धनता मिटाने में एक क्षणकी भी देर नहीं लगती। यह शक्ति ईश्वरकी शक्ति कहाती है। यह मानवीय शक्ति होनेपर भी ईश्वरीय कहाती है। अपनेको पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दस्वरूप रखनेवाली इसी अनन्त शक्तिका स्वामी वह ईश्वर चराचर जगत्में व्याप्त है जो मनुष्यका ही स्वरूप है। ऐसा ही ईश्वर समस्त प्राणियोंका आत्मा है। मनुष्य को पूर्ण अभ्रान्त तथा आनन्दस्वरूप बना देनेवाली इस शक्तिके स्वामीसे दूसरा संसारमें कोई ईश्वर नहीं है।

वह सचमुच अभागा है जो इस आत्मशक्तिरूपी स्वाधीन ईश्वरको नहीं समझ पाता। वह मूढ गलेमें रत्नहार पहनकर भी द्वारे द्वारे भीक माँगता फिरता है। वह अपनेको सब समय शुभकार्यके लिये (शान्ति-

के मार्गपर चलनेके लिये) असमर्थ पाता है (शक्तिहीन समझता है) अपनेको शुभ कार्य करनेमें असमर्थ पाना ईश्वरीय सत्ताका व्याव-हारिकरूपमें निषेध करना है। अपनेको शुभ कार्य करनेमें असमर्थ पाना, घृणा करने योग्य नास्तिकता है। केवल जिह्वासे ईश्वरीय सत्ताका निषेध न करनेपर भी, अपनेमें ऐसी निर्बलता रखना कि मैं यह शुभ कार्य नहीं कर सकता, मैं सत्यारूढ महापुरुष नहीं बन सकता, ईश्वरीय सत्ताको अस्वीकार कर देना है। मनुष्यका यह विश्वास होना चाहिये कि मनुष्यको सच्ची आवश्यकता अवश्य पूरी होती है। वह धन न होनेसे नहीं रुक सकती। जो रुकती है वह सच्ची नहीं है। इस प्रकारका जीवित विश्वास न होना ईश्वरीय सत्ताको अस्वीकार कर देना है। यही नास्तिकताका सच्चा स्वरूप है। इस नास्तिकतामें बहुतसे आस्तिक समझे हुए लोग भी लिपटे हुए हैं। इस प्रकारकी नास्तिकता ही सच्ची निर्धनता है। मनुष्यको अपनी आत्मशक्तिका पता न हो, उसको उसका भरोसा न हो, यही उसकी सच्ची निर्धनता है। मनुष्यको अनात्मशक्ति पर भरोसा हो यही उसकी सच्ची निर्धनता है। संसार गतानुगतिक है। वह परमार्थ विचार नहीं करता। लोग संसारकी देखादेखी कुछ पदार्थोंके प्रभु बननेकी चिन्तामें लगे रहते हैं। कुछ वस्तुओंका प्रभु बननेकी धुन मनुष्यके मनकी भयंकर व्याधि है। इसने मनुष्यको सद्‌गुणार्जनसे सदा ही निरुत्साहित किया है। इस प्रवृत्तिने मनुष्यके मनुष्यता नामक सौन्दर्य पर सदा ही घातक प्रहार किया है। संसारकी कुछ वस्तुओंका प्रभु बननेकी इच्छा हो जाना ही निर्ध-नताका स्वरूप है।

जिसने अपनेको भोगरूपी बन्धनोंमें बँधे रहनेका अधिकारी समझ लिया, उसने अपना सर्वस्व खो दिया। अब उस विचारेके लिये यही ठीक है, कि वह अपनेको कल्याणका अनधिकारी, दुर्बल तुच्छ पतित प्राणी माना करे। उसके लिये अब यही ठीक है कि वह सब समय रूपरसादि भोगोंकी इच्छाओंसे उत्पन्न होनेवाले हृदयदाही

दुःखोंके बन्धनजालमें जकड़ा पड़ा रहे और बन्धनसे मुक्त न होनेको ही निर्विघ्नपना समझकर, इस कल्पनाकी निर्विघ्नताको बना रखनेवाली धन नामकी शक्तिपर भरोसा किया करे। आत्मशक्तिपर भरोसा न करके धनशक्तिका भरोसा करनेवाले ऐसे ही लोग अपनेको पतित, दुखिया और अशक्त समझते तथा अपने विधाताके मनुष्यभावापन्न होनेका अपमान कर बैठते हैं। ऐसे लोग अपने मनमें इस विचारको कभी आने तक नहीं देते कि हमारे जीवनका लक्ष्य धनसे अत्यन्त श्रेष्ठ (ऊँचा) है और हममें उसे पानेकी शक्ति भी है। आत्मशक्तिपर भरोसा न करके धनशक्तिपर भरोसा करनेवाले मनुष्योंके पास कर्तव्यबुद्धिके स्थानपर भोगबुद्धि होती है। ऐसोंकी प्रवृत्ति शुभ कार्योंकी ओर कभी नहीं होती। शुभ कार्य न करना, अशुभ कार्य करनेके बराबर है। मनुष्य विचारकी न्यूनतासे ही अशुभ कार्योंमें लगता या शुभ कार्योंसे बचता है।

ऐसे लोग अपने लिये अपने आप नहीं सोचते। ये अपने लिये स्वयं विचार किये बिना भोगमार्गी संसारकी देखादेखी, भोगवासनाको पूरा करनेके लिये धनोपार्जनको ही अपना अंधा ध्येय बना लेते हैं। उनकी उपार्जनवृत्तिमें सत्यासत्य उपायका विचार नहीं रहता। इनके उपार्जनकी यही नीति होती है जिस किसी प्रकार धन आना चाहिये। ये उपार्जनके उचित-अनुचित ढंगोंपर विचार नहीं करते। ये सत्यको अपनानेका प्रसंग आते ही उसे अपनानेमें असमर्थ रह जाते हैं। ये सत्यको ग्रहण करनेमें अपनी भौतिक हानि देखकर, उसकी सीमामें पैर रखनेका साहस नहीं करते। ये सत्यको उसके प्रतिष्ठापक उद्धारक और आत्मकल्याणकारक रूपमें नहीं देखते। उन्हें तो सत्य हानि करनेवाले रूपमें दीखाकरता है। उन्हें सत्य उनकी लालचकी रुकावटके रूपमें दीखाकरता है। इसलिये अज्ञानमय विचारोंसे लदी हुई विषम परिस्थितिमें फँसे हुए वे सत्यको दूरसे साष्टांग प्रणामकर लेते हैं। वे सत्यहीन हो जाना तो सह लेते हैं, परन्तु उनसे कौड़ीकी भी भौतिक हानि नहीं सही जाती। इस प्रकार सत्यहीन जीवन

बिताना, उनकी स्वभाविक प्रवृत्ति बन जाती है। सत्यहीन जीवन बिताना मनुष्यका ऐसा स्वाधीन रोग है जिसे वह जिस क्षण चाहे त्याग सकता है। सत्यहीन जीवन यापनके इस स्वाधीन रोगसे दुःखी होते रहना मनुष्यकी दयनीय मनोवृत्ति है।

सत्य ही मनुष्य जीवनमें पाने योग्य एकमात्र सम्पत्ति है। उस सत्यरूपी सम्पत्तिसे वंचित रहना सच्ची निर्धनता है। इस सत्यरूपी सम्पत्तिसे विहीन लोग ही धन, मान तथा भोग्य पदार्थोंको इकट्ठा करनेके पीछे पागल बनते और कार्याकार्यविवेक खोकर धनमान तथा भोग्य पदार्थोंके अर्जनमें लगे रहते हैं। वे इन्हें पाकर कभी तो क्षणिक सुख और कभी क्षणिक दुःख पाते रहते हैं। मनुष्यका कभी तो सुखी और कभी दुःखी होना, इस बातका प्रमाण है, कि इसे अभी तक सच्चे सुखका पता नहीं चला। मनुष्यको सच्चे सुखका पता न होना उसकी कैसी भयंकर दयनीय दशा है! यही दरिद्रता या गरीबी है। मनुष्यको सच्चे सुखका पता न होनारूपी दरिद्रता ही उसके समस्त दुःखोंका मूल है। जो मनुष्य इस सच्चे सुखका पता न होनेरूपी दरिद्रताका दास होकर, रूपरस आदिको भोगनेकी इच्छासे धनोपार्जन करता है, उस धनको जीवनका भरोसा बनाता है, उसकी न तो कभी धनतृष्णा मिटती है और न कभी उसकी सुखकी इच्छा तृप्त होती है। तृष्ण ही दरिद्रता है। तृष्णा कभी भोगीका साथ नहीं छोड़ती। तृष्णा और तृप्ति कभी एक साथ नहीं रहतीं। अतृप्ति ही दरिद्रता है। चाहे जितना धन आजानेपर भी और चाहे जितने भोग्य पदार्थ मिल जानेपर भी, मनुष्यकी तृष्णका ह्रास नहीं होता। तृष्णा सदा ही असाध्य रोग है। वह इसलिये असाध्य व्याधि है कि धन तथा भोग्य पदार्थ अग्निको घीके समान, तृष्णाको उत्तरोत्तर बढ़ाते रहते हैं। तृष्णा मनुष्यके आत्मसन्तोषको चूस लेती है। इस सम्बन्धमें सौभाग्यकी बात यही है कि तृष्णापर विजय पानेकी शक्ति भी मनुष्यमात्रमें है। यह बात दूसरी है कि मनुष्य उस शक्तिको काममें लाता है या नहीं। वह शक्ति ऐश्वरी शक्ति

है। अपनेको पूर्ण ज्ञानी तथा आनन्दस्वरूप पाने तथा मानने लगना ही ऐश्वरी शक्तिका स्वरूप है। जैसे ईश्वर सबका है ऐसे ही ऐश्वरी शक्ति भी सबके साझेकी है। उससे काम लेना मनुष्यके संकल्पपर निर्भर है। यदि मनुष्यको सुखी होना होगा तो उसे कभी न कभी अपनेको ज्ञानी मानकर क्षुद्रताओंसे ऊपर उठना ही पड़ेगा। जब तक मनुष्य अपनेको ज्ञानी माननेका साहस नहीं करेगा, जबतक वह अपनी भोगलोलुपताका दास बना रह कर अपनेको ज्ञानी माननेसे हिचकिचाता रहेगा, तबतक कोई भी दुर्गुण उसे नहीं छोड़ेगा। यदि मनुष्यको दरिद्रता रोगसे मुक्त रहना अभीष्ट हो, तो उसे इस स्वान्तर्निहित ऐश्वर्य शक्तिका दर्शन करना ही पड़ेगा और उसे काममें लाना ही पड़ेगा। तब उसे विषयकुरस चखना बन्द करके आत्मतृप्त रहना सीखना ही पड़ेगा, उसे आत्मसुखको साधनोंके अधीन मानना छोड़ देना पड़ेगा, और इस प्रकार अपनी दरिद्रताकी जड काट देनी पड़ेगी। वही दिन मनुष्यके धनी होनेका पहला दिन होगा।

मनुष्यको यह जानना चाहिये कि यदि उसका जीवन एक सच्ची घटना है, तो उसके निर्वाहके साधन, पंखीपर आ बैठनेवाले कबूतरोंके समान, जहाँ उसका शरीर रहेगा, वहीं इसकी सहायताके लिये, अवश्यमेव आआकर इकट्ठे होते रहेंगे और उसकी जीवनयात्रा कराते रहेंगे। यदि मनुष्यके जीवनकी घटना सच्ची घटना है तो साधनोंका इकट्ठा होना भी सच्ची घटना होकर रहेगा। इस नियमको जाननेवाला मनुष्य इन दोनों घटनाओंका साक्षी होकर स्वस्थताका आनन्द चखेगा। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि मनुष्य अपने हृत्समुद्रमें घुसे, उन्मुक्त हस्तपाद होकर उसमें कूदे, उसमें डुबकी लगाकर उसके पेंदेमें सोये पड़े मणिमुक्ताओं तक पहुँचे, उन्हें मुट्ठीमें भरकर बाहर लाये और देखे कि मेरे भीतर इस बाहरवाले संसारजितना ही लम्बा चौड़ा सुविस्तीर्ण संसार भरा हुआ है। ये दोनों द्यावा पृथिवी मेरे भीतर

समाये हुए हैं। यावान् वायमाकाश स्तावनेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। वह देखे कि मेरा आत्मा सर्वशक्तिमान् सकलगुणनिधान है। वह संकल्प मात्रसे सृष्टि रचना करनेमें समर्थ है। मैं कोई क्षुद्र अस्तित्व नहीं हूँ। मनुष्यको अपने भीतर काम करती ऐश्वरी शक्तिका इस रूपमें दर्शन करके अपनी दरिद्रता मिटा डालनी है। उसे देखना है कि यह समस्त संसार मेरे आत्माकी आत्मदर्शनेच्छाका ही विस्तार है। मुझे यहाँसे कुछ नहीं लेना है। जैसे किसी पिताका कन्याको भोग्यरूप में देखना असम्भव है इसी प्रकार विचारशील मानवको स्वजन्य संसारमेंसे कुछ भोगने या कुछ पानेकी इच्छा होना असम्भव हो जाता है। यही मनुष्यकी दरिद्रताविरोधिनी श्रीमत्ताका चिन्ह है।

वह मनुष्य भाग्यहीन है जो अपनेको अघटघटनापटीयसी संकल्पमात्रसे सृष्टिस्थितिप्रलयकारिणी ऐश्वरी शक्तिसे शक्तिमान नहीं समझता। जो अपनेको ईश शक्तिसे शक्तिमान नहीं समझता, जो अपने ही बल संसारयात्रा करना विचारता है वही नास्तिक है। जो अपनेको इस ईश्वरीय शाक्तिसे शक्तिमान नहीं पाता वही रिपुओंका दास है। उसे षड्रिपुओंकी दासता करनी ही पड़ती है। जो अपनेको ईश्वरीय शक्तिसे शक्तिमान नहीं बनापाता वही परतन्त्र है, वही निर्धन है और वही दरिद्र है। जिसे धनकी भूख है, जो धन न होनेका दुखिया है, जिसे अपने पास धन न होना अखरता है, जो धनके लिये तरस रहा है, जो आवश्यकताओंका दास है, जो विश्वको नश्वर पदार्थमालामेंसे कुछ पदार्थ खोसकर उनका प्रभु बननेके संकल्प कर रहा है, जो अपनेको अपनी इच्छा पूरी करनेमें सदा असमर्थ पा रहा है, वही दरिद्र है। दरिद्रता पेड़ोंके नीचे, फूँसके झोपड़ोंमें, रीते घरोंमें, या फटे कपड़ोंमें नहीं रहती। दरिद्रता या गरीबी तो धनलोभियोंके मनोंमें रहती है। जो अपनी वर्तमान परिस्थितिसे अतृप्त है, वही दरिद्र है। अतृप्ति ही दरिद्रता है। किसीने ठीक ही कहा है—यही गरीबी जनमें सत्य न होवे मनमें।

सन्तोष

अपना कर्तव्य पालन करलेनेपर मिलनेवाली तृप्ति 'सन्तोष' कहाती है। कर्तव्य वही काम है, जो मनुष्यके सामने उसकी न्यूनता पूरा करने अथवा न्यूनता उत्पन्न न होने देनेके लिये प्रत्येक समय ईश्वरीय प्रबन्धसे उपस्थित हुआ रहता है। कर्तव्य वही है जो कभी-कभी नहीं आता किन्तु जिसका तांता मानव-जीवनमें बँधा ही रहता है। कर्तव्य वही है जो भोग आदिके समान किसी अनुकूल परिस्थितिकी प्रतीक्षा नहीं करता। जो विपरीततम, भयंकरतम या अननकूलतम परिस्थितियोंमें भी आ खड़ा होता है, जो अपनेको तत्काल करवाना चाहा करता है, जिसे फिरके लिये नहीं टाला जा सकता, जिसे टाल देनेपर फिर कभी भी उसका अवसर नहीं आ सकता, जिसे टाल देना ईश्वरको रुष्ट कर देना हो जाता है, अर्थात् जिसे टाल देना निर्विकार अप्रभावित मानसिक स्थितिसे पृथक् होकर विकारग्रस्त होना हो जाता है, जिसे टाल देनेवालेका मन पापके देवताका वास बन जाता है, जिसे पाल लें तो मनमें उल्लास होता है, जिसका एक निश्चित और अक्षय परिणाम अटल निर्मल तथा आनन्दपूर्ण अवस्थाको प्राप्त कर लेना निकला करता है। कर्तव्य वही है, जिसे करते समय अन्तरात्मामें उल्लास होता है, जो औरोंकी सहायताके बिना स्वतन्त्र रूपमें अपनी शक्तिसे ही हो जाता है। जिस काममें दूसरोंकी सहायता लेनी पड़ती है, जो दूसरोंकी सहायताके बिना नहीं हो सकता, वह अकेले हमारा कर्तव्य नहीं है। सामूहिक शक्तिसे किये जानेवाले कर्तव्योंमें अपने भागका उद्योग कर देना कर्तव्य होता है। समूहके सब कामको अकेला पूरा करनेका उद्योग करना मनुष्यका व्यक्तिगत कर्तव्य नहीं होता। समझना चाहिये कि कर्तव्य अनन्त नहीं होता। कर्तव्य मनुष्यकी शक्तिमें

सीमित रहनेवाला पदार्थ होता है। मनुष्यपर जितनी शक्ति होती है उतना ही उसका कर्तव्य होता है। कर्तव्य मनुष्यशक्तिसे तिलभर भी अधिक कभी नहीं होता। मनुष्यकी शक्तिसे अधिक, मनुष्यको दाबकर मार डालनेवाली वस्तु कर्तव्य नहीं है। कर्तव्यकी परिमित सीमाका उल्लंघन करनेसे कदापि सन्तोष नहीं मिलता। जो ईश्वर कराते हैं वही कर्तव्य है। जो हम करते हैं वह कर्तव्य नहीं है, किन्तु अकर्तव्य है। जिस काममें हमारी काम क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सरकी भावनायें लगी हुई हैं, उसको हमारा काम कहा जाता है। वही अकर्तव्य है। वही अनीश्वर या निरीश्वर काम है। वह करने योग्य काम नहीं है। क्योंकि उसको करनेसे सन्तोषका नाश होजाना है।

मनमें आस्तिक भावोंका जाग्रत रहना सन्तोष है। मेरे लिए आवश्यक पदार्थ मेरे पास ईश्वरीय प्रबन्धसे आ ही रहे हैं और आते ही रहेंगे ऐसा विश्वास ही सन्तोष है। भावनाएँ ही मनुष्य-जीवनपर शासन किया करती हैं। जैसी भावना होती है, वैसा ही जीवन बन जाता है। इसलिए मनुष्यको अपने जीवनमें बड़े प्रयत्नसे उपार्जन करने योग्य और मनमें बसाने योग्य शुद्ध भावनाएँ ये हैं कि "मैं पूर्ण हूँ, मैं अभ्रान्त हूँ, मैं पवित्र हूँ, मैं सच्चा हूँ, मैं ज्ञानी हूँ और मैं आनन्दस्वरूप हूँ।" यहाँ पशुसुलभ भोगानन्द लेना चाहने वालोंकी दृष्टिसे विचार नहीं किया जा रहा है। यहाँ तो मनुष्योचित आनन्द भोगनेके अधिकारियोंकी दृष्टिसे विचार किया जा रहा है। यदि किसी मनुष्यको मनुष्यसुलभ आनन्द भोगना हो तो उसे अन्तमें यह समझना ही पड़ेगा कि "मैं किसी भी आवश्यकताका दास नहीं हूँ, मेरा जीवन किसी भी बाह्य परिस्थितिके सहारेपर रहनेवाली सत्ता नहीं है। मेरा जीवन स्वयं ही एक पूर्ण सचाई है। मुझे अपने आपेमें ही मगन रहना है।"

सन्तोषको प्राप्त करनेसे मनकी माँग रुक जाती है और मनके विक्षिप्त होने या भटकनेका अवसर जाता रहता है। सन्तोष प्राप्त होनेपर भूतके लिए शोक नहीं रहता, भावीकी चिन्ता नहीं रहती

और वर्तमानके लिए उद्वेग नहीं रहता। कर्तव्यपालन करनेका तीनों कालोंपर प्रभाव डालनेवाला सन्तोष नामका विराट् तथा अक्षय भण्डार कर्तव्यपालकके हाथमें आ जाता है। कर्तव्यपालन करनेवाला मनुष्य स्वयं ही अपने भाग्यका विधाता बन जाता है। वह अपने कर्मका फल माँगनेके लिये किसी भी बड़े विधाताके द्वारपर नहीं जाता। वह उस स्वतन्त्र सत्यरूपमें पहुँच जाता है जिसकी बाधा किसी भी कालमें नहीं होती। मनुष्यमें इस अवस्थाको प्राप्त करानेवाली शक्ति कहीं बाहरसे नहीं आती। मनुष्यको चाहे जो कुछ बना सकनेवाली, उसको नारायण तक बना डालनेवाली शक्ति, उसीके मनमें स्वभावसे रहनेवाली शुद्ध भावना ही है। शुद्ध भावना ही मानवोद्धारकारी परमात्मा है। इस भावनाकी प्रेरणा ही परमात्माकी आज्ञा है। जो कर्म शुद्ध भावनाकी प्रेरणा पाने पर किया जाता है वह परमात्माकी आज्ञापालन करना होता है। शुद्धभावनाकी प्रेरणा-वाला कर्म ही कर्तव्य होता है। जिस कर्मके लिये शुद्ध भावनारूपी परमात्मा आज्ञा नहीं देते या मना करते हैं, वह अकर्तव्य होता है। अकर्तव्य वही है, जो अशुद्धभावनासे प्रेरित होकर किया जाता है। अपने मनमें अपनी अपूर्णता, अपवित्रता और दुःखीपनका भ्रम हो जाना, अशुद्ध भावना है। ऐसी भावनायें मनुष्यके मनमें आकर मनुष्यको काम, क्रोध, लोभ, मोह-मद और मात्सर्यके अधीन करके स्वार्थ-साधनमें लगा देती हैं। तब मनुष्यमें अनीश्वर भावका आधिपत्य जम जाता है। मूर्ख संसारकी देखा-देखी सुखकी इच्छाको पूरा करनेके लिये रूप-रस स्पर्श आदि भोग्य पदार्थोंके पीछे दौड़ लगाना स्वार्थ-साधन है। स्वार्थसेवा देखने ही देखनेमें अच्छी लगती है। यह मनुष्यका सर्वनाश करके छोड़ती है। यह मनुष्यको बिगाड़ डालती है। यह उसके मनको मनुष्यताके लिये ऊसर भूमि बना डालती है। मनुष्य इस स्वार्थ-साधनके अवश्यंभावी परिणाम स्वरूप संसारके मिथ्या पदार्थोंके मिलने या न मिलनेसे उत्पन्न होने-वाले सुख-दुःखके बन्धनमें फँसता चला जाता है। अशुद्ध भावना ही

मनुष्यके बन्धनका कारण होती है। जो स्वार्थको सिद्ध कर लेनेके मोहमें फँसकर, मनमें अशुद्ध भावनायें बसा लेता है, वह अपने हृदयमें शुद्ध भावनारूपी परमात्माको नहीं ठहरने देता। वह इस परमात्माको अस्वीकार कर देता है और अशुद्ध भावना नामके पापके देवताकी अधीनता स्वीकार करलेता है। वह अशुद्ध भावनारूपी पापके देवताके सामने आते ही उसके आगे अपने शुभविचार रूपी हथियार डालकर उससे हार मानकर बैठ जाता है। अशुद्धभावना ही ईश द्रोही पापका देवता है।

स्वार्थके अन्धे जिस आसनपर भगवानको बैठाना चाहिये उसपर पापके देवताको बैठा देते हैं और अपना समस्त जीवन पूर्णरूपसे उसी-की आराधना करनेमें लगा देते हैं। ऐसे लोग नास्तिक हैं। नास्तिक अपनेको परमात्माकी आज्ञारूपमें आये कर्तव्यको पालनेपर मिलने-वाले उल्लास तथा उस उल्लासके निश्चित परिणाम सन्तोषरूपी फलसे वञ्चित कर लेता है। नास्तिकके लिये यही स्वाभाविक होता है कि वह पापके देवताका आज्ञाकारी दास बनकर धनके लोभमें सब प्रकारके अपमान सहा करे और अपनी बुद्धिको भोजनभोगपरायण पशुपक्षियोंके समान विषयभोगोंमें तथा विषयभोगोंका उपार्जन करते रहनेमें लगाये रखे। क्योंकि विषयरसको चखनेकी इच्छा कभी तृप्त नहीं होती, इस कारण स्वार्थान्धको अपनेसे अधिक विषय वालेको देखते ही ईर्ष्या होती है और वह जलता है। क्योंकि स्वा-र्थान्धमें रूप-रस गंध या स्पर्श आदि प्यारी समझी हुई वस्तुओंका वियोग न होने देनेकी शक्ति नहीं होती, इस कारण इनका वियोग होनेपर उसे शोक होता है और वह रोता है। क्योंकि स्वार्थान्ध अपनी कर्म-शक्तिको किसी भी अच्छे काममें नहीं लगा सकता, इस कारण स्वार्थान्धमें भ्रान्ति या कर्तव्यहीनता आजाती है और वह जीवनके दिन व्यर्थ बिताया करता है। ईर्ष्या शोक और कर्तव्यहीनता तीनों स्वार्थान्धके जीवनके प्रत्येक काममें असन्तोष उत्पन्न करते रहते हैं। क्योंकि नास्तिकका कोई निश्चित लक्ष्य नहीं होता,

इस कारण उसकी आवश्यकताओंका भी कोई अन्त नहीं होता। उसकी वृथा बढ़ाई हुई आवश्यकताओंके पूरा होनेका कोई साधन नहीं होता, इस कारण उसके असन्तोषका भी कोई अन्त नहीं होता। कभी भी सन्तुष्ट न होनेवाली तृष्णारूपी अग्नि उसके हृदयके जीवन-रसको जलाती रहती है। उसके अधिकारमें उसके तृष्णादग्ध हृदयमें शान्तिरूपी जल छिड़क सकने योग्य कोई भी निश्चित और अक्षय अमर फल नहीं होता। वह स्वयं ही नहीं जानता कि वह क्या चाहता है ? वह अन्धेके समान जिस वस्तुमें हाथ लगाता है वही उसके मनको बहका लेती और उसके मनमें तृष्णा-रूपी दुःखकी आग भड़का देती है। उसे जो दीखता है वह उसीको चाहने लगता है। इन लोगोंके विपरीत आस्तिक लोगोंने शुद्ध भावनारूपी ईश्वरीय शक्तिको अपना रक्खा है। आस्तिक लोग शुद्ध भावनारूपी ईश्वरीय शक्तिसे शक्तिमान हैं। आस्तिकोंको शुद्ध भावनारूपी ईश्वरका पूर्ण विश्वास है। आस्तिकोंका लक्ष्य निश्चित है। अस्तिक निश्चित रूपसे जानता है कि उसे क्या चाहिये ? वह अपने लक्ष्यको अपनी ही आत्मशक्तिसे प्राप्त कर लेता है। उसके मनमें किसी भी वस्तुका अभाव नहीं है। क्योंकि उसने किसी भी भौतिक पदार्थसे ममताका संबन्ध नहीं जोड़ रखा है। इस संसारमें ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जि स पर वह अपनी ममताकी अंगुलि रख सके और उसे अपना कह सके। वह शरीर तकको अपना कहनेको उद्यत नहीं है। वह इस समस्त संसारको एक महती इकाई के रूपमें देखने लगा है। इसलिये उसे अपनी विराट सत्य नामकी सम्पत्तिको भोगनेका वह स्वाभाविक अधिकार मिल चुका है जो अभी तक भ्रान्तिवश देहाध्याससे सीमित होकर विस्मृत हो रहा था। उसकी सम्पत्ति प्रत्येक स्थानपर और प्रत्येक समय उसके अधिकारमें रहने लगी है। उसके जीवनमें किसी भी सुखकी आशा या प्रतीक्षा नहीं रही। उसका जीवन स्वयं ही सुखरूप हो चुका। उसने सुखरूप होकर रहनेकी अपनी पूर्ण स्थितिमें किसी भी भौतिक

आशाको ठहरनेके लिये तिलमात्र भी स्थान रिक्त नहीं रहने दिया। उसके सुखी जीवनमें दुराशा और नैराश्य नहीं रहे। अब उसे कोई भी विरोधिनी शक्ति नहीं दीखती कि जिसका विरोध करनेके लिये उसे उद्धत या उद्दण्ड होना पड़े। उसके मनमें चञ्चलता उत्पन्न करने वाली किसी भी विपत्तिका होना सम्भव नहीं रहा। वह प्रत्येक समय दृढ विश्वास रखता हुआ अपनी ही आत्मशक्तिसे अपना कर्तव्य पालन करनेमें तत्पर रह रहा है। रूप रस स्पर्श आदि भोग्य पदार्थ उसके सामने मूल्यहीन हो चुके हैं। उसे अब मनोरमसे भी मनोरम समझा जानेवाला पदार्थ, उसके जीवनके लक्ष्य, ध्रुव-तारे जैसे सन्तोषसे अधिक मनोरम या उज्वल नहीं दीख रहा। वह प्रत्येक समय अपने परमात्माके आदेश सुन रहा है और उसके आदेशोंको पाल पालकर अपनी एकमात्र काम्य वस्तु शान्तिको प्राप्त कर रहा है। उसके मनमें दूसरी कोई मांग कभी उत्पन्न नहीं हो रही है। ऐसे सन्तोषको प्राप्त कर लेना जीवनकी असाधारण घटना है। यही मनुष्यजीवनका परम पुरुषार्थ है।

कैसे जियें ?

अपने जीवनको वैसे बिताओ जैसे बितानेसे जीवनका लक्ष्य पाना तथा उसपर अटल रहना सुनिश्चित हो जाय। सत्यको प्राप्त-करो तथा उसपर अटल रहो यही तुम्हारे जीवनका लक्ष्य है। जीवनधारण करनेका साधन यह देह, इस देहके उपयोगमें आनेवाले पदार्थ, तथा इन दोनोंकी अवस्थाओंको नापनेवाला काल, ये तीनों पदार्थ सत्यकी शक्तिसे प्रतीत तथा परिचालित होते रहते हैं। इन तीनोंमें प्रत्येक क्षण परिवर्तन हो रहे हैं। ये परिवर्तन इन तीनोंको विनाशकी ओर दौड़ाये ले जा रहे हैं। ये परिवर्तन इसलिए हो रहे हैं कि मनुष्य संसारके पदार्थोंकी विनाशशीलताके द्वारा अपनी ओर

विराट सत्यकी एकताका अनुभव कर सके। संसारके सम्पूर्ण पदार्थोंमें होनेवाले समस्त परिवर्तन, इसी एक सत्यको दिखानेमें अपनी समग्र शक्ति लगा रहे हैं और इसी कामके लिए सत्यकी ओर दौड़े चले जा रहे हैं। ये मनुष्यको उसका लक्ष्य समझा देनेमें अपनी ओरसे कोई त्रुटि रखना नहीं चाहते। जो सत्य इस समस्त विश्व रचनाका आदिकरण है, ये परिवर्तन उसीको दिखा देना चाहते हैं। जो शक्ति संसारकी छोटीसे छोटी तथा बड़ीसे बड़ी रचनाके मूलमें काम कर रही है, वही सत्य है। सत्य ही समस्त पदार्थोंका एकमात्र आधार है। इस परिवर्तित तथा नष्ट होते रहनेवाले जीवनकी अंतिम और अपरिवर्तनीय स्थिति ही सत्य है। सत्यके आश्रयसे प्रतीत होनेवाले इस मानवदेहको धारण करके मनुष्यको चाहिए कि वह अपनी कर्मशक्तिकी स्वाभाविक गतिको प्रतिक्षण अपने मूलरूप सत्यकी ओर प्रवाहित करता रहे। सत्य जिन उपायोंका अनुमोदन कर सके, उन्हींसे देहकी रक्षा तथा पोषण करे। सत्यको ही अपना एकमात्र प्रभु मानकर, उसीकी सेवामें अपने देहको लगाये रक्खे। प्रत्येक क्षण आँखें फाड़कर सर्वत्र सत्यका ही दर्शन करता रहे। सत्यको ही अपना आश्रय, मित्र तथा कर्मक्षेत्र जाने। मनुष्य ऐसा करनेपर ही मनुष्योचित जीवन बिता सकता है। नहीं तो उसका भविष्य अन्धकारमय होना सुनिश्चित है।

जिस समय मनुष्य प्राणशक्ति लेकर पृथिवी पर उतरता और जब इस प्राणशक्तिसे वियुक्त होकर यहाँसे जाता है, इन दोनों घटनाओंका मध्यवर्ती काल मनुष्यका जीवनकाल कहाता है। मनुष्य जीवनका उद्देश्य यही है कि वह इस छोटेसे जीवनकालमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपने अभीष्ट सत्यमें अवस्थान करले। इसके देहधारण करनेका यह अभिप्राय कभी नहीं कि मनुष्य अपना सम्बन्ध इस जीवनकालसे बाहर किसी दूसरे जन्मके साथ जोड़नेमें लगा रहे। अर्थात् दूसरे जन्मके लिए काल्पनिक शुभकर्म करते रहना, जीवनकालमें मर्यादारहित जीवन बिताते रहना, तथा देहके

जीवनकालका सदुपयोग करनेसे वंचित रहना, अविचारकी स्थिति है। मनुष्यको तो अपना वर्तमान सुधारे रखना है। वर्तमानके सुधारपर ही उसका भूतभावीका सुधार निर्भर है। वर्तमानके सुधारसे ही उसके भूतभावी सुधरे हुए हो जानेवाले हैं।

यह मनुष्यदेह उत्तरोत्तर बाल्य, यौवन प्रौढ तथा वार्धक्य इन चार अवस्थाओंको प्राप्त किया करता है। देह बाल्यकालमें वृद्धिशील रहता है, यौवनमें देहकी वृद्धि समाप्त हो जाती है, प्रौढ अवस्थामें देह पतनकी ओर चल पड़ता है, वार्धक्यमें इसका पतन आ खड़ा होता है। किसी किसीका जीवनकाल तो बाल्यमें ही समाप्त हो जाता है,किसीका यौवनमें किसीका प्रौढावस्थामें तथा किसीका वार्धक्यमें समाप्त होता है। सृष्टिकी नियमावलिमें ऐसा कोई नियम नहीं कि प्रत्येकको इन चार अवस्थाओंको पानेका अवसर मिल ही जाय। इसलिये देहकी किसी विशेष अवस्थाके साथ सत्यकी प्राप्तिका संबन्ध रखना उचित नहीं है। प्रौढ या वार्धक्य अवस्थाको सत्यकी प्राप्तिके लिये नियत करके, बाल्य तथा यौवनकी अवस्थाको सत्य-हीन आचरणोंमें लगाये रखना, मनुष्यकी गहरी भूल है। ज्यों ही मनुष्यको समझ आये त्यों ही वह सबसे पहले सत्यको पाकर छोड़े। मनुष्यका प्रारम्भिक कर्तव्य भी सत्यको पाना है, मध्यकालीन कर्तव्य भी सत्यको पाना है तथा अन्तिम कर्तव्य भी सत्यको पाना है। मनुष्यके लिये सत्यलाभके अतिरिक्त और कोई कर्तव्य नहीं है। जीवनमें मनुष्यको जिस सबसे पहले दिन त्याज्य ग्राह्यकी बुद्धि पैदा हो, वही समझ आनेका या सत्यासत्यका विचार करके सत्यके दर्शन करनेका पहला सुअवसर है। यह सुअवसर गया तो जीवन नष्ट हो गया समझो।

प्रश्न होता है कि फिर मनुष्य इस सुअवसरको कैसे पहचाने। उत्तर यही है कि संसारके स्रष्टाने इस बातकी पहचान करानेके लिये मनुष्यके शरीरको प्राकृतिक नियमोंकी शृंखलाओंसे बाँध रक्खा है। ये प्राकृतिक नियम मनुष्यको सत्यका दर्शन

तथा असत्यका त्याग करानेके लिये उसके शरीर और मनपर अपना प्रभाव डालते रहते हैं और उन प्रभावोंसे ही मनुष्यको सत्यका पाठ पढ़ाते या शिक्षा देते रहते हैं। ये प्राकृतिक नियम मनुष्यको सीख देनेके लिये जैसे बाह्य प्रकृतिके ऊपर वैसे ही मनुष्यके देहपर भी अपना काम करते हैं। मनुष्यका देह और मन प्राकृतिक नियमोंके प्रभावकी लपेटमें आनेसे बच नहीं सकते। मनुष्यकी भलाई इसीमें है कि वह अपने देह और मनको प्राकृतिक नियमोंके प्रहारोंसे बचानेका उद्धत उत्साह या उपक्रम कभी न करे। वह नम्रताके साथ इन नियमोंकी अधीनता स्वीकार करते हुए जीवनयात्रा करे। यदि वह इस प्रकार जीवनयात्रा करेगा तो उसे सत्यदर्शनसे मिलनेवाला वह आनन्द स्वभावसे प्राप्त हो जायगा जो उसके जीवनको धन्य कर डालेगा।

प्राकृतिक नियमोंका भंग करनेकी इच्छा मनुष्यकी धृष्टता है। यह उसका असम्भव उपक्रम है। जब मनुष्य प्राकृतिक नियमोंका भंग करना चाहता है, जब यह अनित्य पदार्थोंको नित्य बनाकर उन्हें अपने पाससे न हटने देनेके उपक्रम या प्रबन्ध करना चाहता है, जब वह विषयसुखोंको स्थायी बनाकर अपने पास रखना चाहता है, जब वह मायाके बन्धनमें फँस गया होता है, तब उसे असत्यका बिच्छू आकर काट लेता है। तब वासनाओंकी अतृप्ति आती है और उसके लिए अन्तःशल्य बन जाती है। वह अनक्षरभाषामें उससे कहती है कि ओ भोले मानव! विषयोंके साथ तो अनित्यताका सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। तुम उस नियमको भंग करके उन्हें नित्य बनानेका असाध्य प्रयत्न क्यों कर रहे हो! तुम सावधान हो जाओ। ऐसा प्रयत्न मत करो तथा इस अविचारसे दुखी मत होते रहो। इस संसाररूपी पाठशालामें सत्यसे च्युत हो जानेवाले मनुष्योंको सावधान करनेके लिए यही दैवी सांकेतिक वाणी अनन्त प्रकारोंसे सुनाई जा रही है। यह विपथगामी मनुष्यसे कहती रहती है कि हे मनुष्य! तैंने अपना जीवनपथ

निर्धारण करनेमें भूलकी है। तेरा स्वीकृत मार्ग सत्यानुमोदित नहीं है। यदि मनुष्य इस सांकेतिक वाणीका कहना न माने तो उसके जीवननदकी धारा असन्मार्गमें बह निकलती है और उसके जीवन को व्यर्थ बनाकर उसे दुःखोंका आगार बना डालती है। यदि मनुष्य इस दैवी सांकेतिक वाणीको श्रद्धेय वस्तु समझकर, उसे अपने जीवनके मार्गदर्शकका पद देकर, अपने जीवनसाम्राज्यमें अभिषिक्त कर लेता है तो उसका जीवन प्रत्येक क्षण असत्यको पराजित करते रहनेवाला वीरश्रेष्ठ जीवन बन जाता है। तब उसका जीवन सत्यारूढ विजयी जीवन हो जाता है। ऐसा सत्यारूढ विजयी जीवन रखनेवाला पुरुष स्वभावसे पूर्ण आनन्दस्वरूप बने रहनेका अभ्यासी हो जाता है। मनुष्यको जीवनको इन प्राकृतिक नियमोंके अनुसार चलानेमें किसी कष्टदायी प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता केवल इतनी है कि जो अवस्था अस्वाभाविक कष्ट साध्य तथा प्राकृतिकनियमविरुद्ध हो मनुष्य उनके लालचमें न फँसे।

प्रकृतिदेवीने अपनी ही ओरसे मनुष्यके दैनिक जीवनको नियमानुवर्ती रखनेका प्रबन्ध किया है। उसने स्वयं ही जीवनको दिन रातमें बाँटा है। प्रत्येक दिन मनुष्यके लिये एक एक सम्पूर्ण जीवन-काल है। प्रत्येक दिनको अलग अलग एक एक जीवन या अलग-अलग एक-एक आयु मानकर इसका पूर्ण सदुपयोग करना चाहिये। सूर्यदेव ही इस जीवनकालके मापक हैं। प्रकृतिने अपनी ही ओरसे एक दिनके जीवनको प्रातः मध्यान्ह सायान्ह तथा रात्रिके भागोंमें बाँट दिया है। प्रातःकाल अभ्यास करनेका अनुकूल समय है। प्रातःकाल को ज्ञानाभ्यासद्वारा शक्तिसंचय करनेमें लगाना चाहिये। प्रायः सारे संसारमें दिवसके मध्य भागमें ही विशेषरूपसे उपार्जितकी हुई ज्ञानकर्मशक्तिको व्यवहारमें लानेका अवसर माना जाता है। उस समय मनुष्यको सत्य तथा न्यायनिष्ठाके साथ अपना अपना ईश्वरदत्त कर्तव्य पालना चाहिये। तीसरा पहर दैनिक जीवनकी सफलता मनानेका समय है। जिस मनुष्यने ठीक रीतिसे अपना कर्तव्य पाला

है उसीको सन्तोषरूपी फल मिलता है और वही उत्सवके रूपमें खेल कूद भ्रमण तथा दौड़ लगाकर प्रसन्नता पानेका अधिकारी होता है। रात तो सारीकी सारी विश्रामके लिये बनी है। जो मनुष्य दिन भर प्रत्येक मुहूर्तमें अपने लक्ष्यपर स्थिर रहा है, जिसने परिमित भोजन विश्राम, व्यायाम तथा कर्मानुष्ठान करके, मनुष्योचित कर्तव्यका पालन किया है, उसके मनमें किसी भी प्रकारका उद्वेग नहीं रहता। उसका मन कर्तव्यपालन कर लेनेके कारण उद्वेगरहित हो जाता है। उसके मनमें प्रसन्नता ही प्रसन्नता शेष रह जाती है। वह अपनी पूर्णता पवित्रता तथा आनन्द स्वरूपमें स्थित रहकर रातको शान्तिपूर्ण निद्राकी गोदमें विश्राम लेता तथा दूसरे दिन प्रातः उठनेपर फिर दूसरा नवीन और निर्मल जीवन बितानेके लिये दूसरा जन्म धारण कर आता है। यही जीवित रहनेकी उत्तमोत्तम विधि है। इस प्रकार का जीवन बितानेसे जीवित रहनेकी सुन्दर कला मनुष्यके अधिकार भुक्त हो जाती है।

सीखते रहो

सीखनेकी परिभाषा

बुद्धिको विकसित करना सीखना है। सत्य असत्यका विचार करनेकी शक्ति बुद्धि है। मनुष्यको जीवनकी प्रत्येक घटना और प्रत्येक मुहूर्तमें सत्य असत्यका विचार करनेकी आवश्यकता पड़ती रहती है। उस आवश्यकताके समय सत्य असत्यको स्पष्ट समझकर सत्यपर अविचलित हो जानेका कौशल ही मनुष्य जीवनमें सीखने योग्य एक मात्र पाठ है।

सीखनेका उद्देश्य

सीखनेका उद्देश्य जीवनको सफल बनाना है। अपने जीवनके किसी भी कोनेमें कहीं भी व्यर्थताको न घुसने देनेमें ही मनुष्य जीवनकी सफलता है। जीवनवैफल्यकारिणी व्यर्थताको नष्ट करनेवाली शक्तिको अपनेमें जगाये रखना सीखनेका उद्देश्य है। अपनेको सत्यको ग्रहण करने अर्थात् सत्य मार्गपर चलनेमें असमर्थ पाकर, मैं सत्यपर नहीं चल सकता कह उठना ही मनुष्य जीवनकी व्यर्थताका स्वरूप है। व्यर्थताका विरोध करनेवाली अवस्था ही सत्य है। मनुष्यको जीवनकी व्यर्थताके विरुद्ध सचेत करते रहना मानव हृदयवासी सत्यका काम है।

सर्वत्र व्यर्थता और सर्वत्र व्यर्थताको व्यर्थ बनानेवाला सत्य

इस सृष्टिमें सर्वत्र व्यर्थताका जाल पुरा पड़ा है। मनुष्यको व्यर्थ बनानेके लिये रूपरस आदि पदार्थ प्रत्येक समय उसके सामने आ रहे हैं। रूप रस आदिमें आसक्ति हो जाना ही उसके जीवनकी व्यर्थता है। परन्तु हर्षकी बात यही है कि जहाँ संसारमें यह व्यर्थता भरी पड़ी है वहीं व्यर्थताको व्यर्थ करडालनेवाली सत्य भावना भी सर्वत्र भरी पड़ी है। आप देख लीजिये जहाँ रूपासक्ति है वहीं रूपकी अनासक्तिरूपी सत्यनारायण भी उसके घातके लिये उपस्थित हैं। सत्यनारायण रूपासक्तिके घातके लिये अनासक्ति अर्थात् रूपासक्तिके परित्यागके रूपमें उसके पीछे लगे फिरते हैं। जहाँ (जिस मनमें) भूल है, उसीके पीछे भूलसे बचानेवाली भावना चिपटी मनुष्यको सचेत करती फिर रही है। यही (भूलसे बचने की) वह गुप्त भावना है जो भूल करनेवाले मनुष्यकी शान्तिको हर लेती है। यह भूल करनेके पश्चात् मनष्यको शान्ति नहीं भोगने देती। यही भावना भूल करने वालेके मनमें व्याकुलता उत्पन्न करती है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि भूलविरोधी सत्य सृष्टिमें सर्वत्र विद्यमान है।

यहाँ तक कि वह असत्यारूढ चोरों और दूसरोंका घात करनेवालोंके मन तकमें विद्यमान है। जहाँ जहाँ असत्य है वहीं वहीं सत्य भी है। सत्य सृष्टिमें सर्वत्र सब घटनाओंमें और प्रत्येक वस्तुमें अनुभवगम्य भावनामयी सत्ताके रूपमें रह रहा है। इस सर्वव्यापी सत्यको न पहचान सकना मनुष्यके जीवनकी सबसे बड़ी असफलता है और सर्वव्यापी सत्यको भाँप लेना उसके जीवनकी सबसे बड़ी सफलता है। संसारकी आसक्तिमें फँस बैठना सत्यको ग्रहण न करना है। संसारकी आसक्तिका भंजन कर डालना ही सत्यको ग्रहण करना है। विधाताने इस मनुष्यप्राणीको दो मार्गोंमेंसे एक कोई सा छाँटनेके लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया है। उसने मनुष्यके लिये सफलता तथा विफलताके दोनों मार्ग खोल दिये हैं। मनष्य उन दोनों मार्गोंमेंसे चाहे जौन से पर यात्रा कर सकता है।

व्यर्थताकी संभावनाको नष्ट करना ही सीखना है

यदि संसारमें व्यर्थताका डर न होता तो किसीको कुछ सीखने की कोई आवश्यकता न थी। क्योंकि व्यर्थताका पूरा पूरा डर है, इसीसे सर्वत्र व्यर्थताका विरोध करनेवाली सीखकी आवश्यकता पड़ी। व्यर्थता सार्थकताका विरोधी अग्रदूत है। यदि संसारमें व्यर्थता न होती तो सार्थकता भी संसारसे भाग जाती। व्यर्थताको व्यर्थ बना डालना ही सार्थकता है। संसारमें व्यर्थताका विरोध करनेवाला अर्थात् मनुष्यको सत्यदर्शन करानेवाला एक विराट ईश्वरीय प्रबन्ध है। आइये सत्यदर्शन करानेवाले ईश्वरीय प्रबन्धके स्वरूप पर विचार करें:—ये जगतके पदार्थ इसलिये बनाये गये हैं कि ये मनुष्यके व्यवहारके अंग बनें और अंग बन बनकर टूटते फूटते बिलगते नष्ट होते रहकर, उसे सत्यका दर्शन कराते रहें। अर्थात् मनुष्य इनके संपर्कमें आ आकर असत्यको त्यागता रहे और सत्यको पकड़ता रहे।

व्यर्थताका कारण मनुष्यकी भ्रान्ति है। अर्थात् उसका किसी न

किसी भ्रममें फँस जाना व्यर्थताका कारण है। सत्यको अपनी दृष्टिसे बाहर खड़े रखना भ्रान्ति है। सत्य तक अपनी दृष्टि न पहुँचाना या पहुँचानेमें आलस्य करजाना भ्रान्ति है। जीवनमें भ्रान्तिसे बचकर रहना ही सच्ची सीख है।

अपने अनुभवोंसे सत्यदर्शन होता है पुस्तकों या उपदेशोंसे नहीं

पुस्तक पढ़कर या उपदेश सुनकर किसीको सत्यदर्शन नहीं होता। पुस्तकोंकी बातें या तो दूसरोंके वे अनुभव होते हैं जो दूसरोंके लिये अनुपयोगी होते हैं, या वे कोरी कल्पना होती हैं। दूसरोंने कैसे-कैसे अनुभव प्राप्त किये हैं? या कैसी कैसी कल्पनायें की हैं? इतना जान लेनेसे किसीको सत्यदर्शन या सत्य ज्ञान प्राप्त नहीं होता। सत्यदर्शन तो अपने निजके व्यावहारिक अनुभवोंसे होता है। कर्तव्य सामने आखड़ा होनेपर उस संबन्धी सत्यके दर्शनकी इच्छासे अपना हृदय विलोया या टटोला जानेपर होनेवाला अनुभव ही सत्यदर्शन कहाता है।

सत्यके अनुभवमें आनेका स्वरूप

असत्यको सत्य समझकर ग्रहण करना भ्रान्ति है। जिस प्रकार बनावटी आकृति लगाये हुए मनुष्यको पहचान लेनेपर वह धोका देनेकी इच्छा त्याग देता है, इसी प्रकार यदि मनुष्य असत्यके सत्यका बनावटी आकार पहनकर सामने आनेपर उसे मिथ्या समझ जाये तो असत्य उसके सामनेसे भाग जाय और उस समय सत्य ही मनुष्यके अनुभवका विषय रह जाय। इसीको सत्यका अनुभव-गम्य होना कहा जाता है। यही सत्यके अनुभवमें आनेका स्वरूप है।

सत्यको पहचाननेके तीन मुख्य मार्ग

मनुष्यके सामने सत्यको असत्यसे पृथक् करके पहचाननेका अवसर सुख-दुख, शक्ति अशक्ति और स्वतंत्रता परतंत्रताके तीन रूपोंमें उपस्थित हुआ करता है।

सुख-दुखके विषयमें सत्यका रूप

जिस समय मनुष्यको कोई सुखदायी अवस्था या वस्तु मिलती है उस समय उसे पहले तो यह मिथ्या अनुभव होता है कि मैं इसके मिलनेसे सुखी हुआ हूँ। यदि मनुष्य इस मिथ्या अनुभव पर कोई विचार न करके शीघ्रतामें यह परिणाम निकाल बैठे कि—"मनको मोहित करनेवाली किसी अवस्था या पदार्थका हाथमें आ जाना ही सुख है और क्योंकि यह सुख मुझे जीवनकी प्यारी घटना लगती है इसलिये ऐसा ही सुख जीवनमें उपार्जन करने योग्य पदार्थ है"। तो यह उसकी भूल होगी। मनके आकस्मिक उद्वेगसे प्रभावित होकर ऐसा सिद्धान्त बना बैठना मनुष्यके लिये ठीक नहीं है। ऐसा सिद्धांत बना बैठना इसलिये ठीक नहीं है कि—ऐसी मनोमोहक अवस्थायें या पदार्थ अकेले नहीं आते। ये अपने साथ कुछ कुचिन्तायें भी लेकर आते हैं। इन पदार्थों या अवस्थाओंके आनेके साथ ही साथ इनके नष्ट हो जानेका महाभय भी आता है। यह चिन्ता या भय प्रथम चखे हुए सुखमें भी दुःख मिला देता है और मनुष्यकी उस सुखको स्थायी बनानेकी इच्छामें भी दुःख मिला डालता है। अधिक समय नहीं बीत पाता कि इतने ही में उस अवस्था या वस्तुका अवश्यभावी विनाश भी आकर खड़ा हो जाता है। यह अवश्यंभावी विनाश आकर मनुष्यसे कहता है कि "जिसे तुमने सुख समझा था अब आँख खोलकर देखो कि वह आज तुम्हें छोड़कर जा रहा है इसलिये वह तो दुःख है।" ऐसे समय मनुष्यको सुखके स्थान पर दुःख ही दुःख दिखाई देने लगता है और उसका पहला बनाया हुआ सिद्धांत उसकी भूल और झूठा ठहर जाता है।

घुमकड़ सुखोंसे सीखने योग्य पाठ

मनुष्यको इस प्रकार निरन्तर चक्कर काटते रहनेवाले घुमक्कड़ सुखोंसे यही एक पाठ सीखना है कि सुख नामकी कभी कभी आनेवाली अवस्थाका पानीकी गरमीके समान आना और फिर चला जाना

सुनिश्चित है। उसे कोई रोककर नहीं रख सकता। वास्तविक बात यह है कि दुख ही सुखका मोहनी रूप धारण करके मनुष्यको कष्ट देनेके लिए उसके सामने आता है।

यदि मनुष्य अनित्य सुखोंमें फँसेगा तो नित्य सुख उसके हाथसे निकल जायगा

सच्चा सुख न तो कभी आता है और न कभी जाता है। वह सब समय है और सब समय रहेगा। वह शाश्वत रहनेवाला मनुष्यका स्वरूपसुख है। मनुष्य अशाश्वत सुखके फंदेमें फँसते ही उस शाश्वत सुखको खो बैठता है जो बिना कुछ किये सदासे उसके पास है। मनुष्यको जीवनधारण करके शाश्वत सुखमेंसे दुखकी सम्भावना को हटाना है। यदि मनुष्य अपने शाश्वत सुखमेंसे दुखकी सम्भावनाको हटाना चाहे तो वह कहीं बाहरसे आनेवाले किसी प्रकारके सुखके दर्शनोंसे या उसकी प्रतीक्षासे उल्लास मनाना छोड़े। वह ऐसे सुखोंसे न तो अपनेको सुखी माना करे और न औरोंको सुखी समझा करे। सुखके विषयमें वह यह सिद्धान्त बना ले कि ऐसा झूठा सुख जैसे मेरे पास आता है और चला जाता है, ऐसे ही औरोंके पास भी आता और चला जाता है। मनुष्य बहुधा औरोंके भ्रममूलक सुख-दुखके साथ अपनी अवस्थाकी तुलना किया करता है। वह इस तुलनासे ही अपनेको दुखी बना लेता है। उसे ऐसी तुलना नहीं करनी चाहिये। ऐसी तुलना करनेका अर्थ उनकी अवस्थामें जानेकी इच्छा करना है। मनुष्य इस तुलनाको करते ही सुख-दुखके अकाट्य बन्धनोंमें जकड़ जाता है।

मनुष्यके मनमें आनेवाले सुख-दुखके भँवर सुखकी इच्छा छुड़ानेके लिये आते हैं

यदि मनुष्यकी विवेकबुद्धि सोयी हुई न हो तो उसे एक बात आँख खोलकर समझ लेनी चाहिये कि मनुष्यके जीवनसागरमें इस प्रकारके सुख-दुखके भँवर उसे यही सिखानेके लिये पड़ते रहते हैं कि

हे मनुष्य ! यदि तू दुःखरूपी बन्धन-जालसे मुक्त रहना चाहे तो मनमें सुखकी इच्छा मत कर। मनुष्य अपने मनमें सुखकी इच्छाको न पालकर ही दुखरूपी बन्धनजालसे मुक्त रह सकता और अक्षय अखण्ड सुख नामकी सत्य अवस्थाको पा सकता है। सावधान मनुष्य सदा ही अपनेको सच्चे सुखकी अवस्थामें पाता है।

शक्ति अशक्तिके विषयमें सत्यका स्वरूप

मनुष्यके पास शक्तिकी परीक्षाके अवसर प्रत्येक क्षण आ रहे हैं। ये अवसर मनुष्यको शक्तिके सच्चे स्वरूपको बतानेके लिये और उसे सच्ची शक्तिसे शक्तिमान रहनेकी कला सिखानेके लिये आरहे हैं। मनुष्य सावधान होकर विचारते ही प्रत्येक क्षण पहचान सकता है कि मेरी सच्ची शक्ति किस बातमें है? सृष्टिव्यवस्था मनुष्यके सामने प्रत्येक क्षण शक्ति और अशक्तिके अवसर लाकर उसे अपनी इच्छासे शक्तिमान बननेका अवसर दे रही है। इन अवसरोंपर विचार न करनेवाला मनुष्य विचारपंगु बन जाता है और कभी तो अपनेको शक्तिमान समझकर उत्साहमें भर जाता है और कभी अपनेको अशक्त पाकर अनुत्साहके गहरे गड्ढेमें जा गिरता है। इस प्रकार विचारहीन मनुष्य क्रमसे उत्साह और अनुत्साहके दुखदायी मिथ्याभ्रान्तिजालमें उलझ जाता है। मनुष्य इस प्रकारका प्रमाद औरोंकी भ्रान्त शक्ति या अशक्तिसे अपनी भ्रान्त अवस्थाकी तुलना करके, स्वयं भी औरों जैसा बनना चाहनेपर किया करता है। यदि मनुष्य शक्तिके सच्चे स्वरूपको पहचान ले तो वह कभी भी अशक्त न बने और न दूसरोंसे तुल तुलकर कभी शक्तिमान और कभी अशक्त बननेके भ्रममें फँसे।

मनुष्यकी शक्ति सर्वव्यापक शक्तिसे पृथक् होते ही शक्ति न रह कर अशक्ति हो जाती है

शक्ति इस सृष्टिके भीतर मनुष्योंकी आँखोंके सामने सर्वत्र अपनी अपार लीला खेल रही और मनुष्यको दिखा रही है। वह

अपना खेल दिखा दिखाकर मनुष्यकी ज्ञानचक्षु खोल देना चाहती है। शक्ति सर्वव्यापक अखण्डनीय तथा अविभाज्य है। वह किसी एक मनुष्यकी नहीं है। वह तो संसार भरकी है और एक है। वह प्रति मनुष्य नाना नहीं है। वह सबकी साझे की है। जो कोई चाहे वही संसारकी समग्र शक्ति पर पूर्ण अधिकार पा सकता है। अंधा अज्ञानी मनुष्य शक्तिको अपने देहमें अभिव्यक्त होते देखकर उसे केवल अपने देहके द्वारा व्यक्त होनेके कारण, विराट शक्तिसे पृथक् समझकर, अपनी कहने लगता है। वह सर्वव्यापक शक्तिमेंसे एक छोटासा टुकड़ा तोड़कर उसका स्वामी बन जाना चाहता है। परन्तु वह नहीं समझता कि मेरी दैहिक शक्ति महाशक्तिसे टूटते ही शक्ति न रहकर अशक्ति बन जायगी। मनुष्यके अज्ञानी बनकर सर्वव्यापक शक्तिमेंसे कुछ शक्तिको तोड़कर अलग कर लेने और उसे अपनी कहकर अपनाने पर वह शक्ति मूलशक्तिसे टूट जानेके कारण अपना सर्वव्यापकपना छोड़ देती और मनुष्यको आनन्द देना बन्द कर देती है। तब वह शक्ति शक्ति न रहकर अशक्ति बन जाती है। मनुष्य शक्तिको सर्वव्यापक समझ लेने पर ही सच्चा शक्तिमान बन सकता है। शक्तिका सर्वव्यापीरूप देख चुकने पर ही मनुष्यको आनन्दी रहनेकी कला आती है।

मनुष्य शक्तिके सच्चे मूलपर खड़ा रहने तक ही शक्तिमान रह सकता है

प्रकृति माताने मनुष्यके लिये सर्वत्र इस सच्ची अनन्त आत्मशक्ति का पता चलाकर इसीपर अटल हो जानेकी विद्या सिखनेका प्रबन्ध कर रक्खा है। मनुष्य चाहे तो कहींसे भी किसी भी घटनासे अपनी अनन्त आत्मशक्ति पर अटल रहनेकी विद्या सीख सकता है। मनुष्यको सृष्टिमेंसे परमाणु और पर्वत, जल बिन्दु तथा जलसागर और वृक्ष, वनस्पति तथा भूमिके दृष्टान्तोंसे यह पाठ पढ़ना है कि जब तक परमाणु पर्वतके गातमें लगा रहता है तब तक वह परमाणु न

होकर अटल अचल पर्वत ही होता है। तब तक उसका महत्व पर्वतके महत्व जितना ही होता है। तबतक उसकी अपनी शक्तिकी जड़ें पर्वतकी जड़ों तक पहुँची रहती हैं। परन्तु ज्यों ही वह पर्वतके गात्रसे अलग हो जाता है। त्योंही जलप्रवाह उसे नदीके बालूमें फेंक देता है। फिर मूलावलम्बनहीन उसे आँधियाँ उड़ा ले जाती हैं। दूसरा उदाहरण जल विन्दुका है। जलविन्दु जबतक सागरमें रहता है तबतक साक्षात् सागर ही होता है। परन्तु जब वह सागरके गर्भको छोड़ देता है, तब वह भाप बनकर वायुमें उड़ने लगता है। तीसरा उदाहरण घास और पेड़ोंका है। घास तथा पेड़ जब तक पृथिवीमें अपनी जड़ें जमाकर खड़े रहते हैं, तबतक शक्तिमान रहते हैं। जब ये वहाँसे अपनी जड़ उखाड़ लेते हैं तब वायुमें उड़ते और पानीमें बहते हैं। इन तीन दृष्टान्तोंके अनुसार मनुष्य भी शक्तिके वास्तविक मूलके ऊपर खड़ा रहने तक शक्तिमान रहता है। इन्हींका नहीं प्रत्येक वस्तुका यही स्वभाव है कि वह अपने मूलस्थान पर खड़ी रहकर ही विरोधीका विरोध करने और उसे परास्त करनेमें समर्थ होती है।

सत्य ही शक्तिका मूल स्रोत है

सृष्टिमें सर्वत्र मनुष्यताका विरोध करनेवाली अवस्थायें हैं। उन सबसे लड़ने और उन्हें परास्त करनेकी शक्ति जहाँसे आती है वह मूल स्रोत सत्य है। सत्य वह मूलशक्ति है जिस पर खड़ा रहकर मनुष्य मनुष्यता-विरोधी समस्त अवस्थाओंसे लड़ सकता और उन्हें परास्त कर सकता है। अज्ञानी मनुष्य इस सत्य नामक मूलशक्तिको नहीं पहचानता। वह उसकी उपेक्षा करके या उसे त्याग कर अपनी काल्पनिक शक्तिके आधारसे खड़ा होना चाहता है। वह शक्तिसे जीवनयात्रा न करके जीवनके दिन अशक्तिमें काटना चाहता है। अशक्तिमें जीवन बितानेवालेको सूखे पत्तोंके समान काम, क्रोध आदि आँधियोंमें उड़ना पड़ता है। वह सदा अपनेको

शक्तिहीन पाता है। यदि उसने शक्तिके मूल स्रोतसे सम्बन्ध जोड़े रक्खा होता तो उसे अशक्तिका दर्शन कभी न होता। यदि मनुष्य शक्तिके मूलस्रोत सत्यसे अपना सम्बन्ध जोड़ ले तो वह अपनेको कभी अशक्त न पाये। सावधान मनुष्य सदा ही शक्तिसे सबन्ध जोड़े रहता और अपनेको शक्तिमान पाता है।

स्वतन्त्रता और परतन्त्रताके विषयमें सत्यका स्वरूप

भ्रान्त मनुष्य औरोंको अपने वशमें रखनेकी इच्छा करता है। वह जबतक औरोंको अपने वशमें रखनेकी इच्छा करता और काक-तालीय न्यायसे उन्हें अपने वशमें करनेके अवसर भी पाता रहता है तब ही तक वह अपनेको स्वतंत्र समझनेके धोकेमें रहता है। भ्रान्त मनुष्योंने दूसरोंको अपने वशमें रखना ही स्वतन्त्रता समझ लिया है। परन्तु जिस दिन उनकी इस भ्रममूलक स्वाधीनता पर चोट पड़ती है, उस दिन उनके सामने इस बातकी परीक्षा करनेका अवसर आ खड़ा होता है कि वे स्वयं भी सचमुच स्वाधीन हैं या नहीं? ऐसे अवसर सृष्टिव्यवस्थाकी ओरसे मनुष्यके सामने इस-लिये लाये जाते हैं कि मनुष्य सच्ची स्वतंत्रताके रूपको समझ ले। सच्ची स्वतंत्रताको पहचान लेना ही मनुष्य-जीवनमें सीखने योग्य एक मात्र कला है।

दूसरोंको अपने अधीन रखनेकी इच्छाको त्याग देना ही स्वतंत्रता है

जब जब मनुष्यकी भ्रांतिमूलक स्वतंत्रता पर चोट पड़ेगी तब तब उसका अनुभव उसे यही सिखायेगा कि किसी दूसरेको अपने अधीन करनेकी इच्छाको त्याग देनेमें ही सच्ची स्वतंत्रताका रहस्य छिपा हुआ है। मनुष्य दूसरोंको दबाकर रखनेकी इच्छामें, जो कि कन्दूरीके मनोरम कड़वे फलके समान ऊपरसे देखने ही देखनेमें सुन्दर लगती है, पूरा पूरा दूसरोंके अधीन बन जाता है। मनुष्य

दूसरोंको दबानेकी इच्छाको कार्यरूपमें परिणत कर लेने पर नाम-मात्रको भी स्वाधीन नहीं रहता। वह दिन-रात दुश्चिन्ताओंसे घिरा रहता है। जिस दिन मनुष्य सच्ची स्वतंत्रताको पा लेता है, उस दिन उसके पास दूसरोंसे तुलना करके अपनेको पराधीन समझनेका कोई कारण नहीं बचा रहेगा।

वास्तविक सत्यकी तीन अभिव्यक्ति

मनुष्यको सच्चा सुख, सच्ची शक्ति और सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त हो जाना ही वास्तविक सत्यका स्वरूप है।

सत्यही सच्चा सुख, सत्यही सच्ची शक्ति और सत्यही सच्ची स्वतंत्रता है

विराट सत्यही मनुष्यका सच्चा सुख है, विराट सत्य ही मनुष्यकी सच्ची शक्ति है और विराट सत्य ही मनुष्यकी वास्तविक स्वतंत्रता की आधार भूमि है। जबतक मनुष्य इस सत्यके आधारसे खड़ा है तबतक सुखी भी है, शक्तिमान भी है और स्वतंत्र भी है। मनुष्य इस सत्यके सिंहासनसे नीचे उतरते ही न सुखी रहता है न शक्ति-मान रहता है और न स्वतंत्र रहता है।

दूसरोंसे अपनी तुलना करना असत्य अवस्था है

जब मनुष्य असत्यके आधारपर खड़ा होता है तब ही औरोंकी अवस्थासे अपनी तुलना करता है और तबतक ही अपने आपको न्यूना-धिक सुखी, न्यूनाधिक शक्तिमान वा न्यूनाधिक स्वतन्त्र समझकर भ्रान्तिरूपी बन्धन जालमें फाँस लेता है।

सत्यमें प्रतियोगिता नहीं है

सच्चे सुख, सच्ची शक्ति और सच्ची स्वतन्त्रतामें दूसरोंसे प्रति-योगिताका प्रश्न नहीं उठता। जो मनुष्य प्रतियोगिता कर रहा है उसके पास न तो सच्चा सुख है, न सच्ची शक्ति है. और न सच्ची

स्वतन्त्रता है। अपनेको औरोंसे अधिक सुखी, औरोंसे अधिक शक्ति-मान देखना, चाहना तथा औरोंको अपने अधीन रखनेकी इच्छा करना असत्य इच्छा है। यह मनुष्यकी मानसिक निर्बलता है। तुलनावाली स्थिति दुख ही दुख है। इसीसे तुलनाको असत्य अवस्था कहा जाता है।

इस संसारमें सत्यका सफल विरोध करनेवाली कोई अवस्था नहीं हो सकती। सत्य एक अखण्ड, अविरोधी, अतुलनीय और सर्वरूप है। सत्य न आता है और न जाता है उसका कभी अभाव नहीं होता। वह अनुपम नित्य और पूर्ण है।

मनुष्यको अपने जीवनकी प्रत्येक घटनामें सुख-शक्ति और स्वतन्त्रताका स्वरूप सीखना है

जीवनके प्रत्येक अनुभवमें मनुष्यको सुख, 'शक्ति तथा स्वतन्त्रता का सच्चा रूप सीखना है। यदि जीवनके अनुभव आ आकर भी मनुष्यको सुख, शक्ति तथा स्वतन्त्रताका रहस्य बिना समझाये चले जायें तो जीवनको व्यर्थ चला गया समझना चाहिये। इस कलाको बिना सिखाये मानवजीवनकी एक भी घटनाको नहीं बीतने देना चाहिये। मनुष्यको अपने जीवनकी प्रत्येक घटनाको अपना गुरु बना लेना चाहिये और उससे सुख, शक्ति तथा स्वतन्त्रताकी कला सीखनी चाहिये।

कैसे खेलें ?

मनको प्रसन्न करनेवाले विनोदपूर्ण शारीरिक व्यायामोंका नाम खेल है। खेलका अभिप्राय अपने दैनिक जीवनको निश्चिन्तता और उत्साहके साथ समाप्त करना है। कर्तव्यपालनसे उत्पन्न होनेवाला सन्तोष ही मनकी प्रसन्नता है। जिस मनुष्यने अपने दैनिक जीवनके

प्रत्येक मुहूर्तमें, अपने कर्तव्यका ठीक ठीक पालन किया है, वही खेलनेका सच्चा अधिकारी है। खेलमें उत्सवका आनन्द खेलके साथी, खेलके साधन, खेलका स्थान और समय आदि सब कुछ मनुष्य-जीवनके अनुकूल होने पर ही आता है। कर्तव्य-निष्ठ, प्रसन्न-चित्त, अकृत्रिम (ऊपरी तड़क-भड़क तथा साज-शृङ्गारसे हीन) स्वास्थ्य-वाले, सीधे-सादे शुद्ध वस्त्रधारी साथियोंके साथ खेलना ही किसी विज्ञके लिये आनन्ददायक होता है।

स्वतन्त्र मनोवृत्ति के परिचायक वे ही साधन खेलके उपयुक्त साधन माने जाते हैं जो अपने समाजके बाहरसे, उधाररूपमें न लिये गये हों ; जो अपने स्वभावके अनुकूल हों, जो हमें बिना मूल्य अनायास मिले हों और जो हमें लक्ष्य भ्रष्ट बनाने या सूचित करने-वाले न हों। खेलके साधनोंमें एक तो अनुकरण करनेकी मनोवृत्ति नहीं होनी चाहिये, दूसरे वे धनके बदलेमें मिलनेवाले नहीं होने चाहियें। जैसे खेलनेकी मनोवृत्ति मनुष्यका स्वभावसुलभ धर्म है, वैसे ही उसके साधन भी स्वाभाविक और सुलभ होने चाहियें।

दिनके तीसरे भाग सायंकालका समय सारे दिन उत्साहपूर्ण कर्तव्यपालनके द्वारा, पूर्णरूपसे सन्तोषका उपार्जन कर चुकनेपर उस स्वमुक्त सन्तोषको खेलके रूपमें प्रकट करनेका स्वाभाविक अवसर होता है।

या तो नदी, पर्वत या शुद्ध बालुकामय नदी या समुद्रका तट या किसी पर्वतकी रम्य उपत्यका नहीं तो हरी-भरी घाससे ढका विस्तीर्ण भूभाग ही खेलका उपयुक्त स्थान माना जाता है।

शारीरिक शक्तिकी रक्षा और वृद्धि करनेवाले, मनमें विनोद तथा उत्साह उत्पन्न करनेवाले दौड़ना, कूदना, खेलना आदि व्ययहीन कौशलपूर्ण खेल अच्छे खेल माने जाते हैं।

खेलका मुख्य भाग व्यायाम है। व्यायाम वही कर्म है जो शरीरको नीरोग रखने और बल देनेवाला हो। व्यायामका उद्देश्य शरीरसे पसीना निकाल देना या शरीरको उचित मात्रामें गरमकर

देना है। इस शरीरमें इकट्ठे होते रहनेवाले विजातीय द्रव्य रोग उत्पन्न किया करते हैं। व्यायाम शरीरमें गरमी किंवा अग्निको बढ़ाता है और वह इस रोगकारक विजातीय द्रव्यको जला देता है। व्यायाम करनेसे नाड़ियोंमें रक्तकी गति तीव्र हो जाती है और रक्त शुद्ध होकर देहको काम करने योग्य बना देता है। इसलिये अपने शरीरको दिनमें कमसे कम एक बार व्यायामकी नीरोग आगमें तपाना चाहिये। व्यायामको परिमित मात्रामें करना चाहिये। इससे शरीर लघु काम करने योग्य निर्मल कष्टसहिष्णु तथा आलस्यहीन रहता और पाचनशक्ति बढ़ाती है। व्यायाम मात्रासे अधिक नहीं करना चाहिये। मात्रासे अधिक व्यायाम करनेपर थकावट और ग्लानि होती, प्यास बढ़ती, श्वाँस, खाँसी, ज्वर और वमन तक होने लगते हैं। खेलमें शरीरसे इतना अधिक परिश्रम नहीं करना चाहिये कि जिससे तत्काल पानी पीनेकी आवश्यकता पड़ जाय और श्वास बहुत वेगसे चलने लगे।

खेलमें, आत्म तृप्ति ही मुख्य लक्ष्य होना चाहिये। मनमें दूसरों-को चमत्कृत या पराजित करनेकी कल्पना नहीं आनी चाहिये। हार-जीतकी अपेक्षा न करना ही खिलाड़ीपन है। लाभालाभ, जय पराजयमें समचित्तता ही खेलमें सीखनेकी बात है। इस प्रकार मनुष्यका सारा जीवन ही खेल बन जाना चाहिये। सारे जीवनको अलग करके कुछको खेल नाम देना अनुचित है। बचपनसे खेलते खेलते सारे जीवनको एक लम्बा खेल समझ जाना चाहिये। समस्त जीवनको खेल समझनेके इस महत्वपूर्ण उद्देश्यको प्रत्येक समय स्मरण रखना चाहिये। खेलमें औरोंको चमत्कृत या औरोंसे प्रति-योगिता करनेकी इच्छा करनेपर शरीरका दुरुपयोग, मनका पतन होता है। ऐसी भूल खेलको ही खेलका उद्देश्य समझ लेनेसे होती है। परन्तु ध्यान रक्खो कि खेल ही खेलका उद्देश्य नहीं है। जैसे सत्य पर सदा आरूढ़ रहना समस्त जीवनका मुख्य उद्देश्य है इसी प्रकार खेलका उद्देश्य भी सत्यका अमृतमय स्वाद लेते रहना है। मनुष्य

इस लक्ष्यको भूल जानेपर अपने परिमित आचारकी सीमाको छोड़कर स्वार्थ और स्वेच्छाचारके वशमें हो जाता है और उसे पता नहीं चलता कि मैं स्वार्थी और स्वेच्छाचारी बनकर पतित होता जा रहा हूँ। ऐसे मनुष्यका जीवन गिरावटकी ओर पैर बढ़ाने लगता है।

खेलमें औरोंको लज्जित करने या नीचा दिखानेकी मनोवृत्ति प्रतिद्वन्द्विता है। प्रतिद्वन्द्विता अहंकारके कारण होती है। प्रतिद्वन्द्वितासे मनकी प्रतिद्वन्द्विता नष्ट हो जाती है और जीवन विपरीत मार्गपर जा पड़ता है।

जिन खेलोंको खेलनेमें या जिन खेलोंको देखनेमें मानसिक शक्तिकी हानि या रुपये-पैसेका विनाश या दुरुपयोग होता हो या जिनमें अपना स्वाभिमान छोड़कर औरोंका अनुकरण होता हो, जिनका प्रभाव मादक द्रव्यके समान, दिनभर मनपर पड़ा रहता हो, ऐसे सब खेल शैतानके आविष्कार मानने चाहियें। हाकी, क्रिकेट, फुटबाल बैडमिन्टन आदि ऐसे सब व्ययसाध्य परानुकरणी खेलोंसे बचकर रहना बुद्धिमत्ता है।

विलास बुद्धिके वश होकर या शरीरको आराम देनेके विचारसे खेले जानेवाले खेलोंसे तथा सवारियों पर बैठकर वायु सेवन आदि अभिमान-वर्धक समस्त क्रियाओंसे जान-बूझकर बचकर रहना बुद्धिमानका कर्तव्य है।

खेलका निर्मलतम रूप अपने दिनभरके सत्य अनुभवोंको संसारके महान् और निर्मल आनन्द-भंडारमें जमा करके रखना है। आशा-निराशा; सुख, दुःख; जय और पराजयकी कोई अपेक्षा न करके, भूत और भावीका कोई विचार न रखकर पूर्ण आनन्दको प्राप्त करना तथा शान्त-सौम्य हृदयके स्वामी बनकर रातको शान्ति देनेवाली नींदकी गोदमें चले जानेका संभार करना खेल है। उत्तम सुषुप्ति पाने योग्य बनना कि खाट पर पड़नेके अगले ही क्षण नींद आ जाय खेलका अभिप्राय है। खेलमें पूरा आनन्द दिनके कर्ममय जीवनमें सफल हो चुकने पर ही आता है। हमें खेलमें ही रातको आनेवाली

अटूट शान्तिदायक निद्राकी सूचना भी मिल जानी चाहिये। खेलका अभिप्राय इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर खेलने पर ही पूरा हो सकता है।

स्वास्थ्य

शरीरका नहीं किन्तु मनका क्षय व्याधि-विहीन अपरिवर्तनीय परिपूर्ण अवस्थामें अटल रहने लगना स्वास्थ्य है। बहुधा सुननेमें तो यही आ रहा है कि स्वास्थ्य शरीरका धर्म है, परन्तु विवेचनाने यह सिद्ध कर दिया है कि स्वास्थ्य मनका धर्म है। स्वास्थ्य बहुधा शरीर-धर्म माना जानेपर भी शरीर-धर्म नहीं है, मनुष्यके अनुभवने अन्तमें मनुष्यको बताया है कि शरीर लाख चाहनेपर भी स्वस्थ रह ही नहीं सकता। इस वस्तुस्थितिमें यह समझ लेना ही स्वास्थ्य ठहरता है कि शरीर स्वस्थ रह ही नहीं सकता है। इस प्रकारका सिद्धान्त माननेका कारण यह है कि शरीर सदा ही परिवर्तित होती रहनेवाली वस्तु है। इसे स्वस्थ अर्थात् अपरिवर्तित भी नहीं रखा जा सकता। जिस पदार्थका परिवर्तन और ध्वंस अवश्यम्भावी हो, जो मनुष्य ऐसे परिवर्तनशील और ध्वंसशील शरीरको स्वस्थ बनाये रखना चाहता हो, वह अपने मनको अस्थिर अशान्त और लक्ष्यच्युत करना नहीं चाहता तो और क्या चाहता है? मनको शान्त, लक्ष्यारूढ़, सुव्यवस्थित रखते हुए, शरीरका लक्ष्यानुकूल उपयोग करना ही सच्चा स्वास्थ्य कहा जा सकता है, हम स्वास्थ्य शरीरका धर्म कैसे मानें? शरीरका तो स्वरूप ही अस्थिरता है। शरीर वृद्धि, क्षय, जीवन और मरणके रूपमें परिवर्तित होता रहता है। इसके इन परिवर्तनोंको रोकना असंभव, अनावश्यक, लक्ष्यभ्रष्ट करनेवाला है। इस दृष्टिसे विचारते-विचारते शरीरका कोई संबन्ध हाथ नहीं आता, इसलिये स्थिर रहनेवाले स्वास्थ्यके

साथ आत्मतत्वका स्वमें अर्थात् अपने निर्विकार रूपमें रहने लगना ही स्वास्थ्य है। मानते हैं कि देहके अपना काम करनेमें समर्थ रहनेकी अवस्थाको 'स्वास्थ्य' कहा जा सकता है। परन्तु विचारना तो यह है कि क्या देहका अपना कोई काम नहीं? देहका अपना क्या काम है? इसे समझनेके लिये इस बातको समझ लेना चाहिये कि देहके साथ हमारा क्या संबन्ध है? देह और देहस्वामी दोनों मिल कर हम नाम पाते हैं। हम लोग देह और देहस्वामी दोनोंके मेलको अपना आपा मानते हैं। हम किसी स्थानपर जाने या कोई कार्य करने की इच्छा करते समय स्थूल दृष्टिसे देहको ही जाते और देहको ही कोई काम करता पाते हैं, परन्तु दीखनेवाली सब बात सच नहीं होतीं। जलाशयके पास खड़े होनेपर हम अपना सिर नीचे और पैर ऊपर देखते हैं परन्तु हम इस दर्शनपर विश्वास नहीं करते। इसी प्रकार देहका कर्तृत्व-दर्शन विश्वसनीय नहीं है। विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस देहमें न तो कहीं आने-जानेकी शक्ति है और न इसमें कर्म करनेकी शक्ति है। इस देह का काम केवल इतना है कि यह अपने भीतर रहनेवाले देही (आत्मा) की आज्ञा पाला करे। इसकी परीक्षाके लिये आप मृत देहको देखिये कि क्या वह कहीं जा-आ या कुछ कर सकता है? नहीं वह न कहीं आ-जा सकता और न कुछ कर सकता है। इससे यह बात समझमें आई कि देह देहीसे स्वतन्त्र होकर कोई शक्ति नहीं है, इसके विपरीत इस देहमें रहनेवाली देही अपने आप एक स्वतन्त्र शक्ति है। वह चाहता है तो देहको किसी बाहरी काममें लगाता और नहीं चाहता तो देहको निश्चल रखकर चिन्तन आदि कार्योंमें लगा रहता है। देहमें वास करनेवाला चेतन आत्मा ही देही देह संचालक या देह-स्वामी है। देहमें इस चेतन आत्माके निवास करने तक इस देहसे किये जानेवाले समस्त काम देहके न कहे जाकर देहीके कहे जाते हैं। आत्माके इस देहको छोड़ देने पर इस देहका मूल्य मिट्टीसे भी गिर जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि इस देहके साथ हमारा साधन

और साधनाधिपतिका सम्बन्ध है। इसलिये आत्माका काम करते जाना ही इस देहका अपना काम सिद्ध होता है। यों आत्माके काम करनेमें समर्थ बने रहना ही दैहिक स्वास्थ्यकी अवस्था कही जा सकती है।

प्रश्न होता है कि फिर आत्माका काम क्या है? उत्तर यही है कि—आत्माका काम (या स्वभाव) अपने सत्य रूपमें स्थित रहनेकी कला सीख लेना या सत्यारूढ़ रहना है। आत्माने देहको इसी-लिये धारण किया है कि अशुभ चिन्तनोंको हटा-हटाकर सत्य रूपमें स्थित रहे और सत्यरूपमें स्थित रहनेका आनन्द भोगे। इस दृष्टिसे स्वास्थ्यकी रक्षा करनेका यही अभिप्राय ठहरता है कि मनुष्य अपने देहको सत्य पर आरूढ़ रहनेके अनुकूल बनाकर रखे। अपने चित्तकी वृत्तियोंको सत्यमें लगाये रखनेका उपाय मनमें शुभचिन्तनका पूरा-पूरा जगा कर रखना है। मैं पूर्ण अभ्रान्त, पवित्र तथा आनन्द-स्वरूप हूँ, ये शुद्ध भावनायें हैं। ये वे भाव-नायें हैं जो मानव-जीवनको ऊँचा उठाती उठाती उसे देव-कोटिमें पहुँचाती हैं। ये भावनायें मनुष्यको सदा ऊँचीसे ऊँची प्रेरणा देती और ऊँचेसे ऊंचा काम करनेको कहती रहती हैं। ये उसे नीचा काम छूने तक नहीं देतीं। नरको नारायण बनाना हँसी खेल नहीं है। परन्तु नरको नारायण बनाना इस शुद्ध भावनाके बायें हाथका खेल है। मनुष्यकी भावना ही उसकी स्थितिका मूल है। जो जैसी भावना रक्खेगा वह वैसा बनकर रहेगा। शब्दार्थका जो नित्य सम्बन्ध माना जाता है उसका भी रहस्य यही है कि जैसे शब्द होते हैं वैसा अर्थ बनकर रहता है। सब सबकुछ बन सकता है। भावनाके वैशारद्यसे सब सबकुछ बन सकता है। आवश्यकता शुद्ध भावनाका महत्व पहचानने और उसपर श्रद्धा रखने की है। अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। जो कर्म इन शुद्ध भावनाओंकी प्रेरणासे—इनसे प्रभावित होकर—किया जाता है, वही कर्म, मनुष्य जीवनमें, सत्यको प्रकट करने-

वाला हो जाता है। मनुष्यको यह जान रखना चाहिये कि सत्यका विवरण करनेवाले कुछ वाक्य स्मृतिपर चढ़ा लेनेसे सत्यकी सेवा या दर्शन नहीं होता, किन्तु, अपने जीवनमें सत्यको प्रकट करके रखनेसे ही सत्यकी सेवा या दर्शन होता है। अपने व्यावहारिक जीवनमें सत्यकी सेवा करनेपर ही आत्माको शान्ति मिलती है। व्यावहारिक जीवनमें सत्यकी सेवा न करनेपर आत्माकी विषय-व्याकुलता नहीं मिलती। सत्यकी सेवा करते रहनेसे ही सत्यमें ठहरना आता है और शान्ति मिलती है। मनुष्य जीवनका लक्ष्य इस शान्तिको पालनेसे ही पूरा होता है। इस रीतिसे विचार करनेपर मनका स्वस्थ रहना ठहरता है। मन स्वस्थ रहनेपर शरीर चाहे जैसा हट्टा-कट्टा होनेपर भी पागल मनके पीछे मारा-मारा फिरता है और स्वस्थ दीखनेपर भी अस्वस्थ बना रहता है। लक्ष्यहीन रहना ही मनकी अस्वस्थता है। परमात्माने मनुष्यको शान्तिमें निवास करनेके लिये किन्हीं बाह्य साधनों या किन्हीं बाह्य अवस्थाओंकी अनुकूलताके बन्धनमें बाँधकर नहीं रखा। उसने शान्तिमें निवास करनेके लिये मनुष्यको किसी भी पार्थिव (भौतिक) पदार्थके बन्धनमें फँसाकर उत्पन्न नहीं किया। बात यह है कि इस विश्वके सृजनहार स्वयं स्वतन्त्र हैं। वे ही कोशकार कृमिके समान इस मनुष्य देहको बनाते और वे ही इस देहमें आत्मारूपसे आकर बैठते हैं। मनुष्य भाग्यहीन प्राणी नहीं है यह अमृतका पुत्र है। यह ईश्वरका उत्तराधिकारी है। वे स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान् ईश्वर ही मनुष्यकी आत्मशक्ति हैं। परन्तु मूढ मनुष्य अपनी अशुभ भावनाओंके कारण, इस आत्मशक्तिसे काम लेनेकी कला नहीं जान पाया। वह आत्मशक्तिसे अपना सम्बन्ध तोड़ बैठा है और जीवन भर पछता रहा है। मनुष्यका जीवन अपनी इस आत्मशक्तिको समझ लेनेपर ही सफल होता है नहीं तो उसे जीवन भर झींकना, पछताना तथा रीते हाथों जाना पड़ता है। यह आत्मशक्ति शरीरमें न रहकर मनुष्यके मनमें

विराजती रहती है। देह नहीं किन्तु मनुष्यका मन ही उसकी समस्त शक्तियोंका केन्द्र है। मनुष्यका मन स्वतन्त्र है। यह स्वतंत्र ही रहना चाहता है। इसे स्वतंत्रतामें ही शान्ति पड़ती है। विषयोंकी पराधीनतामें इसकी शांति जाती रहती है। स्वतंत्र मनकी शांतिको अटूट बनाये रखनेके लिये उसे मिला हुआ एकसाधन है। इस देहको मनकी शांति न टूटने देने वाले कामोंमें लगाने पर ही इस देहका सर्वोत्तम उपयोग होता है। संसारमें लोग केवल दैहिक स्वास्थ्य पर ध्यान देते और इस कामके लिये खाना-पीना व्यायाम आदि नाना उपाय करते हैं। दुश्चिन्तनाओंकी आँधीमें फँसा हुआ देह, देखनेमें चाहे जितना सुडौल, सुन्दर और स्वस्थ प्रतीत होने पर भी शरीरको सुडौल बनानेका प्रयत्न करते हैं। वे देहको किसी भी दुश्चिन्तामें झोक देते हैं। वास्तवमें व्याधिग्रस्त और स्वस्थ होता है। वह अस्वस्थ इसलिये होता है कि उसका उपयोग शुभ कार्यमें नहीं हो सकता। ऊपर सिद्ध किया जा चुका है कि देहके स्वास्थ्यका संबन्ध मनके स्वाथ्यसे है। देहका स्वास्थ्य पौष्टिक भोजनों पर निर्भर नहीं है। वह तो मनकी स्वस्थता पर निर्भर है। मन स्वतंत्र अस्तित्व है। देह स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। हमें सब कुछ मनके लिये करना है। हमें देहके लिये स्वतंत्र रूपसे कुछ नहीं करना है। हम देहके नाम पर जो कुछ करते दीखते हैं वह भी मनके ही लिये होता है। क्योंकि मन स्वतंत्र सत्ताधारी है। देह तो आनुषङ्गिक अस्तित्व रखता है। इसलिये उसे जीवनमें पहलवानोंवाली मुख्यता नहीं दी जा सकती। हमें महत्ताका केन्द्र तो मनको ही रखना पड़ेगा। देहके स्वास्थ्यको पौष्टिक भोजन आदि किसी भौतिक पदार्थ या किसी विशेष परिस्थितिके ऊपर निर्भर मान बैठनेका अभिप्राय स्वतंत्र मनसे स्वतंत्रता छीन लेना और उसे बन्दी बनाकर उसे देहरूपी जड़वस्तुसे बाँध डालना तथा देहको स्वतंत्र अस्तित्व मान लेना होगा। सोचिये तो सही कि यह कैसी निकृष्ट स्थिति होगी। यह वस्तुस्थितिके कितनी विपरीत पैर ऊपर सिर नीचेवाली स्थिति

होगी। इसलिये इसी परिणाम पर पहुँचना पड़ता है कि स्वस्थता अकेले शरीरका धर्म नहीं है। स्वस्थता शुद्ध मनके अनुगामी रह सकनेवाले शरीरका धर्म है। इसलिये शारीरिक स्वास्थ्य-कामीको मानसिक स्वास्थ्य-रक्षा पर दत्तचित्त होना चाहिये।

मूर्ख लोग इस स्थूल देहको अनात्मा स्थूल वस्तु बटोरनेमें लगा सकते हैं। परन्तु स्थूल देहकी शक्ति परिमित होनेके कारण उससे स्थूलपदार्थोंकी परिमित ही प्राप्ति हो सकती है। मूर्ख मनके सीमा-रहित भोग्य वस्तुओंकी कामना कर बैठने पर यह अल्पशक्ति दीन-देह उसकी कामनाको पूरा करनेमें असमर्थ रह जाता है। मनकी असीम कामनायें इस स्थूल देहसे पूरी होनी असंभव परिश्रम है। यह छोटा-सा देह, मनकी भोगवासनाओंको तृप्त करनेमें सदा ही असमर्थ रहता है। यह दीन देह तो भोग वासनाओंमें अतृप्तिकी सूई चुभाता रह सकता है। सत्यारूढ मनमें भोग-वासनाओंको स्थान नहीं मिलता। सत्यारूढ मनको भोगोंकी इच्छा ही नहीं होती। वह सत्यसे तुन्दिल (छका) रहता है। भोगवासनाका मार्ग असीम तथा अवशीकरणीय है। मन, देहको भोगवासनाके असीम तथा असंभव मार्गमें तभी लगाना चाहता है जब वह स्वयं सत्यसे च्युत होता है। देहका यह काम कभी नहीं है कि वह सत्यसे भ्रष्ट मनकी इच्छा पूरा करता फिरे। मनकी स्वाभाविक अवस्था यही है कि वह सदा सत्य आत्म स्वरूपपर आरूढ रहे। मनुष्यदेह धारण करनेका इतनाही अभि-प्राय है कि मनुष्य अपने देहको मनकी स्वाभाविक अवस्थामें जमे रहनेके साधनके रूपमें प्रयोगमें लावे। देह धारण योग्य पदार्थ पानामात्र सत्यारूढ मनकी सांसारिक आवश्यकता होती है। सत्या-रूढ मनके लिये यह आवश्यक है कि वह सांसारिक पदार्थोंकी आवश्यकताको केवल देहधारण करनेमें सीमित रखे और उसे इस सीमासे अधिक न फैलने दे। न प्रसज्जेत विस्तरे। इस परिमित प्रयत्नमें देहको लगाना असंभव प्रयत्न नहीं होता। इस परिमित काम में लगा हुआ देह भोगका साधन न रहकर सत्यमें स्थित रहनेका

साधन होता है। इस परिमित प्रयत्नको ही शरीरका सत्यानुमोदित उपयोग कहा जा सकता है। सत्यमें स्थित रहनेमें देहका उपयोग करनेपर मनुष्यको स्वयमेव विदेह अवस्था प्राप्त हो जाती है। देहका सत्यपर आरूढ रहनेमें उपयोग होने लगना ही विदेह अवस्था है। इस अवस्थाके आजानेपर यह देह मनकी चिन्ताका विषय नहीं रहता तब चिन्ताका विषय असीम आत्मा हो जाता है।

सत्यको प्रकट करनेका काम मानवजीवनका सबसे ऊँचा काम है। इस काममें जुट पड़नेपर देहकी रक्षाके उपयोगी साधन सत्यानुकूल कर्मोंके द्वारा, प्रकट होनेवाले सत्यकी ही अचिन्त्य शक्तिसे, स्वभावसे प्राप्त होते रहते हैं। विवेकशील मनुष्यके सत्यानुमोदित प्रयत्नोंके द्वारा, देहरक्षार्थ अनायास मिल जानेवाले उपकरणोंको ही देहरक्षा या स्वास्थ्य रक्षाके लिये आवश्यक मानना चाहिये। यदि हम अपने देह या स्वास्थ्यको अनायास सत्यानुमोदित प्रयत्नोंसे न मिल सकनेवाली किसी विशेष वस्तु या किसी विशेष अवस्थाकी अनुकूलतापर निर्भर कर देंगे तो हमें प्रभुको दास बना देना पड़ेगा। अर्थात् मनरूपी प्रभुको देहरूपी दासका दास अर्थात् देहका अनुगामी या पिछलगू बना देना पड़ेगा। परिणाम यह होगा कि देहको सत्यसे विहीन झूठे, पापी, वंचक, अपहरण-परायण तथा लूटखसोटके कामोंमें लगा देना पड़ेगा। सोचिये तो सही कि यह अवस्था मानव जीवनकी कितनी निकृष्ट अवस्था होगी। यह अवस्था जीवनके लक्ष्यसे सर्वथा विरुद्ध अवस्था होगी। इन सब दृष्टियोंसे यह सिद्धान्त मान लेना पड़ता है कि देहको सदा सत्यारूढ मनका अनुगामी बनाकर रखना ही स्वास्थ्यकी रक्षा करना है। देहको सत्यकी सेवामें समर्पितकर देनेपर जीवनका नेतृत्व सत्यनारायणके सर्वशक्तिमान हाथोंमें चला जाता है। तब सत्यारूढ मनको सत्यारूढ रहनेका पूरा अवकाश मिल जाता है और वह देहको अपनानेका अज्ञानावस्थावाला काम त्याग देता है। ज्योंही मनको संसार चिन्तासे अवकाश मिलता है त्योंही वह विदेह अवस्थामें जा पहुँचता है। तब देहकी रक्षाका

अधिकार सर्वशक्तिमान सत्यके हाथमें होता है। तब अपने सेवकको सेवा करनेके योग्य बनाये रखनेका बोझा सत्यके ऊपर जा पड़ता है। परन्तु यह सब सत्यपर विश्वास हुए बिना नहीं होता। विश्वास इस पथका सबसे आवश्यक अंग है। सत्यपर इस प्रकारका पूरा विश्वास हो जानेपर ही ऐसा समर्पण होता है। देह अपनी कुछ आयु लेकर आता है, वह सदा रहनेको नहीं आता। वह बाल्य, यौवन, प्रौढ, वार्धक्य तथा मृत्युमार्गका यात्री बनकर आता और चला जाता है, जब तक सत्यको इस देहसे सेवा लेनी होती है तब तक वह इसको रखता है। तथा इसकी रक्षाकी चिन्ता मनके बसकी बात नहीं रहती। तब मनमें देह-चिन्ताकी मनोवृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती। तब वह उन्मुक्त हस्तपाद होकर सदाके लिये सत्य सागरमें कूद पड़ता है। फिर उसे देह चिन्ताके स्थानपर शुद्धमनकी चिन्तामें ही आनन्द आने लगता है। सत्यकी चिन्तामें डूबा रहनेवाला क्या कभी सत्यस्वरूपसे च्युत होकर, असत्यमें संलग्न होना चाहेगा? तब मनमें ऐसी चिन्ता पैदा होती ही नहीं कि अमुक समयपर, अमुक वस्तु मेरे देह धारणके लिये अत्यावश्यक है। तब मनका एकमात्र काम केवल सत्यानुमोदित प्रयत्न करते रहना और देहकी रक्षाके नियम पालन करते रहना रह जाता है। सत्यारूढ मनके पास यही काम रह जाता है कि शरीरकी रक्षाके लिये विधाताके दिये हुए हाथ, पैर, सुबुद्धि तथा शुभचिन्तन नामके साधनोंको सत्यकी सेवाका अनुगामी रखकर ही भोजन आदि ग्रहण करनेका उद्योग करे। सत्य सेवासे अलग समय निकालकर भोजनोद्योग करना सत्यारूढ मनका स्वभाव नहीं रहता। तब भोजनादि क्रियाके द्वारा शरीरकी रक्षा करना भी, सत्यके हाथमें सौंपे हुये मनसेकी जानेवाली सत्यकी सेवाके ही अंतर्गत हो जाता है।

जब कभी तुम्हें यह प्रतीत हो कि देहकी रक्षाके लिए अमुक वस्तु या अमुक अवस्थाकी अत्यन्त आवश्यकता है, तब तुम समझ लो कि तुम्हारा मन भयंकर रोगी हो गया है। वह सत्यको भूल

गया है या सत्यसे च्युत हो गया है। इस प्रकारकी निःसार भावनायें देहको ही अपना आपा मान लेनेकी भ्रान्त बुद्धिके जाग उठने पर ही उठा करती हैं। देहको ही अपनी चिन्ताका मुख्य विषय बना लेना देहात्म-बोध, देहाध्यास या देहको अपना आपा मानना कहाता है। अपने वास्तविक सत्य स्वरूपको भुला डालना तथा अपने अवास्तविक स्वरूप देहको 'मैं' समझ लेना 'देहात्म-बोध' या अज्ञान कहाता है। अज्ञानका मुख्य अर्थ अपने आपको न समझना या अपने स्वरूपको न पहचाना है। देहको अपना या आपा मान बैठना मनुष्य-बुद्धिका महा अज्ञान और महा अपमान है। जो वस्तु जिसकी चिन्ताका मुख्य विषय होती है, वही उसका लक्ष्य होती है। यदि सत्य ही मनुष्यजीवनका लक्ष्य है तो वही हमारी चिन्ताका मुख्य विषय हो सकता है। यदि सत्य हमारे जीवनका लक्ष्य है तो यह देह हमारी चिन्ताका मुख्य विषय कैसे हो सकता है? इसलिये किसी भी विवेकीको शरीर पोषणार्थी होनेकी अनुमति नहीं दी जा सकती। शरीर पोषणार्थी होकर देहको देह धारण करनेके साधनों को संग्रह करनेकी भावनासे उपार्जनमें लग जाने देना भी वही बात है, तथा देहको चिन्ताका विषय बन जाने देना भी वही बात है। जीविकोपार्जन जीवनका लक्ष्य नहीं है। जीविकोपार्जनको ही जीवन का लक्ष्य बन जाने देने पर यह अनात्मा देह ही हमारे दैनिक जीवन में हमारी चिन्ताका मुख्य विषय बन जायगा और फिर हमें अपना आचरण भी देहानुसारही बना लेना पड़ेगा। उपार्जन वृत्तिमें देहानुकूल चलनेकी मनोवृत्तिका आ जाना अत्यन्त स्वाभाविक है। जो मनुष्य मुख्यरूपमें अपने जीविकोपार्जनमें लग रहा है उसमें सेवा करनेकी भावना नहीं आ सकती। वह सेवा करनेकी इच्छा उपार्जन साधनोंसे देह रक्षा कर चुकनेके पश्चात् सामर्थ्य बच रहनेपर ही कर सकता है। परन्तु मनोविज्ञानकी दृष्टिमें ऐसी मनोवृत्ति असम्भव है। इससे इसी परिणाम पर पहुँचा जाता है कि उपार्जन वृत्ति स्वीकार करलेनेवाला मनुष्य, देहको कभी सत्यका अनुगामी नहीं रख

सकता। वह तो संभव होतो सत्य कोही देहका अनुगामी बना लेना चाहता है। वह सत्यसे भी अपने देहकी सेवा करा लेना चाहता है। इसका यही अभिप्राय हुआ कि वह सम्भव तथा आवश्यक प्रतीत होने पर देहके ही किसी प्रकारके लाभके लिये सत्यकी सेवा करनेको उद्यत हो सकता है। अवकाश मिलनेपर ही सत्यकी सेवा करनेवाला मनुष्य देहको सत्यसेवामें कभी नियुक्त नहीं कर सकता। इन सब स्थितियोंको देखते हुए इसी परिणामपर पहुँचा जाता है कि मनुष्यको ननुनच करनी त्यागकर सत्यको ही जीवनका लक्ष्य मान लेना चाहिये और देहको ही सत्यका अनुगामी बनाकर रखना चाहिये तथा इस बातपर दृढ होकर, इसीको स्वास्थ्य-रक्षाका सिद्धान्त बना लेना चाहिये, और इसी सिद्धान्तके अनुसार अपने दैनिक जीवनको प्राकृतिक नियमोंके अनुकूल बनाकर निम्नलिखित निश्चित दिनचर्याका पालन करते हुए शरीररक्षा करनी चाहिये। अपनी सुविधाके अनुसार इसमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन किया जा सकता है।

प्रातःकाल सूर्यका उदय होनेसे दो घण्टे पहले बिस्तर छोड़ देना चाहिये। ईश्वर-प्रार्थना करनी चाहिये। फिर चित्तको दिनभर प्रत्येक क्षण परमार्थ विचारोंमें लगाये रखकर ही, शौच, स्नान, गृहशुद्धि आदि करनी चाहिये। सत्यानुमोदित तथा शारीरिक परिश्रमसे साध्य कर्म नियमित रूपसे करने चाहियें। सत्यानुमोदित प्रयत्नसे मिला हुआ भोजन करना चाहिए। परिमित निर्मल और खद्दरके वस्त्र होने चाहियें। यह ध्यान रखना चाहिये कि शरीर अच्छे कपड़े पहनने, श्रीमानोंके घोड़ोंके समान सजाने, मनोहर कपड़ों या केशपाशविन्यासकी प्रदर्शनी करनेके लिये नहीं मिला है। अपने शरीरको अच्छे कपड़ों या छिफालबद्ध अलकावलिके दिखावेका साधन नहीं बना देना चाहिये। किन्तु शरीर रक्षाके लिये स्वच्छ, उजले, सीधे-सादे, देशकी जलवायु, शुद्धभावना और स्वाभिमानके अनुकूल तथा स्वास्थ्य बढ़ानेवाले वस्त्र ही उपयोगमें लाने चाहियें। शरीरको नियमित रूपसे विश्राम देना चाहिये।

इन नियमोंका पालन करना ही स्वास्थ्यकी रक्षा करना है।

स्वजनोंसे कैसे बरतें ?

जो जिसकी कल्याणकामना करता है वही उसका 'स्वजन' है। मनुष्य जन्म ग्रहण करते ही माता-पिताकी गोदमें आश्रय पाता है। माता-पिता मनुष्यके जन्मजात 'स्वजन' हैं। माता-पिताके साथ स्वाभाविक रूपसे कल्याण करनेके सम्बन्धसे जुड़े हुए अन्य कुटुम्बी भी मनुष्यके सहज 'स्वजन' समझे जाते हैं। बहन, भाई, चचा, ताऊ, दादा, दादी, मामा, मामी, नाना, नानी आदि सब मनुष्यके 'स्वजन' कहाते हैं। बड़ी अवस्था आनेपर ज्ञानदाता गुरु, सहपाठी, खेलनेके साथी और हृदयसे सद्भाव रखनेवाले मित्रोंके साथ कल्याणका सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ये सब कृत्रिम अर्थात् 'निर्मित स्वजन' कहाते हैं। इन दोनों प्रकार के स्वजनोंके प्रति मनुष्यका कुछ न कुछ कर्तव्य रहता है। मनुष्यको कल्याणरूपी परमात्माकी अनन्त विराट् कल्याणमूर्तिका दर्शन सीधा न मिलकर इन अपने स्वजनोंके रूपमें या इनके मिषसे ही मिला करता है । मनुष्यके ये उभयविध 'स्वजन' उस कल्याण-मूर्ति अनन्त परमात्माके ही रूप होते हैं। यदि मनुष्य इन उभयविध 'स्वजनों' की समुचित सेवा करे तो उसे कल्याणमय परमात्माकी सेवाका सौभाग्य मिल जाता है। इन स्वजनोंके साथ केवल सत्यका सम्बन्ध रखनेसे ही उनकी सच्ची सेवा हो जाती है। मनुष्यका दैनिक जीवनके प्रत्येक काममें स्वजनोंके साथ सम्बन्ध जुडा रहता है। मनुष्यका दैनिक जीवन स्वजनोंका उचित सहयोग मिलनेपर ही कुशलताके साथ बीतता है। मनुष्यका दैनिक जीवन स्वजनोंके उचित सहयोगसे होनेवाले व्यवहारोंसे मिलकर बनता है। यह सह-योगका सम्बन्ध पारस्परिक होता है। यह सहयोग सत्यमूलक भी हो सकता है और असत्यमूलक भी हो सकता है। अपने और

'स्वजनों' के पारस्परिक सहयोगको सत्यके बन्धनमें बाँध रखने या सत्यमूलक रखनेसे मनुष्यका जीवन निर्मल सुखका भण्डार बन जाता है। यदि अपने तथा स्वजनोंके पारस्परिक सहयोगमें थोड़ा-सा भी स्वार्थ प्रविष्ट हो जाय या वह सहयोग असत्यमूलक हो जाय तो जीवन अपवित्र और दुःखमय बने बिना नहीं बचता।

माता-पिता सन्तानका लालन-पालन करते हैं। माता-पिता सन्तानके, प्राकृतिक व्यवस्थाके नियुक्त किये हुए, अभिभावक हैं। उनके इस सन्तानपालनका यही अभिप्राय है और होना चाहिये कि वे सन्तान को स्वभावसे मिले मनुष्यत्वको उज्वल करके प्रकट करनेका अवसर दें। संतानको केवल इतनी सहायता दी जानी चाहिये कि वह अपनेमें मनुष्यत्वका पूरा पूरा विकास कर सके। सन्तानका देह और सन्तानका मन दोनों विधाताके हाथों-से माता-पिताकी गोदमें दी हुई धरोहर है। माता-पिता लोग समझ रखें कि सन्तान उनकी सम्पत्ति या जागीर नहीं है। सन्तानको अपनी सम्पत्ति समझना माता-पिताकी भयंकरतम परि-णाम लानेवाली, दोनोंके जीवनोंका सर्वनाशकर डालानेवाली भूल है। विधाता बाल देह और बालमनकी रक्षा करवानेके लिये माता-पिताको अपना प्रतिनिधि बना लेते हैं। इसलिये माता-पिता लोग अपने मनमें सन्तानके स्वामीपनकी भावना न आने दें। वे अपने प्रतिनिधित्वको सतत स्मृति पर चढाये रहें; और इस प्रतिनिधित्वके कारण आये उत्तरदायित्वको पूर्ण करनेमें दत्तचित्त रहें। माता-पिता का यह भगवद्दत्त प्रतिनिधित्व अनन्तकाल तकके लिये नहीं है किन्तु अपने हाथमें सौंपी हुई सन्तान रूपी धरोहरको, सन्तानके ही क्या, संसारभरके सच्चे स्वामी सत्यरूपी विधाताकी शरणमें लौट सकने योग्य बना देने और उसको सत्यके आधारसे रहना सिखा देने तकके लिये है यह स्थिति आ जानेके पश्चात् माता-पिताका प्रतिनिधित्व समाप्त हो जाता है। माता-पिताके सन्तान-पालन धर्मका अभिप्राय यही है कि वे अपनी सन्तानको उसके सच्चे माता-पिता-माता-पिता-

के भी माता-पिता—सत्यसे परिचित भी करा दें और उसे उनहींके हाथोंमें सौंप भी दें। जब माता-पिता अपने किसी सन्तानको परमात्मा के हाथमें सौंपते हैं तब वह सन्तान सत्यके हाथमें आत्मसमर्पण कर देती है। उस अवसरपर सन्तानका सत्यके साथ विवाह हो जाता है। तब वह अपने सत्यरूपी स्वामीका सेवक बन जाता है। माता-पिता लोग आँखें खोलें और समझें कि उनका एकमात्र यही कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तानको सत्यका सेवक बना दें। अपनी सन्तानको सत्यका सेवक बनाते ही माता-पिताका कर्तव्य समाप्त या पूर्ण हो जाता है। माता-पिताका कर्तव्य समाप्त होनेके इस पवित्र अवसर पर कोई किसीका माता-पिता या कोई किसी की पार्थिव सन्तान होनेके मिथ्या सम्बन्धको मानने वाला शेष नहीं रहता। अपनी; सन्तानको मोहके बन्धनमें फँसाये रखना उसे स्वार्थका दास बना देना, उसे स्वार्थी जीवन बितानेवाला बना देना, या उसे स्वार्थी जीवनके कौशल सिखा देना माता-पिताका कर्तव्य नहीं है। सन्तानका यह कर्तव्य है कि वह अपने माता-पिताको सान्त और साकार परमात्मा समझकर उनकी सेवा करे और इस सेवासे अनन्त और विराट सत्यकी सेवा करना सीखे। सन्तान इस सेवाकी कला इसलिये सीखे कि सत्यरूपी प्रभुसे मिल जाना ही मनुष्यके जीवनकी सबसे ऊँची अवस्था है। सत्य अजर और अमर है। सन्तानका इस अजर और अमरके साथ विवाह-बन्धन स्थापित कर देनेपर फिर वह कभी नहीं टूटता। यदि माता-पिता चक्षुष्मान हैं तो उनका एकमात्र यही कर्तव्य है कि वह अपनी संतानको इस परमात्मारूपी प्यारेके साथ विवाह बन्धनमें बाँध दें।

सन्तानके पातित्यसे बचनेके योग्य बनते ही माता-पिताका प्रतिनिधित्व पूर्ण हो जाता है। माता-पिताके हृदयमें सन्तानपालन धर्मको पूरा करनेके लिये जो स्वाभाविक स्नेह ;पाया जाता है वह अज्ञानी स्नेह माता-पिताको बड़ा धोका देता है। माता-पिता लोग उस

स्नेहको अपना मान बैठते हैं और उससे अपनेको तथा सन्तानको दुर्दान्तमोह पाशमें जकड़ देते हैं। उन्हें जानना चाहिये कि वह स्नेह उनका स्नेह नहीं है। वह उनके पास परमात्माकी वह धरोहर या परमात्माका वह उधार है जो उसे शीघ्रसे शीघ्र लौटा देना है, जो उसने माता-पिता बननेवाले कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि प्रत्येक प्राणीको दे रक्खा है। वह स्नेह परमात्माकी देन है। माता-पिताका यह कर्तव्य नहीं है वह उस स्नेहको अपना स्नेह माननेकी भूल करें। सन्तानको अपने मोहमें जकड़ डालें। परमात्मा माता-पिताके सन्तान पालन करनेके कर्तव्यके भीतर अपत्य स्नेहका रूप लेकर प्रकट होते हैं और सन्तानको पुष्ट करते रहते हैं। मातृत्व तथा पितृत्वका अभिमान भोगनेवाले आँखें खोलें कि सन्तानको माता-पिता नहीं पालते किन्तु स्वयं परमात्मा ही पालते हैं। इसलिये सन्तानके दोनों प्रकारके स्वजनोंसे सम्बन्ध रखनेवाले समस्त कर्तव्य परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाले होने चाहियें। सन्तानको भी यह जानना चाहिये कि माता पिता ईश्वरके प्रतिनिधि होकर हमारा पालन करते हैं, इसलिये किसी पथभ्रष्ट माता-पिताकी किसी भूलमें साझी नहीं बनना चाहिये। उन्हें ईश्वरके प्रतिनिधिकी जितनी और जिस ढंगकी सेवा की जानी चाहिये, उतनी ही सेवा माता-पिताकी करनी चाहिये। किसीको भी किसीकी एक दूसरेको एक दूसरेकी मोह-ममतामें जकड़नेवाली परिचर्या नहीं करनी चाहिये। सन्तान को समझना चाहिये कि हमारा पूजनीय एकमात्र परमात्मा है। हम माता-पिताके निष्ठासे परमात्माको ही पूज रहे हैं।

सन्तानको पालनेवाले इस परमात्माकी पूजा मनुष्यताका लाभ कर लेनेपर ही की जा सकती है। माता-पिताकी न्यायानुमोदित आशा भी यही हो सकती है और उसको इतना ही अधिकार भी है कि वे अपनी सन्तानको मनुष्यत्वपर आरूढ हुआ देखें और गद्गद हो जायँ। सन्तान माता-पिताके इस सन्तान-पालन धर्मका उपयुक्त बदला यही दे सकती है कि वह अपने माता-पिताकी अपनी सन्तान-

को मनुष्यत्वपर आरूढ देखनेकी इस आशाको अपनेमें पूरा करके दिखा दें। यदि कोई सन्तान माता-पिताको इससे बढकर कुछ बदला देना चाहती है और माता-पिता अपनी सन्तान से इससे बढकर कुछ बदला लेना चाहते हैं तो वह उन दोनों की धृष्टता है। कारण ऊपर कहा जा चुका है कि—सन्तान माता-पिताकी नहीं है, किन्तु परमात्माकी धरोहर है। किसी भी सन्तान को और किसी भी माता-पिताको ऐसी धृष्टताको स्वप्नमें भी अपने हृदयमें स्थान नहीं देना चाहिये। दूसरे किसी भी उपायसे माता-पिताकी सेवा करके उनको सुखी रखनेकी इच्छा या प्रयत्न करनेसे उनसे सन्तानका स्वभावसे जुड़ा हुआ सम्बन्ध लज्जित, खंडित और अपमानित हो जाता है तथा ऐसा करनेसे सन्तान मनुष्यत्वसे हीन सिद्ध हो जाती है। स्वजनोंको अपने मोह जालमें जकड़ डालनेसे स्वजनोंकी कोई सेवा नहीं होती। स्वजनोंकी सेवा स्वजनोंकी नहीं है किन्तु परमात्माकी या सत्यकी ही सेवा है। स्वजन सेवा विराट परमात्माकी महती सेवाको प्राप्त करनेका एक छोटा सा द्वार है।

परमात्मा या सत्यकी सेवा कैसे की जाती है यही ज्ञानदाता गुरुओंसे सीख लेनेकी बात है। अपने सहपाठियों और साथियोंको इसी लक्ष्य पर देखनेकी इच्छासे उनकी सेवा करनी चाहिये। अपने साथियोंके साथ इसी सेवा रूपी सत्यके बन्धनमें रहकर अमृतका स्वाद लेते हुए जीवन बिताना चाहिये। परमात्मा या सत्यकी सेवामें लगे रहना ही मनुष्य जीवन धारण करके सर्वश्रेष्ठ परमार्थरूपी अमृत का स्वाद लेना है। इस सेवानिष्ठामें लगे रहनेपर यदि किसी घटना-वश हमारे स्वजन हमसे रुष्ट हो जायँ और हमें उनसे विच्छिन्न हो जाना पड़े तो भी स्वजनसेवाके रूपमें आई हुई सत्यकी सेवा खण्डित नहीं होती। सत्यसेवाके नाम पर स्वजनोंसे रुष्ट हो जानेकी घटनाओं से जीवनमें सत्यकी उज्ज्वलता अधिक गौरवके साथ प्रगट होती है। इसलिये मनुष्यको स्वजनोंसे इस शरीरका विच्छेद हो जानेके डरसे, या उनकी सहायतासे पूरे होनेवाले किसी स्वार्थ या स्नेहसे वंचित

हो जानेके भयसे, सत्यकी सेवा नहीं छोड़नी चाहिये। सत्यकी सेवा न छोड़ना ही स्वजनोंकी सच्ची सेवा है और सत्यकी सेवा न छोड़ना ही स्वजनोंसे बर्ताव करनेकी उत्तमसे उत्तम शैली है। "हम भी परमात्मा के हैं। और हमारे स्वजन भी परमात्मा के हैं। हम दोनोंका सीधा सम्बन्ध परमात्मासे है। हम दोनोंका परस्पर सीधा कोई संबंध नहीं है। हम दोनोंका परस्पर सम्बन्ध परमात्माके द्वारा ही हुआ है। ईश्वरने किसी समुद्रमें अलग अलग बहते बहते अचानक मिल गये हुए दो काष्ठोंके समान हमें और हमारे स्वजनोंको परस्पर मिला दिया है।" इस विचारको जगाये रखकर बर्ताव करनेसे ही परमार्थके दर्शन मिलते और कृतार्थता मिलती है। मनुष्य इस रहस्यको भूलते ही स्वजनोंसे बर्तावका सीधा मार्ग भूल जाता है और अपनेको जीवन भर जहाँ तहाँ मोह-ममताकी रस्सियोंमें बाँधता रहता है। स्वजनोंको परमार्थसे कभी पृथक् न होने देनेवाला परमार्थ मिलनका ईश्वरप्रदत्त साधन समझकर, उनके साथ स्वार्थके बाहर रहकर कर्तव्यका संबंध रखते हुए सदा निर्मल और पवित्र बर्ताव करना चाहिये। यही स्वजनोंसे व्यवहारकी सर्वोत्तम पद्धति है।

पड़ौसी के साथ

एक ग्रामके रहने वाले आपसमें 'पड़ौसी' कहाते हैं। मनुष्यका अपने पासवाले घरके मनुष्यके साथ जो सम्बन्ध है, वही ग्राम परि-सीमामें रहनेवाले प्रत्येक मनुष्यके साथ है। सब एक ही ग्राम परि-वारके पारिवारिक हैं। एक परिवारके लोगोंका आपसमें जिस मधुर कल्याणकारी संबन्धमें रहना उचित और स्वाभाविक है, ग्रामके प्रत्येक परिवारको एक दूसरेके साथ उसी घनिष्ट, मधुर, कल्याणकारी संबन्धमें बँधा रहना चाहिये। मनुष्य इस बातको समझे या न समझे-वह इसे माने या न माने प्रत्येक मनुष्यको अपने ग्रामवासीकी भलाई-बुराई, सुख-दुःख और हानि-लाभका किसी न किसी रूपमें भागी होना ही पड़ता है। जैसे एक परिवारके लोग अपने समझे जाते हैं, वैसे ही एक ग्रामके पृथक्-पृथक् परिवारोंके लोग भी अपने समझे जाने चाहियें। तात्पर्य यह है कि अपनेपनको संकुचित नहीं करना चाहिये; किन्तु उसे विश्वभरपर लागू करना चाहिये।

यदि इन प्रश्नोंका ठीक ठीक उत्तर ढूँढने लगेंगे कि कुछ पृथक्-पृथक् परिवार एक छोटेसे भूखण्डमें इस प्रकार समाज बनाकर क्यों रहने लगे? ये सब इस प्रकार इकट्ठे क्यों हुए? ये सब इस प्रकार स्वाभाविक सूत्रमें स्वेच्छासे क्यों बँधे? तो इन्हें इकट्ठा करनेवाला, इन्हें एक साथ बसानेवाला, इन्हें एक प्रेमसूत्रमें बाँधनेवाला, एक स्वाभाविक कल्याणकारी सम्बंध दीख पड़ेगा। ये सब एक ही भूखण्डसे उत्पन्न वस्त्र, अनाज, फल-फूल तथा शाक-पात आदिसे पुष्ट, तुष्ट और एक ही जलाशयका जलपान करके तृप्त होनेवाले लोग हैं। इन लोगोंने सम्पत्ति, विपत्ति, उत्सव और शोकमें एक दूसरेके सहा-यक रहकर जीवनधारण करनेमें अपनी निर्विघ्नता समझी है। ये एक दूसरेको अपना हितैषी समझते हैं। इनमेंसे प्रत्येक एक दूसरेको

हितकारी मार्गमें लगाये रखने और अनिष्ट मार्गसे बचाये रखनेकी शक्ति रखता है। इन लोगोंने, संगठन करके रहनेकी शक्तिके रूपमें एक विराट् सत्यके दर्शन किये हैं। इन सबने अपने प्रत्येक आचरणमें इस सत्यको एक ही रूपमें प्रकट करके, अपनेको एक ही प्रकारके रहन-सहनके दृढबन्धनमें बाँधकर, विराट् और अमर सत्यका अधिकारी बनाया है। ये सब लोग पड़ौसीके सुख-दुःख और हानि-लाभ में सम्मिलित हो होकर सबके साथ नित्य सम्बन्ध अनुभव करनेका अभ्यास कर रहे हैं। ये पड़ौसी-धर्मको पालकर 'हम भी इस विश्व ब्रह्माण्ड रूपी परिवारके परिजन हैं।' यह पाठ सीख रहे हैं तथा इसे पकानेके लिये इसकी आवृत्ति कर रहे हैं। यही कारण है कि इन्होंने एक साथ बसना स्वीकार किया है। जगज्जननी प्रकृति माताने ही इन सबको इकट्ठा किया है, इसी कारण ये सम्पत-विपत्में एक दूसरेका साथ छोड़ना नहीं चाहते। इनके पूर्वजोंके मनमें जिस दिन सबसे पहले ऐसी कल्याण-बुद्धि उत्पन्न हुई थी, जिस दिन इन्होंने सबसे पहले इस कल्याण-मार्गका अनुभव किया था, ये सब उसी दिन एक दूसरेके 'स्वजन' बन गये थे। तब इन सबने अच्छेद्य भ्रातृभावके बन्धनमें रहनेको ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ अवस्था समझकर इस मार्गको अपनाया था। इन्होंने एक दूसरेके निकटतम हार्दिक सम्पर्कमें रहकर प्रेमके बन्धनको अटूट बनाये रखनेको ही अमरता समझा था। उस दिन इन सबने आपसमें एक दूसरेके गुण-मुग्ध और प्रेम-मुग्ध होकर इस ग्राम-प्रणालीका आविष्कार किया था। तब प्रत्येकने यह समझ लिया था कि यदि मनुष्यको सुखसे जीवन बिताना हो तो समाजबद्ध (ग्रामबद्ध) होकर रहनेसे अच्छी कोई अवस्था नहीं हो सकती। तब सबने समाजके साथ रहनेमें ही परमार्थका पता पाया था। इन्होंने इस समाजको ही मानव-जीवनका श्रेष्ठ सार और सत्संग प्राप्त करनेका द्वार समझकर ग्रहण किया था। जिस दिन ग्राम्य-समाजमें ये भावनायें थीं उस दिन समाज साधु-समाज था। उस दिन समाजका प्रत्येक मनुष्य सन्त था। तब किसी

स्वार्थी नहीं कर डालता। स्वार्थी मनुष्य अपने सुखके लिए समाजका अकल्याण करनेवाले सब प्रकारके पाप करने लगता है और समाजके बन्धनसे अलग होकर रहता है। वह अकेला ही सब सुख-भोगोंको भोग लेना चाहता है। स्वार्थी अपने समाजको केवल अपने स्वार्थ-साधनका क्षेत्र समझता है। जैसे भेड़िया भेड़-बकरीके बच्चोंके पास इसलिये रहना चाहता है, कि वहाँ उसके आखेटका उपयुक्त क्षेत्र है; इसी प्रकार स्वार्थी-समाजमें केवल आखेटके लिये रहना चाहता है। स्वार्थी अपने पड़ौसके लोगोंको हानि पहुँचा कर भी स्वयं लाभवान होना चाहता है। स्वार्थ ही मनुष्य समाजका भेड़िया है। यह भेड़िया गाँवके घर-घरमें अपना आखेट टटोलता फिरा करता है। उसकी आँखोंके सामने गाँवके किसी भी घरमें भाई-बहन, माता-पिता या स्वजन-बान्धव नहीं होते। गाँवके सब ही घरोंमें उसके भोग्य, उसके वँचनीय, उसके वध्य और उसके आखेट भरे रहते हैं। जिस समाजमें जितने अधिक स्वार्थी होते हैं उसमें उतने ही अधिक एक दूसरेके व्याध रहते हैं। ऐसा समाज निर्बल न हो जाय तो क्या हो? ऐसे समाज पर ही चालाक, स्वार्थी विदेशी डाकू और लुटेरोंकी गृध्र-दृष्टि पडा करती है। ऐसा समाज बहुत शीघ्र डाकू और लुटेरोंका ग्रास, पराधीन और मनुष्यतासे हीन दास, बन जाता है। ऐसे समाजका समाज-बन्धन टूट जाता है और अन्तमें उसका ध्वंस हो जाता है। समाजका सर्वनाश करके छोडनेवाला यह भेडिया, सबसे पहले स्वार्थ-बुद्धिके रूपमें मनुष्यके मनमें पैदा होता है। यदि समाजके प्रत्येक व्यक्तिके मनमें कर्तव्य-बुद्धि जाग रही हो तो, इन भेडियोंके उत्पन्न होनेका अवसर नहीं रहता। मनुष्यमें स्वार्थ-बुद्धि आजानेपर अपनी कल्याणकारिणी शक्तियोंको संघबद्ध करके, सामाजिक जीवनमें शान्ति बनाये रखनेवाली कर्तव्य-बुद्धि मर जाती है। स्वार्थ बुद्धिके आजानेपर मनुष्यकी दृष्टिमेंसे सामाजिक कल्याण करनेकी भावनायें भाग जाती हैं। व्यक्तिगत भोगेच्छाओंके आधारसे होनेवाले लाभ ही स्वार्थियोंके एक मात्र लक्ष्य तथा जीवनाधार

होते हैं। स्वार्थी सदा संघशक्तिसे हीन अवस्थामें रहना चाहता है। ऐसे समाजके जीवित रहनेका समाजके लुटेरोंके हाथमें आत्मसमर्पणकर देनेके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रहता। इन्हें भोजन, वस्त्र आदि मिलते रहें, इनकी भोगेच्छा तृप्त होती रहें, और ये श्वास लेते रहें, ये लोग इतनेको ही जीवन समझते हैं कि इन लोगोंके जीवनकी यथार्थताको न समझनेका परिणाम यह होता है कि ये मनुष्योचित लक्ष्यसे हट जाते हैं। इन लोगोंमें संघबद्ध होकर रहनेकी अवस्थामें रहनेवाली आत्म-शासनकी स्वभाविक शक्तिके स्थानपर परतन्त्रता आजाती है। परतन्त्रताके साथ-साथ निर्भयताके स्थानमें भीरुता तथा आत्म-निर्भरताके स्थान पर परमुखापेक्षिता, स्वाधीनता के स्थान पर पराधीनता आ जाती है और आस्तिकताका स्थान नास्तिकता ले लेती है। मनुष्य अपनी सामाजिक और शासन सम्बन्धी व्यवस्थाको आत्म-शासनकी अवस्थामें ही अपने हाथोंमें रख पाता है। अपने हाथोंमें रक्खी हुई सामाजिक तथा शासन संबन्धी व्यवस्थाके काममें समाजद्वारा नियुक्त हुए प्रतिनिधि लोग जन-सेवकका काम किया करते हैं। समाजके परतन्त्र हो जानेपर समाजकी यह शक्ति समाजके लुटेरोंके हाथोंमें पहुँच जाती है। तब शक्तिका स्वाभाविक स्थान बदल जानेके कारण, समाजकी ही शक्तिसे, घमंडी, विलासी और अत्याचारी शासक-सम्प्रदायका लालन-पालन होने लगता है। यह शासक-सम्प्रदाय समाजमेंसे शासनके नामसे धनको लूटा करता है। वह उस लूटे हुए धनको समाजके हितके कामोंमें व्यय न करके उसे अपना ऐश्वर्य बढानेमें व्यय किया करता और अपने सुभीतेके लिए नगरोंकी रचना किया करता और उन्हें बढावा दिया करता है। वह नगरोंमें ही समाज-सुधारकी हलचलोंका दिखावा किया करता है। ऐसा शासक-सम्प्रदाय नगरोंको अपनी पैशाचिक लीलाभूमि बना लेता है। वह अपनी इस पैशाचिक लीलाको चालू रखनेके लिये ग्रामोंका शोषण करता है। वह ग्रामोंसे कर ले लेकर उसे नगरोंको सुन्दर-विस्तृत बनानेमें व्यय किया करता है। स्वार्थमें डूबे

रहनेके कारण निर्जीव ग्रामवासियोंके मनमें, इस अन्यायी शोषणके विरोध करनेका विचार तक नहीं आता। पड़ौसीके नाते प्रत्येक ग्रामवासीका यह पवित्र कर्तव्य है कि जिस कर्तव्यबुद्धिका अभाव होनेसे ग्रामोंकी यह बुरी अवस्था हो जाती और हो सकती है, अपने ग्राममें है, उस कर्तव्यबुद्धिको सोने न देकर जगाकर रक्खे और प्रत्येक ग्रामवासीसे प्रतिदिन किसी न किसी समय थोड़ी-बहुत ग्राम-सेवा कराया करे। समाजके कल्याणमें ही अपना कल्याण है, इस बातको ध्यानमें रखकर अपने दैनिक जीवनके काम करनेसे कर्तव्यबुद्धिकी पहचान होती है। समाजके कल्याणमें अपना कल्याण समझकर अपने दैनिक जीवनके काम करना ही मनुष्यता है। दैनिक जीवनके काम समाज कल्याणका ध्यान रखकर करना ही मनुष्यका परमार्थ है। परन्तु यह कल्याणकारिणी बुद्धि स्वार्थहीन पवित्र मनमें हो सकती है। समाजके कल्याणमें अपना कल्याण देखनेसे ही मनुष्यकी दृष्टि पवित्र और कल्याणकारिणी बनती है। समाज कल्याणमें अपना कल्याण देखनेपर ही ग्रामवासीको अपने पड़ौसीके प्रत्येक घरमें बहन, भाई, माता, पिता और स्वजन-बान्धव दीखने लगते हैं। समाजके कल्याणमें अपना कल्याण देखनेवालेका ग्रामोंमें कोई परजन नहीं रहता। इसलिये घर-घरमें स्वजनोंसे मिलकर उनकी सेवा करके कृतार्थ होते रहना पड़ौसीका कर्तव्य है। मनुष्य समाज पड़ौसी धर्मको पालनेसे ही सत्यके मधुर बन्धनमें बंधता है। पड़ौसी-धर्मका पालन ही सच्ची 'स्वतन्त्रता' है।

ग्राम ही मनुष्य-जीवन रूपी वृक्षपर मनुष्यता रूपी सर्वश्रेष्ठ अमृतमय फल उत्पन्न करनेवाला उपजाऊ क्षेत्र है। नगर मनुष्यता रूपी सर्वश्रेष्ठ अमृतमय फल उत्पन्न करनेके लिये ऊसर भूमि है। नगरोंकी रचनाके मूलमें निष्कंटक भोगाभिलाषा काम कर रही है। वे कुछ विकृत मस्तिष्क राजाओंकी पैशाचिक इच्छाओं की उपज है। नगर-समाजमें मनुष्यतारूपी फल लगना असंभव है। मनुष्यता

रूपी फल उत्पन्न करना तो ग्राम-पद्धतिका ही सौभाग्य है। ग्रामका प्रत्येक निवासी मनुष्यतारूपी फल उत्पन्न करने वाले समाज-रूपी इस खेतका किसान है। इस खेतमें प्रत्येक ग्रामवासीका समान अधिकार है। परन्तु आजका ग्रामवासी ग्राम रचनाकी इस महत्वपूर्ण स्थितिको भूल गया है। ग्रामवाले लोग जिस दिन इस सच्चाईको फिर पहचान जायेंगे उस दिन ग्रामके प्रत्येक परिवार सम्मिलित परिश्रम करके अन्न, वस्त्र, जल, फल, वासगृह, भूमि आदि मनुष्य-जीवन धारण करनेकी आवश्यक सामग्री पा सकेंगे, और ग्रामकी सच्ची सुन्दरता बढ़ा सकेंगे। सम्मिलित पूर्ण उद्यम किया जाने पर ही सम्पूर्ण ग्रामके उद्यमको सफलता मिलेगी। ग्रामवासियोंको पहलेसे ही सम्मिलित और पूर्ण उद्योग करनेका अभ्यास बना होने पर ही वे लुटेरोंके आकस्मिक आक्रमणोंका सम्मिलित विरोध कर सकेंगे और ग्राम एक प्रेम सूत्रमें बंधा रह सकेगा। अपने सामाजिक जीवनके आकस्मिक विपत्तियोंसे बच सकने पर ही ग्राम-वासियों-का निःस्वार्थपनका परिपूर्ण और अमृतमय फल चखना मिल सकता है। ऐसा व्यवहार करनेमें ही पड़ौसीके धर्मका पालन होता है। पड़ौसीके धर्मको पालनेसे ही स्वतन्त्र देशोंके निर्माणका रहस्य प्रकट होता है।

अशुद्धिसंशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	२	नामल्लेख	नामोल्लेख
४३	११	चलने से	न चलने से
४७	२८	सबसे नीचेकी पंक्ति	सबसे ऊपर पढ़नी चाहिये
७६	२०	नहीं हो सकता	हो सकता
८८	८	न रहकर	रहकर
११२	२८	डाल देता है।	डाल देता था
१३२	११	पूर्णता	अपूर्णता
१४१	२३	भरमार थी	भरमार न थी
२०९	३	अश्रस्त	अश्रान्त
२६७	७	मनकी प्रतिद्वन्द्विता	मनकी पवित्रता
२६८	२०	स्वास्थ्य	स्वास्थ्यको
२६८	२४	शरीरका	स्वास्थ्यके साथ शरीरका
२६९	२	मानते	सब मानते
२६९	४	काम नहीं	काम है
२७०	२४	वैशारध	वैशारद्य
२७०	२६	धानश्च	धानश्च
२७१	७	मिलती	मिटती
२७१	१०	ठहरता	ही स्वास्थ्य ठहरता
२७१	१०	स्वस्थ	स्वस्थ न
२७२	४	स्वतंत्र	देह स्वतंत्र
२७२	९	उपाय करते हैं। दुश्चिन्ताओं की आंधीमें फंसा हुआ देह देखने में चाहे जितना सुडौल सुन्दर और स्वस्थ प्रतीत होनेपर भी शरीरको सुडौल बनानेका प्रयत्न करते हैं। वे देहको किसी भी दुश्चिन्ता में झोक देते हैं। वास्तवमें	उपाय करते हैं, शरीरको सुडौल बनानेका प्रयत्न करते हैं। वे देहको किसी भी दुश्चिन्तामें झोंक देते हैं। दुश्चिन्ताओंकी आंधीमें फंसा हुआ देह देखने में चाहे जितना सुन्दर और स्वस्थ प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें
२७३	१२	स्वस्थ	अस्वस्थ
२७५	९	तथा	तब
२७६	८	अपना या	अपनाना या
२८१	२२	निष्ठासे	मिषसे

ग्रन्थकारका मुद्रित अनुवाद, व्याख्या तथा स्वतंत्र साहित्य

(सन्तोंके नश्वर देहका अन्त हो जानेपर भी सन्तसमागमका सुख ले सकनेके लिये सद्ग्रन्थोंकी सृष्टि हुई। सद्ग्रन्थ सन्तोंके प्रति निधि होते हैं। निम्न लिखित सब ग्रन्थ भारतीय संस्कृतिके मूलाधार हैं, इनमें प्रत्येक लेखकने अपने अनुभवमें आये हुए सत्यको मूर्त रूप दिया है। इनके स्वाध्यायसे पाठकोंको सन्तसमागमका आन्द प्राप्त होगा।)

(१)—**गीतापरिशीलन**–श्रीमद्भगवद्गीताकी श्लोकानुसार विषयसूची, अध्यायार्थसंग्रह, मूलश्लोक, संस्कृत अन्वय, अर्थ, भाव, ३३ प्रकरणोंवाला परिशिष्ट, शब्दकोष तथा श्लोकसूचीयुक्त विस्तृत भाष्य। इस भाष्यमें सर्वथा नवीनढंग, जीवनमें जागृति उत्पन्न करनेवाले नयेसे नये प्रकार, ईश्वर, मुक्ति, ज्ञान, कर्म, भक्ति आदि विषयोंपर अश्रुतपूर्व विचारोंकी भरमार है। इसपर उत्तर प्रदेशी राजकीय शिक्षाविभागने गत वर्ष लेखकको ६००) से पुरस्कृत तथा इसे राजकीय पुस्तकालयों और पारितोषकोंके लिये स्वीकृत किया है। पृष्ठ सं० ८२६ मूल्य ६ रु० ८ आना।

(२)—**नारद भक्तिसूत्र**–भक्तिको व्यावहारिक ज्ञानके रूपमें दिखानेवाला, अद्वैतनिष्ठा, भक्ति तथा मनुष्यके व्यवहारिक जीवनकी एकता दिखानेवाला, भक्ति विषयपर सर्वथा नवीन शैलीसे विचार करनेवाला भाष्य। मूल्य १॥) ।

(३)—**सिद्धान्तसार**–इसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, वैराग्य, प्रेम, भक्ति, मुक्ति, दान, तप, पाप पुण्य, सम्प्रदाय, गुरु, शिष्य, वेद, शास्त्र आदि ५६ प्रकरणोंमें आर्यविश्वासोंका मूल रूप दिखाया गया है। इसपर उत्तर प्रदेशी राजकीय शिक्षा विभागने लेखकको इसी वर्ष ८००) पुरस्कार दिया है। मूल्य १॥)

(४)—**बोधसार**–मन्त्रयोग, हठयोग आदि समस्त प्राचीन योगोंका वर्णन करते हुए राजयोगके प्रत्येक अङ्गपर धर्मजिज्ञासा, योगदीक्षाचिन्तामणि,

राजयोग, मुनीन्द्रदिनचर्या, कैवल्यकुंचिका, ज्ञानगंगातरंग, ज्ञानिगजगर्जन, उन्मत्तप्रलापशतक, शिवपूजन आदि शीर्षकोंमें अनुभवपूर्ण भाषामें विचार करनेवाला नरहरिस्वामीका 'न बना न बनेगा' जैसा अपूर्व ग्रन्थ । यह ग्रन्थ-संस्कृतमें १५) रुपये को मिलताहै । मूल्य ४॥) अप्राप्य ।

(५)—शतश्लोकी-वेदान्तके गम्भीर मार्गोंको अतिसरल रीतिसे समझानेवाला श्री आद्य शंकराचार्यका प्रसिद्ध ग्रन्थ मूल्य १)

(६)—वाक्यसुधा-वेदान्तकी प्रक्रियासे समाधिकी रीति बतानेवाला भारती तीर्थ मुनिकृत ग्रन्थ ॥।)

(७)—योगतारावलि-राजयोगमें हठयोगका उपयोगी भाग बतानेवाला श्री आद्य शांकराचार्यका ग्रन्थ । यह वाक्यसुधाके साथ संयुक्तहै । मूल्य दोनोंका सम्मिलित ॥।)

(८)—दशश्लोकी-'मैं' की विस्तृत आलोचना मूल्य ।)

(९)—पञ्चदशी-यवनकालमें दक्षिणमें विजयानगरम साम्राज्यके संस्थापक तथा संचालक बुक्कराजाके मन्त्री कुलगुरु तथा सेनानी माधवाचार्य संन्यासाश्रमके विद्यारण्य स्वामीका अद्वैत वेदान्त विषयपर १५ प्रकरणोंवाला अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ । सरल तथा रोचक भाषामें टीका तथा प्रत्येक प्रकरणके संक्षेपके साथ । मूल्य ५)

(१०)—भारतकी अध्यात्ममूलक संस्कृति अर्थात् जाग्रत जीवन—प्रथम भाग इसमें २३ प्रकरणोंद्वारा व्यवहारमें परमार्थको प्रतिष्ठित करनेवाले आर्ष विचारोंका स्वरूप दिखाय गया है कि भारतके ऋषिलोग जीवनको किस दृष्टिसे देखते थे । हाथमें है ।

लेखकका अप्रकाशित वह साहित्य जो योग्य प्रकाशकोंको दिया जा सकता है।

१—**ईश्वर भक्ति**—लगभग ५५ शीर्षकोंमें मनुष्यका ईश्वर और जगत्से संबन्ध और भक्ति करनेकी आवश्यकता आदि रूपोंमें ईश्वर-भक्तिका वास्तविक स्वरूप दिखाया गया है। इसमें ईश्वर-भक्तिका अर्थ मनुष्यकी चिन्तानदीका स्वाभिमुख प्रवाह बताया है। कोई मनुष्य ईश्वरको ढूँढने चलता है वह अन्तमें अपने आपेको ही अन्वेष्टव्य पदपर विराजता पाता है और पूर्ण तृप्त हो जाता है। कोई मनुष्य अपने आपको ढूँढ़ना या जानना प्रारम्भ करता है उसे अपने स्थानपर एक विश्वव्यापी अखण्ड अद्वैत ईश्वर नामक महासत्ता पा जाती है और उसकी ढूँढ़ भी मिट जाती है। ढूँढ का मिट जाना ही आत्मलाभ या ईश्वर प्राप्ति बन जाती है। ईश्वरान्वेषकको आत्मा मिलता है और आत्मान्वेषकको ईश्वर पाता है। ईश्वर प्राप्ति खोये बालकको गोदमें लेकर ढूँढ़ते ढूँढ़ते बालकका ध्यान आ जानेवालेकीसी प्राप्तकी प्राप्तिवाली घटना होती है। ईश्वर मनुष्यका स्वरूप होनेसे उसे सदा ही प्राप्त है। इस ग्रन्थमें इस ईशद्रोही युगमें अनिषेद्धव्य ईश्वरकी मानवीय अनुभवसे स्थापना की गई है।

२—**मनुष्यजीवनका लक्ष्य**—मनुष्यजीवन क्या वस्तु है? क्यों मिला है? संसारागत मनुष्यको क्या करना है? उसे यहाँ आकर क्या पाना है दिखाया गया है। मनुष्यके पास शान्तिकी अनन्त माँग है। उसकी भूलें शान्तिके महाविघ्न हैं। स्वरूपको न पहचानना समस्त भूलोंकी मूल है। स्वरूपको पहचाने बिना कोई भी भूल करनेसे नहीं बच सकता और अभीष्ट शान्ति नहीं पा सकता। स्वरूप परिचय पाते ही मनुष्यकी स्थिति अवाक् शिरसमुत्पादम् की हो जाती है। स्वरूप परिचयसे भूलें छूट जाती हैं और मिली मिलाई अभ्रान्त शान्त स्थिति मानो पुनः मिल जाती है, तब उसका संसार पूरा पूरा परिवर्तित हो जाता है। स्वरूपको पहचाननेपर संसारी तुच्छ पदार्थोंके स्थानपर स्वरूप

ही प्राप्त करने वाले का प्राप्तव्य और लक्ष्य हो जाता है। मनुष्यने अपने अज्ञानसे अपना आपा खो दिया है और अनात्माको अपनालिया है। ज्ञान होनेपर अनात्मा छूट जाता है और आत्मा पा जाता है। यही सब इसमें विस्तारसे विचारा गया है।

३—**आदर्श परिवार**—सन्तान-पालनकी योग्यविधि।

४—**डरें क्यों ?**—निर्भयताका स्वरूप।

५—**सत्य, अहिंसा**—इन दोनों शब्दोंका भारतकी अतीत तथा वर्तमान नीतिसे विशेष सम्बन्ध होनेसे हमारे देशको इनके वास्तविक स्वरूपपर जैसा स्वतन्त्र विचार करना है वह इसमें दिखाया गया है।

६—**शिक्षकोंका मार्गदर्शक**—अर्थात् आदर्श पाठशालाएँ कैसी किस दृष्टिसे परिचालित होनी चाहिएँ आदिका विचार।

७—**ग्रामसुधार**—भारतीय समाजके मूलाधार ग्रामोंको छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रोंका रूप देनेवाले उपाय।

८—**बाल-जागरण**—बालक भावी समाजके बीज और निर्माता हैं। जैसा भविष्य अपेक्षित हो वैसे बालकोंका निर्माण करना चाहिये। जीवनके प्रभातमें बालकोंको दिये विचार उनके जीवनके सच्चे साथी और मार्गदर्शक बन जाते हैं इसलिये जीवनके प्रातःकाल ही बालकोंको संसारका तत्वज्ञान कराना चाहिये। बालमुनि हुए बिना समाजको विचारशील व्यक्ति मिलने असंभव हैं। इस दृष्टिसे बालकोंको बालोचित तत्वज्ञान करानेवाली पुस्तक।

९—**बालोद्बोधन**—भूल करते समय बालकोंको समझाने, उन्हें भूलोंके संबन्धमें सोचना सिखाने तथा भूलोंसे रोकनेवाले विचार।

१०—**स्वतंत्रताके सिद्धांत**—एक-एक पंक्तिवाले सूत्रोंमें।

११—**भावसागर**—शब्दोंके पीछे लगे हुए अनन्त भावों तथा उत्तरदायित्वोंका विवरण करनेवाला एक प्रकारका लघुकोष।

१२—**मुक्तात्माकी मुक्तवाणी**—समय-समयपर उठनेवाले प्रश्नोंके सत्संग-सुखदायी सन्तोचित समाधान।

१३—**गीता गुटका**—गीताके हृदयमें प्रवेशका लघु द्वार।

१४—भक्ति—भक्तिके विमल सिद्धान्त एक-एक पंक्तिवाले सूत्रोंमें ।

१५—जीवनसूत्र—जीवनके सार्वभौम सिद्धान्त एक-एक पंक्तिमें ।

१६—वेदान्तस्तोत्र २४—(१ प्रातः स्मरणम्, २ गुर्वष्टकम्, ३ द्वादशजपंरिका, ४ प्रश्नोत्तरी, ५ चर्पटपंजरिका, ६ प्रश्नोत्तर रत्नमाला, ७ अनात्मश्रीविगर्हणम्, ८ कौपीनपंचकम्, ९ उपदेशपंचकम्, १० षट्पदी स्तोत्रम्, ११ मायापंचकम्, १२ धन्याष्टकम्, १३ मनीषापंचकम्, १४ काशीपंचकम्, १५ आत्मषट्कम्, १६ अद्वैतपंचकम्, १७ निर्वाणमंजरी, १८ विज्ञान नौका, १९ एकश्लोकी, २० निर्गुण मानस पूजा, २१ परापूजा, २२ जीवन्मुक्तानन्द लहरी, २३ दक्षिणामूर्ति स्तोत्रम, २४ हरिमीडे ।

१७—उपदेश साहस्री गद्य—औपनिषद सिद्धान्तोंपर श्रीशंकराचार्यके निबन्ध ।

१८—उपदेश साहस्री गद्य—श्री शंकराचार्यकी लेखनीसे उपनिषदोंका सार ।

१९—सर्ववेदान्त सिद्धान्तसार संग्रह—शांकरग्रन्थ

२०—विवेक चूडामणि—शांकरग्रन्थ

२१—योगदर्शन—अणिमादि सिद्धिसंपन्न श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकी योग सुधाकर नामक वृत्तिके आधारसे योगसूत्रोंकी सरल हिन्दी व्याख्या । इसमें मनुष्यको योगके द्वारा सार्वभौम शक्ति पाने तथा अमर सुख दिलानेवाले योग-रहस्योंको सरल भाषाका रूप दिया है।

२२—माण्डूक्य उपनिषद्—प्रणवकी औपनिषद् व्याख्या ।

२३—माण्डूक्य कारिका—श्री शंकराचार्यके गुरु श्री गौडपादाचार्य कृत ओमकी व्याख्यारूप माण्डूक्य उपनिषदकी श्लोकोंमें व्याख्या । इसमें अद्वैत स्थिति और उसकी प्राप्तिके उपायोंपर प्रकाश डाला गया है ।

२४—पञ्चीकरण—श्री शंकराचार्य कृत परमहंसोंकी समाधि विधि ।

२५—पञ्चीकरण वार्तिक—पंचीकरणपर पूर्वाश्रमके मण्डन मिश्र श्री सुरेश्वराचार्यका व्याख्यात्मक पद्यमय निबन्ध ।

२६—सनत्सुजातसंवाद—श्री विदुरकी मध्यस्थतामें स्वजनविनाशदुःखकातर दुःखलघु करणार्थी इच्छुक धृतराष्ट्रकी श्री सनत्सुजात महर्षिसे तत्वजिज्ञासा और उसका समाधान करनेवाली वार्ता ।

२७—**अध्यात्मपटल**—आपस्तम्बीय धर्मसूत्रोंका एक भाग

२८—**श्रीशंकराचार्यके १४ प्रकरणग्रन्थ**—१ प्रबोध सुधाकर, २ सदाचारानुसन्धान, ३ स्वात्मनिरूपण, ४ स्वात्मप्रकाशिका, ५ लघु वाक्य वृत्ति, ६ अपरोक्षानुभूति, ७ प्रौढानुभूति, ८ आत्मबोध, ९ तत्त्वोपदेश, १० वाक्य वृत्ति, ११ अद्वैतानुभूति, १२ ब्रह्मज्ञानावलीमाला, १३ ब्रह्मानुचिन्तन, १४ आत्मानात्मविवेक।

२९—**ईशावास्योपनिषद**—(व्याख्या हो रही है)

३०—**केनोपनिषद**— ,, ,,

३१—**कठोपनिषद**— ,, ,,

३२—**प्रश्नोपनिषद्**— ,, ,,

३३—**मुण्डकोपनिषद्**— ,, ,,

३४—**तैत्तिरीय**— ,, ,,

३५—**ऐतरेय**— ,, ,,

३६—**नैष्कर्म्य सिद्धि**—सुरेश्वराचार्य कृत।

३७—**समाज धर्म**—समाजके प्रति मनुष्यके कर्तव्य।

३८—**सत्य स्वराज्य**—सत्यका स्वरूप, सत्य तथा स्वराज्यका अभेद, स्वराज्य और अन्न-वस्त्रका प्रश्न, स्वतंत्र परतंत्र देशोंकी तुलना, एक देशपर दूसरे देशके प्रभुत्वका कारण, दासमनोवृत्ति तथा उसके मार्ग ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद आदि।

३९—**निकम्मापन**—बेकारीका स्वरूप।

४०—**लेख संग्रह**—पत्र सम्पादकोंकी माँगपर लिखे गये सामयिक प्रश्नोंके समाधानात्मक लेख।

४१—**त्रिपुरारहस्य**—दत्तात्रेय परशुराम संवाद–अध्यात्म प्राप्ति विषयपर सम्वादात्मक महत्वपूर्ण गूढ चर्चा। सम्पादन हो रहा है।

४२—**विदुरनीति**— सम्पादन हो रहा है।

४३—**वैराग्यशतक**—भर्तृहरि कृत। ,, ,,

४४—**नीतिशतक**— ,, ,, ,, ,,

४५—**चाणक्यनीति**— ,, ,,

४६—चाणक्य अर्थ शास्त्रीय सूत्र—हिन्दी भाषान्तर। ,, ,,
४७—शान्ति शतक श्लोकरत्नमाला—शिल्हणकृत। ,, ,,
४८—वैदिक तत्वज्ञान— ,, ,,
४९—सन्ध्या ,, ,,
५०—सार्वभौम सिद्धान्त—संसारभरको माननीय असाम्प्रदायिक मन्तव्योंका संकलन। ,, ,,

पत्रव्यवहारका पता—

बुद्धिसेवाश्रम
पो॰ रतनगढ़ जि॰ बिजनौर
(उत्तर प्रदेश)

पुस्तक मिलनेके पते—

(१) बुद्धि सेवाश्रम

रतनगढ़, बिजनौर (उ० प्र०)

(२) साहित्यरत्नमाला कार्यालय

२० धर्म कूप, बनारस